प्राचीन भारत की सांग्रामिकता

पं० रामदीन पांडेय, एम्० ए०, साहित्याचार्य

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना—३

प्रथम संस्करण : वैशाख, शकाब्द १८७९ : विक्रमाब्द २०१४, ख्रीष्टाब्द १९५७

मूल्य पाँच रुपये पचास नये पैसे ; सजिल्द छह रुपये पचास नये पैसे

मुद्रक
ज्ञानपीठ (प्राइवेट) लिमिटेड
पटना—४

वक्तव्य

वैदिक युग से ऐतिहासिक काल तक का साहित्य भारतीय युयुत्सुओं की युद्धवीरता के ओजस्वी वर्णनों से भरा-पड़ा है। उन वर्णनों से यह विदित होता है कि भारतीय योद्धा सचमुच युद्ध-विद्या में पारंगत थे। किन्तु, वैदिक युग में हुए इन्द्रादि देवताओं के युद्ध से अथवा देवासुर-संग्राम से प्राचीन भारत की सांग्रामिकता का कोई विशेष संबंध नहीं जान पड़ता। हाँ, यदि हम आर्यों को देवता और म्लेच्छों को असुर मानें तो भारतीय युद्ध की वैज्ञानिकता अत्युच्च कोटि की सिद्ध हो सकती है। परन्तु, वर्त्तमान तार्किक युग का उर्वर मस्तिष्क, देवासुर-संग्राम से राम-रावण-संग्राम तक अमोघ अस्त्रों के प्रयोग और उनके चमत्कारपूर्ण प्रभाव का वर्णन पढ़कर, सहसा उसपर विश्वास नहीं करता ! आज तो प्राचीन भारत के क्षत्रिय नरेशों की दिग्विजय-कथाएँ भी कल्पित कही जाती हैं ! हमारे साहित्य के विराट् वर्णन आज के दिमागों में अँटते ही नहीं !

राम-रावण युद्ध में भी केवल वानरी सेना के युद्ध-कौशल से ही भारत का संबंध है, लंका की रणसज्जा से भारत की महत्ता नहीं बढ़ती—यद्यपि रावण भारतीय महर्षि का ही वंशधर था और भारतीय देवता की आराधना से ही उसने बल-वैभव पाया था। राम-रावण-युद्ध के विषय में हनुमन्नाटक का एक श्लोक है—

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥

यद्यपि राम-रावण-युद्ध सर्वथा अतुलनीय माना गया है, तथापि उसे आर्य-अनार्य-संघर्ष माननेवालों का कथन है कि रावण-पक्ष में जैसा सैन्य-संघटन था वैसा राम-पक्ष में नहीं—आर्यपक्ष की वानरी सेना अव्यवस्थित थी, इसलिए वह हूह-भरी लड़ाई थी।

किन्तु, श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राम-लक्ष्मण का रण-कौशल और वानरी सेना का बल-विक्रम तो विपक्षियों से किसी तरह कम था ही नहीं, वानर-यूथपति भी व्यूह-निर्माण की कला में दक्ष थे। उनलोगों ने सेतु-रचना में तो सैनिक चातुरी दिखाई ही थी, लंका के चतुर्दिक् सैन्यदल-संस्थापन द्वारा जो नाकाबंदी की थी, वह भी उनलोगों के युद्ध-कला-विशारद होने का पुष्ट प्रमाण है। रावण के शुक, सारण, शार्दूल आदि गुप्तचरों ने वानरी सेना के संगठन का जो वर्णन किया है, वह भी प्राचीन भारत की सेना के युद्ध-योजना में प्रवीण होने का साक्षी है।

आदिकाव्य रामायण के बाद पौराणिक युग में तो भारतीयों की रणकुशलता के अनेक प्रमाण मिलते हैं। रणवाद्यों और शस्त्रास्त्रों के नाम, रथों के आकार-प्रकार, महारथियों की ध्वजा के चिह्न, व्यूहों के नाम और उनके निर्माण की विधि, युद्ध की वेश-भूषा, युद्धक्षेत्र के नीति-नियम, चतुरंगिणी सेना की संख्या और बनावट, शिविर-संघटन-प्रणाली, दूतों और जासूसों की निपुणता, दुर्ग-निर्माण-कला, खड्गयुद्ध, गदायुद्ध, मल्लयुद्ध आदि के अतिरिक्त जलयुद्ध और आकाश-युद्ध के वर्णन एवं दृश्य भी हमारे पौराणिक युग के साहित्य में दर्शनीय हैं।

महाभारत पढ़ने से तो दृढ़ विश्वास हो जाता है कि महाभारत-काल में भारतीयों की युद्ध-कला-कुशलता पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी। आजकल के वैज्ञानिक आविष्कारों ने युद्ध के जैसे प्रलयंकर साधन उपस्थित कर दिये हैं वैसे ही साधनों के वर्णन हमारे प्राचीन साहित्य में भी पाये जाते हैं। यदि कोई इन सारी सामग्रियों का संग्रह करके उसे प्रकाशित करे तो एक बड़ा भारी स्वतंत्र ग्रंथ तैयार हो सकता है। इस काम के लिए अनुसन्धायकों को इस पुस्तक से प्रेरणा लेनी चाहिए।

वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ विशेषज्ञ डॉक्टर दामोदर सातवलेकर ने वाल्मीकीय रामायण की अपनी टीका में, और स्वनामधन्य इतिहासज्ञ श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपनी 'महाभारतमीमांसा' पुस्तक में, प्राचीन भारत के युद्ध-संबंधी अनेक अद्भुत आग्नेय अस्त्रों और उनकी लोकसंहारलीला तथा युद्ध-कौशल-सूचक बहुतेरे महत्त्वपूर्ण विषयों का जो विशद वर्णन किया है उसे आधुनिक विज्ञान के हिमायतियों को ठंढे दिल-दिमाग से अवश्य पढ़ना चाहिए। इस पुस्तक के पढ़ने से भी ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय में आगे और भी अन्वेषण करने की आवश्यकता है। आशा है कि यह पुस्तक अनुसंधानशील पाठकों के हृदय में इस विषय की जिज्ञासा जगावेगी, जिसका परिणाम हिंदी-साहित्य के लिए हितकर और लाभप्रद होगा।

प्रस्तुत पुस्तक के मननशील लेखक, हिंदी के वयोवृद्ध साहित्यसेवी, पंडित रामदीन पांडेय (एम्० ए०, बी-एड्, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न) बिहार-राज्यान्तर्गत छोटानागपुर-प्रदेश के पलामू-जिले के निवासी हैं। आप मुजफ्फरपुर के लंगटसिंह कालेज में हिंदी-विभाग के प्रधान आचार्य थे। वहाँ से अवकाश-ग्रहण करने पर आप एक वर्ष देवघर-वैद्यनाथधाम के हिंदी-विद्यापीठ के आचार्य रहे। इस समय आप अपने जिले के प्रधान नगर डालटनगंज में एकान्तवास कर रहे हैं। स्कूल-कालेज की परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर सन् १९२५ ई० में आप हिंदी के प्राध्यापक नियुक्त हुए। आपकी प्रकाशित रचनाओं में सौन्दरनन्द काव्य, जानकीहरण (संस्कृत से अनुवाद); विद्यार्थी, चलती पिटारी (उपन्यास); ज्योत्स्ना, जीवन-ज्योति, जीवन-कण (नाटक); काव्य की उपेक्षिता 'यशोधरा' (आलोचना) आदि उल्लेखनीय हैं। आपकी कहानियों और आपके निबंधों के संग्रह अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं! 'हिंदी-साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास' भी अद्यावधि अप्रकाशित है! आप भारतीय सभ्यता-संस्कृति के अनन्य उपासक, स्वाध्याय-परायण और सदाचारी विद्वान् हैं। परमात्मा से हमारी प्रार्थना और कामना है कि आगामी संस्करण में इस पुस्तक के आकार को द्विगुणित करने की आपकी इच्छा पूरी हो।

ज्येष्ठ, १८७९ शकाब्द; २०१४ विक्रमाब्द
मई, १९५७ ई०

शिवपूजन सहाय
(संचालक)



माननीय डाक्टर सम्पूर्णानन्दजी
(मुख्य मंत्री—उत्तर प्रदेश)

समर्पण

पुरातन भारतीय वाङ्मय के अनन्य उपासक तथा
भारतीय संस्कृति और पुरातत्त्व के अनन्य
अनुरागी आचार्य संपूर्णानन्द
के
कर कमलों में—

विनीत
रामदीन पाण्डेय

मेरी दो बातें

आज से बीस वर्ष पूर्व मैंने भारतीय वाङ्मय के प्राचीन ग्रंथ रामायण-महाभारत का अध्ययन संस्कृत-विद्यार्थी के रूप में शुरू किया। कुछ अंश पढ़ने पर पुरातन भारतीय सांग्रामिकता के संबंध में सामग्री प्रस्तुत करने की भावना हृदय में सजग हुई। उपर्युक्त ग्रंथों के अध्ययन के पश्चात् पाँच-सात पुराणों को भी पढ़ा। इन पुराणों के बीच कालिका, देवी, विष्णुधर्मोत्तर, भागवत, अग्नि, स्कन्दादि में प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई। शोध की पुस्तक-रचना की भावना से प्रेरित होकर मैंने ऋग्वेद, अथर्ववेद, कल्प तथा सूत्र-ग्रंथों में भी वस्तु-तत्त्व की खोज की। अधिक परिश्रम करने पर भी सामग्री अल्प परिमाण में ही मिली।

सन् १९३७ ईसवी में Extra-Mural Lecture प्रदान करने का कार्य-क्रम मुजफ्फरपुर के 'जी० बी० बी० कालेज' में स्थिर हुआ। मुझे भी किसी विषय पर व्याख्यान देने का आदेश हुआ। मैंने तत्कालीन प्रिंसिपल 'बथेजा' के सभानेतृत्व में पुरातन भारतीय सैनिक-शिक्षा-प्रणाली पर एक लिखित व्याख्यान दिया। कालेज के प्रिंसिपल, प्रोफेसरों तथा छात्रों को मेरा व्याख्यान पसंद आया। इस भाषण का संक्षिप्त विवरण 'अमृत-बाजार-पत्रिका' (कलकत्ता) में प्रकाशित हुआ। इस संक्षिप्त विवरण ने भारत के दो विद्वानों—श्री राधाकुमुद मुखर्जी तथा स्वर्गीय श्री सच्चिदानद सिंह—का ध्यान आकृष्ट किया। स्व० श्रीसच्चिदानंद सिंह ने अपने २२-४-१९३७ ई० के एक पत्र में हमारे कालेज के अधिकारी को लिखा था। उस पत्र का कुछ अंश इस प्रकार है—

"Dr. Radha-Kumud Mukherji, who is a great friend of mine, is staying with me. He has drawn my attention to a report in the Amrit Bazar Patrika of the 13th April, 1937 of a lecture on 'Military Education in Ancient India,' which is a Summary of a paper read by Prof. Ramdin Pandey of your College. I shall be grateful to you if you could kindly get the learned Professor to send me a typed copy of his address for publication in the Hindustan Review, which I edit, and also a copy of it to Dr. Radha Kumud Mukherji to his Calcutta address. Prof. Mukherji tells me that he is interested in the subject-matter of Prof. Ramdin Panday's paper."

मैंने दोनों विद्वानों के पास अपने व्याख्यान की एक-एक प्रति भेज दी थी। उनसे यह प्रार्थना की थी कि मेरा निबंध प्रकाशित न किया जाय, कारण मैंने डॉक्टरेट के लिए इसे सुरक्षित करना चाहा था।

उपर्युक्त विद्वानों का प्रोत्साहन पा मैंने इस ओर अपना अध्ययन जारी रखा। प्रायः सभी ज्ञात सूत्र-ग्रंथों को छान डाला। राजतरंगिणी, काव्यमीमांसा, मनु-याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ कामन्दकीयशुक्र के नीति-ग्रंथों, कौटिल्यादि के अर्थशास्त्र के पृष्ठों को उलटा तथा शिला-लेख और प्राचीन सिक्कों पर भी दृष्टि दौड़ाई। मोहनजोदाड़ो पर प्रकाशित मार्शल का भी ग्रंथ पढ़ा, चीन तथा ग्रीक यात्रियों के वृत्तान्तों से भी लाभ उठाया। कनिंगहम के प्राचीन भारतीय भूगोल तथा श्री जयचन्द्रजी के भूगोल को भी देखा। प्राचीन पश्चिमी इतिहासों से भी कुछ सामग्री ली। 'Beal's History of the Western World' के पन्ने भी छान डाले।

समय-समय पर अँगरेजी में भारतीय झंडे, भारतीय वेश-भूषा, भारतीय युद्ध-धर्म तथा मोर्चेबंदी की दृष्टि से भारत-भूमि पर मेरे व्याख्यान हुए। व्याख्यान के अवसरों पर मुजफ्फरपुर के प्रायः सभी साहित्यिक पधारते थे। इन विषयों के संक्षिप्त विवरण पत्रों में पढ़कर नाभा-अनुसंधान-संस्था (लाहौर) ने कई बार मेरे लेखों को प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की। हिन्दुस्तानी-अकादमी (प्रयाग) ने भी इन लेखों के प्रकाशन के संबंध में मुझे लिखा था। किन्तु, समयाभाव के कारण मैं हिंदी में अपने लेखों को प्रस्तुत न कर सका।

श्री शिवपूजनजी एक बार जी० बी० बी० कालेज की हिन्दी-परिषद् के वार्षिकोत्सव पर मुजफ्फरपुर पधारे। उन्होंने मेरी खोजो के कुछ अंश देखे और इनकी माँग की; फिर भी गृह-कार्यों में संसक्त रहने के कारण मैं इन लेखों को प्रकाशन-योग्य नहीं तैयार कर सका।

येन-केन-प्रकारेण मैं अपने लेखों को आज बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की सेवा में प्रकाशनार्थ भेज रहा हूँ। सभी लेख भारतीय सांग्रामिकता के परिचायक हैं। अतः पुस्तक का नाम 'प्राचीन भारत की सांग्रामिकता' रखा है। विषय गंभीर, जटिल और अगाध है। मेरे सदृश अल्पज्ञ कहाँ तक विषय के प्रतिपादन में सफलप्रयास हुआ है, इसे सहृदय विद्वन्मंडली ही निर्णीत कर सकेगी।

ये सभी पुरातन विषय चित्रों की अपेक्षा करते हैं। पर कालेज से अवकाश प्राप्त करने के कारण मैं प्रतिकूल परिस्थिति में पड़ गया हूँ। अनुकूल चित्रों की सम्यक् व्यवस्था नहीं कर सकता। कुछ झंडों के चित्रों का ढाँचा मेरे एक विद्यार्थी ने तैयार कर दिया था। वे ही इन लेखों के साथ जा रहे हैं। पर सैनिक वेशभूषा, महाजनपद के नगर-निर्माण, प्राचीन भारतीय ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ब्रह्मचारियों के परिच्छद, पुरातन भारत का मानचित्र, पुरातन भारतीय यातायात के पथ आदि सभी चित्रों की अपेक्षा करते हैं। हस्ति-युद्ध, पदाति-युद्ध, अश्व-युद्ध, रथ-युद्ध, व्यूह-रचनाएँ, प्राचीन दुर्ग प्रभृति चित्रों से ही अधिक बोधगम्य हो सकते थे। पर मेरी असमर्थ स्थिति मेरी इच्छाओं की पूर्त्ति में बाधक प्रमाणित हुई। जिन सूत्रों से मैंने सामग्री जुटाई है, सब के प्रति अंत में अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

डालटनगंज (पलामू) } रामदीन पांडेय
१४-७-५३

विषयानुक्रम

चित्र-सूची

प्राचीन भारत की सांग्रामिकता

पहला परिच्छेद

शांति-विग्रह का प्रतीक पुरातन भारतीय झंडा

(१) *मानव-हृदय में झंडे की भावना का उद्रेक*—जबतक मनुष्य नितांत बर्बर था, अपने लिए ही वह जीता था; स्वार्थपरता का प्रतिरूप था। उसकी आवश्यकताएँ सीमित और अतिन्यून थीं। समय की प्रगति के साथ उसके जीवन में भयावह परिवर्त्तन हुए। प्रस्तरों की चट्टानों पर अँगड़ाइयाँ लेनेवाला, गिरिगह्वर में रहनेवाला, नील नभ के असीम वितान के नीचे मूक प्रसन्नता अनुभूत करनेवाला मानव आतप-शीत से अपने अंगों की संरक्षा के लिए झोपड़ों में रहने लगा। कोमलता तथा मधुरता की प्रतीक नारी के संपर्क से वह बाल-बच्चों का अधिपति बन बैठा और कालान्तर में गरोह-जीवन व्यतीत करने लगा। झंडे की भावना संभवतः उसके हृदय में उस समय सजग हुई होगी, जिस समय वह अनेक समुदायों में विभक्त होकर जीवन-यापन में संसक्त होगा और अपने-अपने गरोह की कल्याण-कामना की भावनाएँ उसके हृदय में हिलकोरें मारती होंगी।

छोटानागपुर के उराँव और मुंडे आज भी अधिक संख्या में असभ्य हैं। झोपड़ों में रहते हैं। भगोवा पहनते हैं। अधिक आखेट पसंद करते हैं। सिर में लोहे के बने साँप बाँधते हैं। भगोवा के पीछे दुम-सा एक पतला कपड़ा लटकाये रहते हैं। संताल परगने के सौंताल, राजपुताने के भील तथा सरगुजा के कोरवा भी प्रायः इसी प्रकार के जीवन व्यतीत करते हैं। ये सभी दलों में बँटे रहते हैं। प्रत्येक दल का अपना झंडा होता है। उत्सव के अवसरों पर या ऋतु-परिवर्तन के समय वे झंडों का प्रयोग करते हैं। इन्हें बड़ी श्रद्धा और सभय-सत्कार की दृष्टि से देखते हैं। प्रत्येक गरोह के झंडे का रंग अलग-अलग होता है। प्रत्येक जत्था अपने झंडे के नीचे नाचता, गाता और उछलता है। उनके झंडों की रक्षा वीर और अनुभवी नौजवान करते हैं। कोई भी अपने झंडे का अपमान न देख सकता है और न सह सकता है।

मेरी दृष्टि में मनुष्य के मस्तिष्क में झंडे की भावना को उद्बुद्ध करने का सारा श्रेय मानव-गरोह की लड़ने तथा संरक्षा करनेवाली मनोवृत्ति का है (Aggressive instinct)। झंडा संग्राम और शांति का संसूचक संकेत है।

सामूहिक अभ्युदय पर दृष्टि रख जब मनुष्यों का एक गरोह अपने कल्याण की बात सोचने लगा और अपने गरोह की हस्ती कायम रखने के लिए और उसके विस्तार की कामना से दूसरे गरोह पर हमला कर उसे अपने वश में करने की बात उसके हृदय में दृढ़ हो गई होगी, उसी समय उसे एक ऐसी वस्तु की आवश्यकता जान पड़ी, जिसके नीचे वह

अपने जत्थे के साथ चल सकता और लड़-भिड़ सकता। वही वस्तु झंडा थी। झंडा गरोह के विचारों और उसकी कामनाओं का संकेतात्मक चिह्न है। प्रत्येक सांग्रामिक क्षेत्र में, जहाँ संगठन और अनुशासन की अपेक्षा है, झंडे-सी वस्तु की नितांत आवश्यकता होती है। झंडे से शिविर का पता चलता है। सैनिकों की श्रेणी या पंक्ति ठीक की जाती है। कूच करने और लड़ने के समय यह संबल का काम करता है और आत्मिक शक्ति को प्रेरित करता है। हर एक जत्थे की पहचान झंडे से होती है। शांति और समृद्धि के समय भी मानव-गरोह झंडे के नीचे एकचित्त होकर अपने कल्याण की बात सोचते हैं और अपने सांग्रामिक कौशल का प्रदर्शन करते हैं।

अतः मानव-समाज के विकास की आवश्यकताएँ झंडे के विकास के निदान कारण हैं, एवं झंडे के अस्तित्व और विकास मानव-गरोह की हस्ती तथा समृद्धि से जुटे हुए हैं। ऐसे भारतीय झंडे के विकास का क्रमबद्ध इतिहास अल्प मनोरंजक प्रतीत न होगा।

(२) *पताका-निर्माण की प्रेरक वस्तुओं की परीक्षा*—साहित्यिक दृष्टि से भारतीय इतिहास का श्रीगणेश ऋग्वैदिक काल से होता है; ऋग्वेद में भारतीय ज्ञान-विज्ञान का अंकुर है। भारतीय सभ्यता, संस्कृति, आचार-विचार, युद्ध-कौशल प्रभृति की पहली तस्वीर विश्व की इसी प्राचीनतम रचना में मिलती है। ऋग्वैदिक आर्य गरोहों में रहते थे। उन्हें आर्येतर जातियों से सदा भिड़ना पड़ता था। अतः इस दिव्य ग्रंथ में युद्ध और ध्वजा दोनों का उल्लेख मिलता है। पर, सबसे पहला प्रश्न जो झंडे के संबंध में उठता है, वह यह कि किस वस्तु का प्रयोग सर्वप्रथम झंडे के रूप में किया गया होगा। अभी तक इस दिशा में जो अनुसंधान हुआ है, वह नहीं के बराबर है। इसलिए इस प्रश्न के समाधान की जिम्मेवारी मेरी अपनी है और आशा करता हूँ कि कालान्तर में योग्य विद्वानों के परामर्श से मुझे अपने विचारों को परिवर्तित करने में संकोच न होगा।

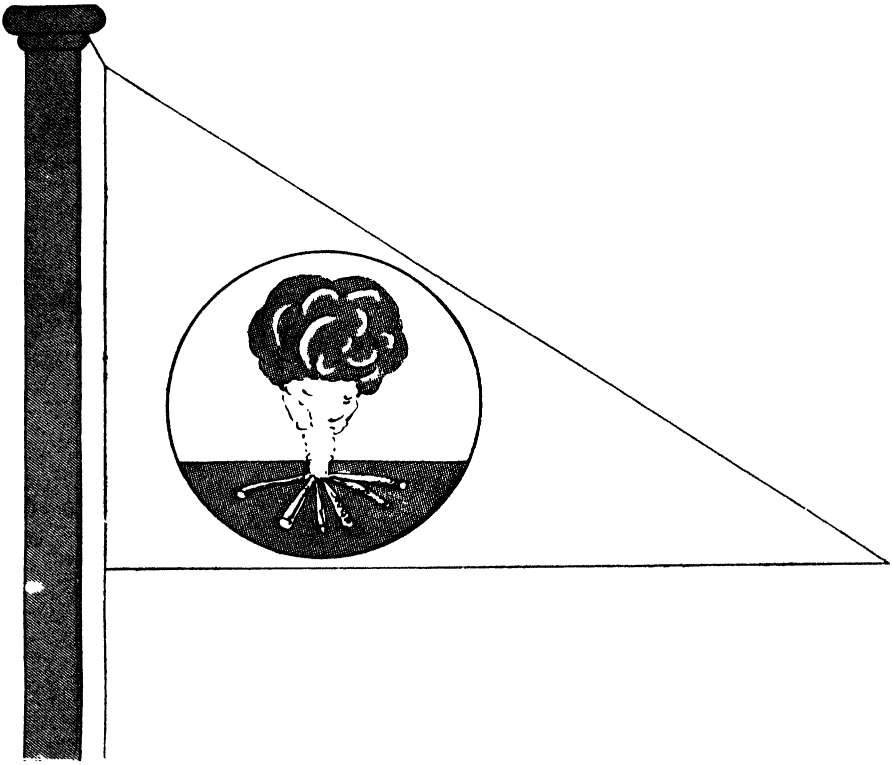
प्राचीन आर्यों के लिए तालवृक्ष बड़ा आकर्षण रखता था। इसके सीधे कांड, लटकते हुए पत्ते, विशाल आकार—सभी चित्ताकर्षक हैं। प्रियदर्शी अशोक को, प्रस्तर-स्तंभों पर, बौद्धधर्म के सिद्धांतों को खुदवाने की प्ररणा ताल के प्रशस्त धड़ ने ही प्रदान की। अशोक के पत्थर के खंभे ठीक तालवृक्ष के धड़ की शक्ल के होते हैं। पटना में तालवृक्षों का बाहुल्य है। इसलिए प्रियदर्शी को प्रेरणा यदि इस दिशा में तालवृक्षों से मिली होगी, तो आश्चर्य की कोई गुंजाइश नहीं। मेरे विचार से आर्यों के मन में पताका और उसके दंड की भावना तालवृक्ष के धड़ और उसके पत्तों को देख कर ही उत्पन्न हुई होगी।

(क) वाचस्पत्य संस्कृत-कोष में तालवृक्ष के लिए ध्वजद्रुम-शब्द प्रयुक्त हुआ है। ध्वजद्रुम का अर्थ झंडे का पेड़ है। कदाचित् ही भारत में किसी पेड़ को यह संज्ञा उपलब्ध हुई हो।

(ख) महाभारत आर्यों का प्राचीन धर्म-ग्रंथ है। भीष्म पितामह उसके उत्कृष्ट पात्र और महाभारत के सुप्रसिद्ध योद्धा हैं। वह ताल-ध्वज प्रयुक्त करते थे।

यस्तु श्वेतावदातेन पंचतालेन केतुना।
वैडूर्यमयदण्डेन तालवृक्षेण राजते॥ —महा० विराट् पर्व, ५६।२५

(ग) बलराम श्रीकृष्ण के भाई थे। यह भी तालध्वज का व्यवहार करते थे। (महा० शल्य पर्व, ३४।२)



स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चंद्रः धिये वाजाय हिन्वतु।
—ऋग् मं० १, सू० २७, मं २

(घ) अग्निपुराण, युक्तिकल्पतरु, कालिकापुराण आदि ग्रंथों में यह लिखा मिलता है कि ध्वजदंड तालवृक्ष के बनते थे।

(ङ) मध्यकाल में बरछा या भाला युद्ध के काम में आता था। यह ठीक तालध्वज की आकृति का था। इसकी मूठ तालध्वज-दण्ड का अनुकरण करती थी और धार केतन का।

(च) इंगलैंड के प्लाँटाजिनेट राजकुल में प्लाटाजेनिस्टा पेड़ झंडे के रूप में प्रयुक्त होता था।

(छ) हमारे देश में कोविदार, नीम, बेल, पलाश, बाँस आदि वृक्षों के भी पताका-दंड बनते थे। इसकी चर्चा सप्रमाण अन्यत्र होगी।

उपर्युक्त उद्धरणों से इस बात की पुष्टि होती है कि मानव-जाति को पताका और उसके दंड का ज्ञान वृक्षों से ही प्राप्त हुआ था।

(३) सैन्य, शिविर, रण-यात्रा, अभियान, रणक्षेत्रादि में तथा राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक उत्सवों के अवसरों पर झंडे के प्रयोग के प्रमाण—

(१) **वैदिकसाक्ष्य—**(क) ऋग्वैदिक काल में झंडे का प्रयोग इतना व्यापक था कि यह रूपक और विशेषण के रूप में व्यवहृत होन लगा था। अग्नि के लिए धूमकेतु-शब्द प्रचलित हो गया था—लाल सतह पर स्थित काले रंग का झंडा।

"स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः धिये वाजाय हिन्वतु।"—ऋ० १। २७। ११

(ख) इस युग में जनध्वजा (Tribal flag) का प्रचलन था।

"स रेवां इव विश्पति दैव्यः केतु शृणोतु नः। उक्कैरग्निर्बृहद्भानुः।"—ऋग्० १।२७।१२

(ग) झंडे के लिए द्रप्स-शब्द भी ऋग्वेद के मंत्रों में प्रयुक्त हुआ है। यह जेंद (Zend) के द्रप्स का पर्यायवाची है।

"उर्ध्वं भानुं सविता देवो अश्रैद्द्रप्सं
दविध्वद् गविषो न स सत्वा।"—ऋ० ४। १३। २

(घ) अडाल्फ केजी (Adolf kaegi) अपने ग्रंथ 'ऋग्वेद' में इस प्रकार लिखते हैं—"आर्यों की सीमाओं पर जब शत्रु की सेना चढ़ आती थी, तब मिट्टी के टीले तैयार किये जाते थे और शहतीरों की मोर्चेबंदी खड़ी की जाती थी। आर्य-सेना सांग्रामिक गीत गाती हुई, झंडे फहराती हुई, जुझाऊ बाजे के साथ शत्रु का सामना करती थी।"

(२) **महाकाव्य-साक्ष्य—**(क) वाल्मीकि-रामायण में भी झंडे का वर्णन शहर, शिविर, सरिता, रण-यात्रा तथा रणक्षेत्र के संबंध में मिलता है। अयोध्या के महलों पर झंडे लहराते रहते थे।

"सूतमागधसंबन्धां श्रीमतीमतुलप्रभाम्।
उच्चाट्टाल ध्वजावती शतघ्नीशतसंकुलाम्॥"—रामा० अयो० ५। ११

(ख) सेना में इसका प्रयोग अनिवार्य था।

ततस्तद्राकासं सैन्यं घोरचर्मायुधध्वजम् ।
निर्जगाम जनस्थानान्महानादं महाजवम् ।।—रा० अरण्य०

(ग) अभियान के समय झंडे का प्रयोग—(रा० अयो० ९६ । ७)

एष वै सुमहाञ्छ्रीमान् विटपी संप्रकाशते ।
विराजते महासैन्ये कोविदारध्वजो रथे ।।

(घ) सैनिकों की अन्त्येष्टि-क्रिया के अवसर पर झंडे का प्रयोग—

पताकाभिश्च चित्राभिः सुमनोभिश्च चित्रिताम् ।
उत्क्षिप्य, शिविकां तां तु विभीषणपुरोगमाः ।। —रा० लं० ६ । ११३

(ङ) निषादराज के जलपोतों पर स्वस्तिक ध्वजा का फहराना—

अन्याः स्वस्तिकविज्ञेया महाघंटाधराधराः ।
शोभमानाः पताकिन्यो युक्तवाहाः सुसंहताः ।। —रा० अयो० ८९ । १

महाभारत-साक्ष्य—महाभारत में ध्वजाओं का पूरा विवरण दृष्टिगोचर होता है। इस युग में भिन्न-भिन्न आकार, रंग तथा योजना के झंडे व्यवहृत होते थे। विख्यात योद्धाओं के झंडे अलग होते थे और राजाओं के अलग। प्रत्येक रथी, महारथी और अतिरथी के झंडों के नीचे उनकी अधीनस्थ सेनाएँ काम करती थीं।

(क) धनुर्धर अर्जुन की ध्वजा पर हनुमान का चित्र खचित था। सिंह की पूँछ भी उसमें चित्रित रहती थी। —महा० द्रो० १०५ । ८ ।

(ख) कौरवों के पुरोहित कृपाचार्य की ध्वजा पर पूरे साँढ़ की छवि रहती थी। —महा० द्रो० । १०५ ।

(ग) मद्रराज शल्य की ध्वजा पर हल बना हुआ था। —महा० द्रो० । १०५ ।

(घ) अंगराज वृषसेन आधुनिक भागलपुर का राजा था। उसकी ध्वजा पर मोर चित्रित था।

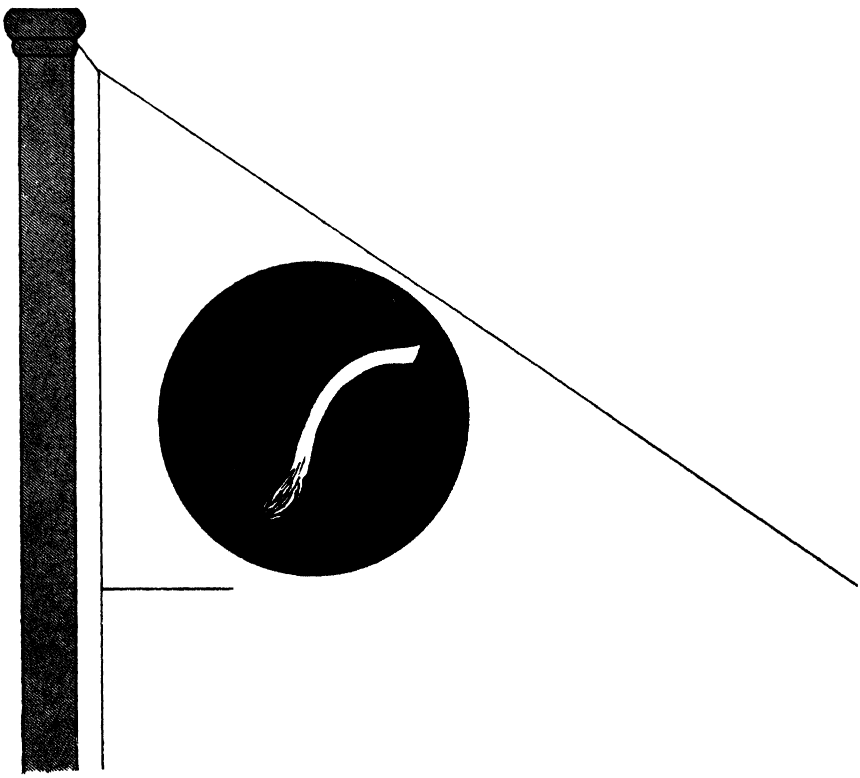
(ङ) सिन्धुराज जयद्रथ अपने झंडे पर वराह की छवि रखते थे।—महा० द्रो० । १०५ ।

(च) कुरुपति दुर्योधन के झंडे पर रत्नों का बना हाथी रहता था। उसमें अनेक घंटियाँ संयुक्त रहती थीं। इस प्रकार का झंडा जयंती कहलाता था।—महा० द्रो० ।१०५।

(छ) गुरुवर द्रोण की ध्वजा पर सौवर्ण वेदी विराजती थी और घटोत्कच के झंडे पर गीध। —महा० द्रो० । १०५ ।

पौराणिक-साक्ष्य—पुराणों में भी ध्वजाओं का प्रचुर परिमाण में उल्लेख हुआ है—

(१) वामन-पुराण में सेनापति के झंडे का विवरण दिया गया है। उसके झंडे के नीचे सभी सैनिक रहते थे और छोटे आकार के वे ही झंडे सभी सैनिक लिये फिरते थे। उदाहरण के लिए ११ रुद्रों को लीजिए। ये वृषभकेतन—बैल की छविवाला झंडा—प्रयुक्त करते थे। —वामन पु० अ० ४ । ४८ ।



तथैव सिंहलाङ्गूलं द्रोणपुत्रस्य भारत

—महाभारत, द्रोणपर्व

(२) देवी-भागवत में एक ऐसी ध्वजा का विवरण है, जिसे एक योद्धा ने काट गिराया था।

"हत्वा सारथिमेकेन ध्वजमेकेन चिच्छदे।"

एक वाण से सारथि को मार कर दूसरे वाण से ध्वजा को छिन्न-भिन्न कर दिया।

(३) विष्णुपुराण में दण्ड से केतन का पतन स्वामी के अनिष्ट का द्योतक बताया गया है। —(विष्णु पु०, भा० ५, अ० ३३। ३)

(४) विष्णु-धर्मोत्तर-पुराण में एक योद्धा के हाथों से रणभूमि में दूसरे योद्धा के झंडे का ले लेना बड़ी बहादुरी का काम समझा गया है। —(विष्णुधर्मो पु०, अ० ४६। १२)

(५) वामनपुराण में एक ऐसे वीर का वर्णन है, जो दूसरे वीर सैनिकों से अपनी कलश-ध्वजा के कारण पहचाना जाता था। —वामन पु०, अ० ५८। ३५।

महाभारत के कृष्ण और कुन्ती-पुत्र अर्जुन की पहचान भी दूर से ही गरुड़ध्वज और वानरकेतन के सहारे हो जाती थी। कृष्ण गरुड़ध्वज स्वयं कहलाते थे और अर्जुन कपिध्वज।

शिलालेख-साक्ष्य—(१) फ्लीट (Fleet) साहब के गुप्त शिलालेख खंड २, प्लेट-संख्या १ की चौबीसवीं पंक्ति में गरुड़ध्वज का उल्लेख प्रयागस्तंभ पर उत्कीर्ण है।

(२) मंदसोर (Mandasor) प्रस्तरलेख की पंचम पंक्ति नगरों पर लहराते झंडों का उल्लेख करती है। कुमारगुप्त तथा वंधुवर्मा के समय का यह शिलालेख है (४७३-७४ ईसवी सन् या ५२६ मालव संवत्)।

(३) ६७२ ईसवी सन् के गुप्तकालीन शिलालेख प्लेट-संख्या २८ की अठारहवीं पंक्ति में रेशमी झंडे का विवरण है। आदित्यसेन ने अफसद (Aphsad) प्रस्तर-खंड पर इसे उत्कीर्ण कराया था।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र का साक्ष्य—कौटिल्य-अर्थशास्त्र में ध्वजाओं का प्रायः अल्प वर्णन मिलता है। ग्रंथ के तीसरे खंड के तीसरे अध्याय की धारा-संख्या ४०० गुप्तचरों का विवरण उपस्थित करती है। ये गुप्तचर देवताओं के चित्र और ध्वज लिये फिरते थे।

राजतरङ्गिणी का साक्ष्य—कवि 'कल्हण' ने ध्वजाओं का वर्णन विस्तार-पूर्वक अपने काव्य में किया है। ये झंडे युद्धक्षेत्र, शिविर और रणयात्रा में प्रयुक्त होते थे। प्रासादों पर भी फहराये जाते थे। इस युग में पारध्वज का व्यवहार होता था। इसके केतन पर राक्षस का सिर बना हुआ था। —(राजतरंगिणी, तरंग ३-७७)

उपर्युक्त उद्धरणों से पता चलता है कि झंडे का प्रयोग सैन्य, शिविर और अभियान में अनिवार्य था। शांति के अवसरों पर भी झंडे प्रासादों, नगरों और मोर्चेबंदी की जगहों पर फहराये जाते थे। सेनापति और उनके अनुयायी भी इसे व्यवहार में लाते थे। धार्मिक क्षेत्रों में भी झंडे का व्यवहार अधिक होता था।

पुरातन भारत धार्मिक तथा लड़ने-भिड़ने में निष्णात था। इस देश में भिन्न-भिन्न संप्रदाय प्रचलित थे—यथा वैष्णव, शैव और शाक्त। वैष्णव ऐसे झंडे का प्रयोग करते थे जिनपर गरुड़ पक्षी अंकित रहता था। शैव वृषभध्वज और शाक्त सिंहध्वज का प्रयोग करते

थे। ब्राह्मण धर्मवाले कमण्डलु या वैदिक वेदी से चिह्नित ध्वज व्यवहृत करते थे। जो राजा जिस संप्रदाय का अनुयायी होता था, उसी संप्रदाय की ध्वजा को काम में लाता था।

विख्यात योद्धा तथा सामंत ध्वजा के व्यवहार में स्वतंत्र थे। उदाहरण के लिए द्रोणाचार्य को लीजिए। वह अपने झंडे पर वेदी या कमण्डलु रखते थे। गुप्तवंशीय सम्राट् ब्राह्मण धर्म के पक्षपाती होने के कारण गरुड़ध्वज व्यवहार में लाते थे। महाकाव्य-युग में साम्प्रदायिकता का प्रायः अभाव था। इस कारण इक्ष्वाकु-वंशीय राजा कोविदारध्वज का प्रयोग करते थे और महाभारतीय वीर भिन्न-भिन्न झंडों का।

महाभारत-युग में सम्राट् 'जयन्ती' पताका का व्यवहार करते थे। वैदिककाल में संभवतः धूमकेतु ही प्रयोग में आता होगा। ऋग्वेद का प्रथम सूक्त अग्नि-संबंधी है। प्रथम नव मंत्र अग्नि के प्रति ही प्रार्थना-रूप रचे गये थे। आर्यों के प्रत्येक पुण्य-यज्ञ में सर्वप्रथम अग्नि की ही पूजा होती थी। अतः धूमकेतु ही वैदिक झंडा रहा होगा।

झंडे की बनावट और उनके रूप-रंग चाहे जिस प्रकार के हों, वे एक महान् लक्ष्य की पूर्ति करते थे। वह लक्ष्य जाति में, राष्ट्र में, संप्रदाय में सामूहिक शक्ति की भावना सजग करना था। इसी भावना को अंग्रेजी में 'स्पीरीट डी कोर' (Espirit de Corps) कहते हैं। इसके अन्य लक्ष्य वंश की प्रतिष्ठा और नाज को बढ़ाना, भक्ति का संचार करना स्वदेश-प्रेम, स्वधर्म के भाव को उद्दीप्त करना आदि थे।

जो संघ के अभ्युदय के लिए मर-मिटने को तैयार नहीं होता, जिसमें अपने कुल की प्रतिष्ठा का खयाल नहीं, जो अपने नेता के प्रति भक्ति नहीं रखता, जो स्वदेश और स्वधर्म के लिए आत्मबलिदान करना नहीं सीखता, वह कभी झंडे के नीचे काम करने की क्षमता नहीं रखता। झंडे वस्तुतः नेतृत्व, शासन तथा संघशक्ति के प्रतीक हैं।

ऋग्वैदिक आर्य युद्ध और धर्म की ओर झुके हुए थे। बहादुरी के लिए शैव, शाक्त और वैष्णव प्रसिद्ध थे। बौद्ध और जैन अहिंसा के नारे लगाते थे, पर बौद्ध संप्रदाय के शासकों को भी झंडे की शरण पकड़नी पड़ती थी। प्रियदर्शी अशोक को भी झंडे के नीचे काम करना पड़ता था। अतः झंडे में नेतृत्व, अनुशासन और संघशक्ति एक साथ निहित हैं। ये जाति और राष्ट्र को अतीत की याद दिलाते हैं, उनकी नसों में प्राणों का संचार करते हैं और उन्हें पूर्वजों की वीरता तथा गरिमा की ओर प्रेरित कर कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर करते हैं।

(४) *झंडे के तुलनात्मक ज्ञान के लिए पुरातन विदेशी राष्ट्रों के झंडे पर विहंगम दृष्टि*—"प्राचीन भारत के सदृश अन्य परराष्ट्रों में भी झंडे का प्रचलन था। वे प्राचीन राष्ट्र भी पशुओं और पक्षियों के चित्र झंडे पर अंकित करते थे। पारसीक सम्राट् दारा (Darius) के रथ पर, दो विपरीत दिशाओं में दौड़ते हुए, बैलों से अंकित ध्वजा फहराती थी।

Ninevet में Layard ने खुदाई का काम किया था। उस खुदाई में जो वस्तुएँ संप्राप्त हुई हैं, उनमें दो झंडे हैं। एक पर दौड़ते हुए बैल पर आरूढ़ शर-संधान किये योद्धा की छवि है और दूसरे पर दो विपरीत दिशाओं में दौड़ते हुए दो बैलों की छवि।

मिस्र के झंडों का पता नहीं चलता। मिस्र और एसीरिया (Assyria) को अवश्य बहुतेरे झंडे थे, पर किस प्रकार के, यह अभी तक सिद्ध नहीं हुआ। पुरातन फारसवालों के

बर्छे के छोर पर गीध अंकित रहता था। उनके झंडे पर सूर्य का भी चिह्न रहता था। डेसियन (Decians) गेरुड़ मारे हुए सर्पांकित ध्वजा व्यवहार में लाते थे और चीनी परदार साँप से चिह्नित ध्वजा का प्रयोग करते थे। यूनानी (Greeks) अति पुरातन काल में अपने झंडे पर कवच का एक अंश अंकित रखते थे। एथेंस (Athens)-निवासी उल्लू-अंकित झंडा रखते थे या जैतून-पेड़ की आकृति उनके झंडे पर बनी रहती थी। प्राचीन रोमन लोकतंत्र में योद्धा बाँस के छोर पर एक मुट्ठी पुआल बाँधे रखते थे। मध्यकाल में भाले के छोर पर क्रॉस की आकृति की एक लकड़ी बँधी रहती थी, पर पिछले युग में उनके झंडे पर मंगलग्रह की मूर्ति बनी रहती थी। इसके परवर्ती काल में सम्राटों या प्रख्यात मनुष्यों के चित्र उनके झंडे पर बने रहते थे।" —(इनसाइक्लोपेडिया ब्रिटैनिका)

उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि हमारे प्राचीन साहित्य में जिस प्रकार झंडे का उल्लेख है, वैसा परराष्ट्र में दुर्लभ है। हमारे देश में झंडा एक महत्त्वपूर्ण विषय था। इसके प्रत्येक अवयव की बनावट पर पूरा ध्यान दिया जाता था।

(५) *पताका-निर्माण और उसके भेदोपभेद*—प्राचीन भारत में पताकाएँ बड़े कौशल से से बनाई जाती थीं। ध्वजा और पताका प्रायः पर्यायी शब्द हैं। ध्वजा का शाब्दिक अर्थ है--ध्वजति (गच्छति) इति ध्वजः—जो फहराता है, वह ध्वजा है। पताका की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—पत्यते (बोध्यते) योद्धादिभेदः अनया सा पताका। वह चिह्न, जिसके द्वारा योद्धादि भेद व्यक्त हो पताका कहलाता था। ध्वज और पताका का अर्थ त्रिकोण या चतुष्कोण वस्त्र है। पताका त्रिकोण होती थी और ध्वजा चतुष्कोण। पिछले युग में यह भेद लुप्त हो गया था। जिसपर त्रिकोण या चतुष्कोण कपड़ा फहराता है, वह पताकादंड या ध्वजयष्टि कहलाता था।

'युक्तिकल्पतरु' में ध्वजा-निर्माण का विशद वर्णन पाया जाता है। वाचस्पत्य-कोषकार ने इससे अनेक उद्धरण लिये हैं। युक्तिकल्पतरुकार के मत से झंडा राजाओं का चिह्न है। "सेना-चिह्न क्षितीशानां दण्डो ध्वज इति स्मृतः। सपताको निष्पताकः स ज्ञेयो द्विविधो बुधैः ॥"

इसके दो भेद होते हैं—(१) सपताक और (२) निष्पताक। सपताक ध्वज अलंकृत और अच्छी तरह से सुसज्जित होता है। उसपर चाँदी-सोने और तांबे के काम किये रहते हैं। इन धातुओं के बने कलश से भी अंकित सपताक ध्वज होते हैं और बहुमूल्य रत्नों से जड़े हुए भी।

निष्पताक ध्वज में चित्रकारी नहीं होती। पर उनके दंड पर भी कमल, कलश, पक्षी और रत्न खचित रहते हैं। राजाओं के झंडे बहुधा सपताक होते हैं।

ध्वजदंड बाँस, वकुल वृक्ष, शाल, पलाश, चम्पक, कदम्बक, नीम और ताल के बने होते हैं। इन सभी ध्वजदंडों में बाँसदंड श्रेष्ठ समझा जाता है। इसकी सर्वश्रेष्ठता का कारण हलकापन और स्थिरत्व है।

वंशोऽथ जांगल शालः पलाशश्चाम्पकस्तथा।
नैपो नैम्बोऽथवा दण्डस्तथावैराजवारणः॥
सर्वेषां चैव वंशस्तु दण्डः संपत्तिकारकः। —युक्तिकल्पतरु।

शताब्दियों के बाद भी आज के दिन वंश-दण्ड ही अधिक उपयोगी समझा जाता है।

झंडे भिन्न-भिन्न रंग के होते हैं—रक्त, श्वेत, अरुण, पीत, चित्र, नील, कर्बुर तथा कृष्ण। कर्बुर में कई रंग रहते हैं। समर-क्षेत्र में अवसरों के अनुकूल आठ प्रकार के झंडों का प्रयोग होता था। जय, विजय, भीम, चपल, वैजयन्तिक, दीर्घ, विशाल और लोल। जय-झंडा सबसे हल्का होता था। यह विजय का सूचक था। इसका दंड पाँच हाथ लंबा होता था। विजय की लंबाई ६ हाथ थी। जय की भाँति पूर्ण विजय के अवसर पर यह फहराया जाता था। भीम सात हाथ लंबा होता था। लोमहर्षण युद्ध के अवसर पर यह फहराया जाता था; एवं चपल आठ हाथ, वैजयन्तिक ९ हाथ, दीर्घ १० हाथ, विशाल ११ हाथ और लोल १२ हाथ। जय रक्तवर्ण का होता था। विजय श्वेत वर्ण का, भीम अरुण वर्ण का, चपल पीले रंग का, वैजयन्तिक विभिन्न वर्ण का, दीर्घ नील वर्ण का, विशाल धारीवाल और लोल कृष्ण रंग का। ये सभी झंडे (Signalling) संकेत के सहारे सूचना देनेवाले थे। विजय और हार के बीच जब द्वन्द्व चलता था, उस समय इसी चपल झंडे के सहारे युद्ध-गति की सूचना सेनाध्यक्ष को मिलती थी। युद्ध का फलाफल जब शीघ्र ज्ञात नहीं हो सकता, तब दीर्घ झंडा प्रयुक्त होता था। विशाल झंडा भी क्रांतिकारी युद्ध का संसूचक था। लोल झंडे से भयंकर मार-काट संसूचित होती थी।

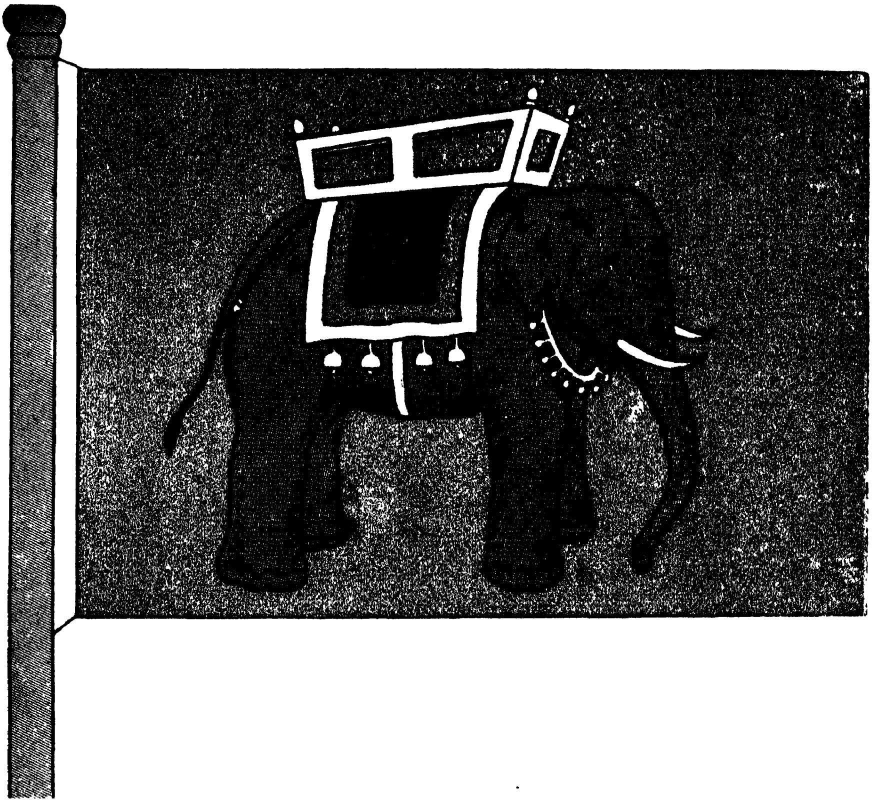
इन झंडों में जयन्ती-पताका सर्वोत्कृष्ट समझी जाती थी। इसपर हाथी अंकित रहता था। जयन्ती को सर्व-मंगला भी कहते थे। दुर्योधन की पताका पर हाथी की आकृति थी और यह अलंकृत थी। जिस झंडे पर हंस, मयूर और शुक की आकृति हो, वह सर्वमंगल झंडा कहलाता था। महाभारत में वाल्ख के शासक शल्व अष्टमंगला ध्वजा रखते थे। झंडे पर हाथी की आकृति थी और सोने के मयूरों से भी यह उपशोभित था।

"शल्वस्य तु महाराज राजते द्विरदो महान्।
केतुः काञ्चनचित्राङ्गैर्मयूरैरुपशोभितः॥"

जिस पताके पर चामर की छवि होती थी, वह बुद्धिदा कहलाती थी। महीपति की ध्वजाओं पर कनक, रजत, ताम्र आदि धातुओं के बने कलशादि चित्रित रहते थे। इनकी एक ध्वजा सर्वसिद्धिदा कहलाती थी। घड़ियाल के चार जबड़ों से यह युक्त रहती थी। ये जबड़े रत्नों से खचित होते थे।

सोने और चाँदी के चित्रों से ये झंडे इस उद्देश्य से खचित रहते थे कि योद्धाओं की दृष्टि में वे अमूल्य थे। सुवर्ण तथा रत्नों से जड़ित ये झंडे राष्ट्र और जाति की निधि थे। इनके लिए जाति या राष्ट्र का बच्चा-बच्चा आत्मोत्सर्ग करना अपना कर्त्तव्य समझता था। झंडे के लिए, झंडे के साथ, झंडे के अधीन लड़ना राष्ट्रीय योद्धा जीवन-व्रत समझता था।

प्राचीन भारतीय झंडे पर अनेक ग्रन्थ प्रणीत हुए हैं, उनमें 'कुण्डार्क' एक विशिष्ट स्थान ग्रहण करता है। इस ग्रंथ में ध्वजा और महाध्वजा का उल्लेख मिलता है। इन दो प्रकार के झंडे भारत में व्यापक रूप से प्रचलित थे। शिविर के मध्य में महाध्वज का प्रयोग होता था, तो छोटे-छोटे झंडे सेना के छोटे-बड़े सरदार व्यवहृत करते थे। यज्ञ में छोटे देवों को ध्वज अर्पित होते थे तो बड़े देवों को महाध्वज।



शाही झंडा

नागो मणिमयोराज्ञो ध्वजः कनकसंवृतः ।
किंकिणीशतसंह्रादो भ्राजंश्चित्रो रथोत्तमे ॥

—(महा० द्रोण०)

जब झंडे देवों को अर्पित किये जाते थे, तब वे उनके अस्त्रों में बाँध दिये जाते थे। सबसे मनोरंजक बात तो यह है कि आर्यों ने अपने ही देवों की कल्पना योद्धा या सैनिक रूप में की है। इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, शिव, ब्रह्मा, विष्णु सभी सैनिक थे। प्रत्येक को अपना-अपना शस्त्र और झंडा है। प्रत्येक के पास आक्रमण और संरक्षण के आयुध हैं। उनकी पूजा का प्रधान पदार्थ झंडा है। आर्यों की देवपत्नियाँ भी वीर हैं। महाकाली, दुर्गा सभी रणक्षेत्र में बेमिसाल बहादुरी दिखाती हैं।

सेना के सरदारों को भी झंडा अर्पित करने की प्रथा हमारे देश में प्रचलित थी। उन सरदारों के आयुधों की आकृति के अनुरूप झंडे उपहार क लिए प्रस्तुत किये जाते थे।

—(कुंडार्क)

हमारे तिरंगे झंडे के भी दो प्रकार हैं। एक-एक इंच के भी झंडे तिरंगे बने हैं और दीर्घ आयत के भी।

हेमचन्द्र दानखंड में झंडे का उल्लेख करते हैं। उनका वक्तव्य है कि झंडे के ऊपर बाज, वज्र, मृग, छाग, प्रासाद, कलश, कूर्म, नीलोत्पल, शंख, सर्प और सिंह की छवियाँ अपेक्ष्य हैं।

श्येनः वज्रं मृगश्छागो नन्द्यावर्त्तो घटोऽपि च।
कूर्मो नीलोत्पलं शंखः फणी सिंहोऽर्हतां ध्वजः॥

अग्निपुराण में भी कुछ ऐसा ही वर्णन मिलता है—

नानावर्णं ध्वजं दुर्गाद्विचित्रं नैकवर्णकम्।
घंटाचामरकिंकिण्या भूषितं पापनाशनम्॥ —अग्नि पु० ५६

झंडे रेशम, कपास और पट्टए के बने होते थे—

पट्टकार्पासक्षौमाद्यैर्ध्वजं कुर्यात् सुशोभनम्।
एकवर्णं विचित्रं वा घंटाचामरभूषितम्॥ —अग्निपुराण

क्रियासार और शिवरहस्य पिछले युगों की रचनाएँ हैं। ये ग्रंथ भी झंड पर पूरा प्रकाश डालते हैं। इन दिनों न्यायालयों तथा अन्य राष्ट्रीय भवनों पर झंडे फहराते हैं। प्रत्येक समय राष्ट्र में झंडे महत्त्वपूर्ण स्थलों पर लहराते हैं। प्राचीन भारत में महत्त्वपूर्ण स्थलों में ध्वजा का फहराना अनिवार्य था। ध्वजविरहित स्थल चिन्त्य समझे जाते थे।

चिन्तयन्त्यसुरश्रेष्ठा ध्वजहीनं सुरालयम्। —शिवरहस्य
ध्वजेन रहितं ब्रह्मन् मंडपं तु वृथा भवेत्। —पंचरात्रि

साधारण गृह में भी ध्वजा का फहराना आवश्यक था। आज भी हिन्दुओं के यहाँ विवाह के अवसर पर मंडप तैयार होता है, तो ध्वजा गाड़ी जाती है। किसी की मजाल नहीं कि वह उस ध्वजा का अपमान करे। ध्वजा का गाड़ना यज्ञ की सफलता का द्योतक है। पुरातन भारत के प्रत्येक राजमंदिर, शिविर, स्कन्धावार में तो झंडे सदा फहराते ही रहते थे। साधारण देवमंदिर, मंडप और गृह भी ध्वजविहीन न थे। स्वतंत्र भारतीय दान में झंडे ही लेना अपना अहोभाग्य समझते थे। झंडा इतना बहुमूल्य और पवित्र समझा जाता था कि देवों को भी अर्पित किया जाता था। झंडों का अभाव राष्ट्र के पतन, वैभव और शक्ति के ह्रास का द्योतक था।

प्रागैतिहासिक कृष्ण से लेकर हर्षवर्द्धन तक, हर्षवर्द्धन से लेकर राणा प्रताप और शिवाजी पर्यन्त तथा शिवाजी से गाँधी-युग तक शौर्य, शांति और धर्म के एक ही सिद्धान्त हिन्दू-जीवन का न्यूनाधिक नियमन करते थे। अनादि काल से प्रचलित हिन्दू-प्रथाओं से वे कभी अपने को पृथक् न कर सके। भारत तथा यूनान में मनुष्य तथा देवता के बीच कोई गहरी खाई न थी। उनके देवताओं में भी मनुष्यों की भाँति गुण-दोष होते थे। इसीलिए, दोनों देशों के देवता योद्धा के रूप में वर्णित हुए हैं—संग्राम करते हुए, विजय प्राप्त करते हुए तथा हमारी जाति की सहायता करते हुए।

प्राचीन हिन्दुओं का जीवन विग्रह, शान्ति और धर्म से इस प्रकार आबद्ध था कि उनके एक जीवन के अध्ययन में अन्य जीवनों का अपने-आप समावेश हो जाता है। आधुनिक युग के गाँधीजी के सैनिक रूप में राजनीति, धर्मनीति, समाजनीति सभी सन्निविष्ट हैं। कारण, गाँधीजी भारतीय सभ्यता, संस्कृति, आचार-विचार के वाहक थे।

राष्ट्र, सैन्य, समाज, धर्मक्षेत्र आदि में सर्वत्र झंडे का प्रयोग था। सांग्रामिक रथ, अश्व, जलपोत और हस्ती पर तो झंडे फहराते ही रहते थे। प्रसिद्ध हिन्दू-योद्धा सदा झंडे के तलबगार थे। कोई भी आर्य झंडे के विना नहीं चलता था। 'कौटिल्य' के गुप्तचरों के हाथों में भी झंडे रहते थे। पूजा-पाठ के अवसरों पर भी झंडे ही अर्पित किये जाते थे। सूर्य को रक्तवर्ण ध्वज दिये जाते थे तो बृहस्पति को पीत वर्ण। पीतवर्ण के ध्वज बुद्धिमत्ता तथा नीति-कौशल के द्योतक थे। मेवाड़ के राणा पीतवर्ण ध्वज प्रयुक्त करते थे। हमारे यहाँ ग्रहों को भी झंडे समर्पित होते थे।

(६) *ध्वजा का महत्त्व*—झंडे का समाज, सैन्य, राष्ट्र तथा धर्म पर इतना व्यापक प्रभाव था कि अनेक बड़े मनुष्यों की ख्याति झंडे के कारण थी।

(क) कपिध्वज से अर्जुन का संकेत सहसा मिल जाता था।—(महाभारत)

(ख) सीरध्वज से जनक का बोध होता था।—(रामायण)

(ग) कुशध्वज से जनक का भाई सूचित होता था।—(रामायण)

(घ) कृष्ण गरुडध्वज और बलराम तालध्वज के नाम से प्रसिद्ध थे।—(महा०)

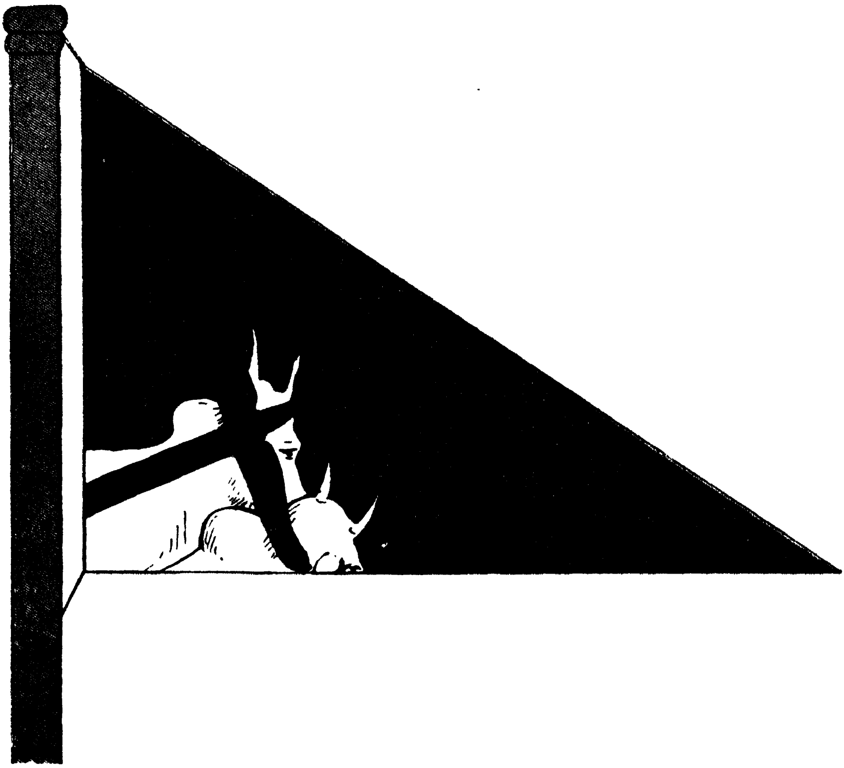
देवता और उनके अनुयायियों के नाम भी ध्वजा से ही उपलब्ध थे।

शिवजी वृषध्वज, दुर्गा सिंहध्वजा, गणेश कुम्भध्वज, कार्तिकेय मयूरध्वज और अग्नि धूमध्वज के नाम से ज्ञेय हैं।

अपने व्यापक प्रयोग के कारण ध्वजा उपमान के रूप में प्रयुक्त होने लगी थी। वामन-पुराण के ६८ वें अध्याय का २६ वाँ श्लोक इसका ज्वलन्त निदर्शन है। दण्ड-राक्षस लोहे का बना बर्छा हाथ में लेता है। इसकी शक्ल इन्द्रध्वज-सी थी। अपने प्रख्यात गुणों के कारण ही कोई शब्द उपमान बनता है। झंडा ऐसा ही विख्यात विषय बन गया था।

आदाय परिघं घोरं पट्टो द्वन्द्वभयस्मयम्।
राजते तस्य हस्तस्थमिन्द्रध्वजमिवोद्धृतम्॥—वा० पु० ६८। २६

वाचस्पत्य में सेना के एक भाग के लिए 'ध्वजिनी' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस सैन्य-विभाग में वाहिनी से दूनी संख्या रहती थी—१६२ रथ, १६२ हस्ती, ४८६ अश्व, ८१० पदाति। पूर्ण संख्या १६२०।



सीरध्वज

(मिथिलाधिपति का उल्लेख रामायण में सीरध्वज के रूप में हुआ है। ध्वजा ही उनकी प्रसिद्धि का कारण हुआ।)

इस सैन्य-भाग की यह विशेषता थी कि सभी सैनिक ध्वजा लिये रहते थे।

संग्राम में वही वीरपुंगव समझा जाता था, जो सांग्रामिक रथ से झंडे को काट गिराता था और जीवित शत्रु के झंडे को रणभूमि से ले जाना तो शौर्य का उत्कर्ष था। देवी भागवत और विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इस प्रकार के निदर्शन दीख पड़ते हैं। महाभारत के धनंजय ने जीवित कौरव-वीरों के शरीर पर के कपड़े तक उतार लिये थे और यह योद्धा के शौर्य, रण-कौशल और आयुध-प्रयोग का परमोत्कर्ष समझा जाता है।

वह सैनिक विशेष सैनिक-सम्मान का भाजन बनता था, जो प्रमुख नेता का निधन कर उसका झंडा हटा लेता था।—(विष्णुधर्मोत्तर, अ० ४८)

विष्णुपुराण में भी झंडे के विषय में ऐसा ही वर्णन मिलता है—

पातितो गदया भग्नो ध्वजश्चास्य गरुत्मता।

(इसका झंडा गदा से छिन्न-भिन्न कर गिरा दिया गया।)

खीष्ट की सप्तम शती के विख्यात हिन्दू-नाटककार भवभूति 'उत्तररामचरित' के चतुर्थ अंक में शत्रु के झंडे के पतन और अपहरण के संबंध में कुछ ऐसी ही बातें करते हैं—

किमुक्तैः सन्निपत्यैव पताकां वो हराम्यहम्।

(बातों से क्या? धावा बोल कर झंडा ही मैं छीन लेता हूँ।)

रामायण-युग का बेजोड़ वीर लक्ष्मण को यह बात किरातों से ज्ञात होती है कि भरत शत्रुघ्न के साथ एक अक्षौहिणी सेना लेकर चित्रकूट पर चढ़ आया है और कोशल-साम्राज्य का कोविदार झंडा चित्रकूट में फहरा रहा है। तब वह वीर सर्वप्रथम साम्राज्य के कोविदार-ध्वज को वश में करने की प्रबल इच्छा प्रकट करता है—

अपि नौ वशमागच्छेत् कोविदार-ध्वजो रणे। —(रा०, अयो०, अ० ६७)

सचाई की बात तो यह है कि प्राचीन स्वतंत्र भारत के प्राण झंडे थे। झंडे में ही देश, राष्ट्र, संपत्ति, निधि, मानवता, धर्म, जीवन सभी निहित थे। इसके उत्थान में देश का उत्थान और पतन में देश का पतन था। तभी प्रत्येक क्षेत्र में इसकी सर्वव्यापकता थी।

(७) *झंडा तथा देश-धर्म*—जिस प्रकार सांप्रतिक युग में युद्ध-संबंधी अन्तरराष्ट्रीय प्रथा प्रचलित है, उसी प्रकार भारत में देश-धर्म की व्यापकता थी। देश-धर्म को (Inter-state-customs) कहते थे। इसकी चर्चा अति आवश्यक प्रतीत होती है।

(क) उस काल में यदि कोई शासक जातीय या राष्ट्रीय झंडे पर देश का चित्र खचित कर दूसरे राष्ट्र के प्रतिनिधि के हाथों में समर्पित करता, तो यह उस जाति का आत्म-समर्पण समझा जाता। लंकाधिपति ने कश्मीर-राज को ऐसे झंडे दिये, जिनपर अपनी जाति के मनुष्यों के किरीट-भूषित सिर बने हुए थे। लंका पर चढ़ आये कश्मीर-नरेश ने बिना रक्तपात किये उस द्वीप को अधीन कर लिया।

रक्षःशिरः प्रतिच्छन्दैः स्थिरप्रणतिसूचकैः।
सनाथशिखरान् प्रादात् तस्मै रक्षःपतिर्ध्वजात्॥—(राजतरंगिणी, तरंग ३-७७)

(ख) गुप्तसम्राट् को अधीनस्थ राज्य गरुडध्वज अर्पित कर उसकी अधीनता अंगीकृत करते थे। —(गुप्तप्रयाग शिलालेख)

(ग) अश्वारोही सैनिक अथवा रथी जब आक्रांत होते थे और उनके झंडे गिरा दिये जाते थे, तब प्रबल शत्रु भग्नध्वज सैनिक पर आघात न कर उन्हें रणभूमि से भाग जाने देते थे।

वाल्मीकि-रामायण के लंकाकांड में यह प्रसंग आया है। भगवान् राम ने तीक्ष्ण बाणों से राक्षसराज को बेध दिया। घोड़े, रथ, ध्वज, छत्र, पताका, सारथि सभी उनके तीरों के शिकार हुए। चाहते, तो उसे वहीं शेष कर देते। पर, ध्वजा के गिर जाने के कारण और उस झंडे की संरक्षा में राक्षसपति को असमर्थ पा भगवान् उसे भागने देते हैं। वे सुसज्जित हो पुनः रणभूमि में चढ़ आने के लिए ललकारते हैं और यह भर्त्सना देते हैं कि सभी साधनों से संयुक्त वह भगवान् की शक्ति का उसी समय अनुभव करेगा—

तस्याभिसंक्रम्य रथं सचक्रं साश्वध्वजच्छत्रमहापताकम्।
ससारथिं साशनिस्थूलखड्गं रामः प्रचिच्छेद शितैः शराग्रैः॥
प्रयाहि जानामि रणार्दितस्त्वम् प्रविश्य रात्रिंचरराजलंकाम्।
आश्वास्य निर्याहि रथी सधन्वी तदा बलं प्रेक्ष्यसि मे रथस्थः॥—रामा०,लं०,अ० ५९

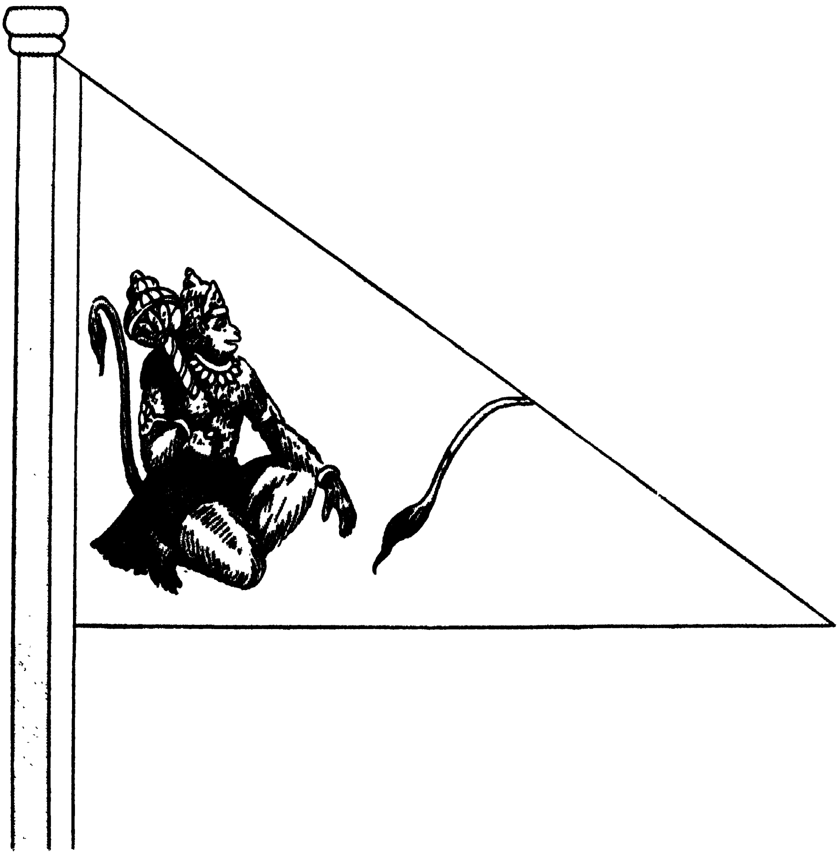
(घ) राजसूय, अश्वमेध तथा विश्वजित् यज्ञों के अवसरों पर जो राजा सार्वभौम घोषित होता था, उसे उपहार में झंडे भी मिलते थे—(महा० सभा० ७८।६८) झंडे का उपहार रथ, हाथी, घोड़े, कवच, सोने, रत्न प्रभृति के उपहारों से बढ़-चढ़ कर समझा जाता था।

(च) प्रबलतम शत्रु से लोहा लेते हुए अपने सैनिक धनंजय के झंडे को युद्धक्षेत्र में फहराते हुए सुनकर राजा संदेशहर को अनेक ग्राम, परिचारिकाएँ, रथादि उपहार-स्वरूप देता है—

कपिर्ह्यसौ वीक्षते सर्वतो वै
ध्वजाग्रमारुह्य धनंजयस्य।
वित्रासयन् रिपुसंघान् विमर्दे
बिभेम्यस्मादात्मनैवाभिवीक्ष्य॥

ददामि ते ग्रामवराँश्चतुर्दश
प्रियाख्याने सारथे सुप्रसन्नः।
दासीशतं चापि रथाँश्च विंशतिं
यदर्जुनं वेदयसे विशोकम्॥ —महाभा०, कर्ण० ८०।४३

(८) *शांतिकाल में झंडाभिवादन का वार्षिक महोत्सव*—प्राचीन स्वतंत्र भारत में ध्वजोत्सव जातीय जीवन का प्रधान रूप था। आज भी रूस तथा अन्य समृद्ध परराष्ट्रों में प्रतिवर्ष सांग्रामिक महोत्सव हुआ करते हैं। महाभारत तथा पुराणों में ध्वजोत्सव का विशद विवरण देखने में आता है। इस महोत्सव का ऋग्वेद के सर्वश्रेष्ठ देव इन्द्र से सम्बन्ध है। इन्द्रध्वजोत्सव महाभारत के आदि पर्व, अध्याय ६४ में विशेष रूप से वर्णित है। कालिका-पुराण के नब्बे अध्याय में इसका बड़ा ही मनोहर चित्रण हुआ है।



सिंहलाङ्गूल उग्रास्यो ध्वजो वानरलक्षणः ।
धनंजयस्य संग्रामे प्रत्यदृश्यत भारत ॥
—(महा० द्रोण०)

शक्रध्वज-महोत्सव का सूत्रपात सर्वप्रथम उपरिचर राजा ने किया था। यह किस युग में हुए, अभी तक इस का पूरा पता नहीं मिलता। पर, महाभारत-काल के पूर्ववर्त्ती युग में आप अवश्य वर्त्तमान होंगे। कारण, इन्द्रध्वजोत्सव का उल्लेख आदिपर्व में हुआ है। भारत के सभी राज्यों में यह महोत्सव प्रतिवर्ष होता था।

भादो महीने की कृष्ण द्वादशी तिथि को राजपुरोहित दस बढ़ई के साथ वीर सैनिकों की संरक्षा में राज्य के समीपवर्त्ती जंगल में बाजे-गाजे के साथ जाते थे। वे ऐसे ही जंगल में जाते थे जहाँ ताल, अश्वकर्ण, प्रियंगुक, धवक, गूलर, देवदारु तथा शाल-वृक्ष प्रचुर परिमाण में मिलते थे। इन वृक्षों में जो छोटे, काँटेदार, खोखले और दोषपूर्ण थे, उनका परिहार कर सर्वांगसुन्दर वृक्ष ध्वजदंड के लिए चुने जाते थे।

चुने हुए वृक्ष के समक्ष पुष्प रखे जाते थे और उसकी पूजा विधिवत् होती थी। उस वृक्ष से कर जोड़ राजपुरोहित अनुरोध करते थे—"हे वृक्ष ! इन्द्र-ध्वज के लिए आप दंड प्रदान करें।"

दूसरे दिन प्रातःकाल वह पेड़ काट कर गिराया जाता था। समीपवर्त्ती सरिता या पुष्करिणी में दस दिनों तक डुबाकर के रखा जाता था। भाद्र शुक्ल अष्टमी को उस वृक्ष का सर्वश्रेष्ठ भाग नगरद्वार पर लाया जाता था। २२, ३२, ४२ तथा ५२ हाथों का ध्वजदंड राष्ट्र की आवश्यकता के अनुकूल काटा जाता था। बाईस हाथों का ध्वजदंड अधम समझा जाता था, ३२ हाथों का मध्यम और ५२ हाथों का सर्वश्रेष्ठ। अन्तिम ध्वजदंड अति दूर तक दीख पड़ता था और बड़ी सेना को नियंत्रित करने में समर्थ था।

उन दिनों जंगलों की स्थिति आज से अवश्य अच्छी होगी; कारण ५२ हाथों का ध्वजदंड इन दिनों दुष्प्राप्य है।

ध्वजदंड के निचले भाग में इन्द्रकुमारिका की मूर्त्ति बनाई जाती थी और उसके उपरि भाग पर इन्द्रमातृका की। दोनों पाशविक शक्तियों की प्रतीक थीं। बड़े कौशल से घंटा, चामर आदि उसपर बनाये जाते थे।

भाद्र शुक्ल द्वादशी को राजा पद, अश्व, रथ तथा हस्ती के साथ नगरद्वार पर कूच करता था। उस समय रणवाद्य के प्रघोष से आकाश-मंडल गूँज उठता था। तुरही के निनाद तथा शंखध्वनि अन्तरिक्ष को चीरती-सी प्रतीत होती थी। राजा अपने हाथों से ध्वजदंड को अभिषिक्त, अलंकृत तथा संपूजित करता था। उसे ध्वज से संयुक्त कर मूर्तियों की पूजा करता था। चतुरंगिणी सेना के मध्य झंडा फहरा कर उसका अभिवादन करता था। राजा के बाद उसके परिवार तथा अन्य सैनिक झंडे का अभिवादन करते थे। पदाति, अश्वारोही सैनिक अस्त्र-शस्त्रों के कौशल प्रदर्शित करते थे। आविष्कृत नये आयुधों का प्रयोग होता था।

एक सप्ताह तक प्रत्येक सैन्य अपनी रणचातुरी, शस्त्र-कौशल तथा आयुध-प्रयोग प्रदर्शित कर राज्य क मनुष्यों की नसों में उष्ण रक्त का संचार करते थे।

मेरी समझ में इस प्रकार के महोसव का एक मात्र लक्ष्य राज्य की सांग्रामिक प्रवृत्ति को प्रबुद्ध करना था। इन्द्रध्वज का प्रयोग विग्रह-काल में नहीं होता था। शिविर या स्कन्धावार में यह फहराया जाता था। —(कालिका पुराण, अ० ६०)

सभी प्रकार की समृद्धि शांति पर निर्भर करती है। शैक्षिक, आर्थिक, भौतिक, दार्शनिक, और अन्य प्रकार की समुन्नतियाँ शांति की ही अपेक्षा करती हैं। शांति के लिए भी संगठित, सुदृढ़ और रणकुशल सेना आवश्यक है। सर्वांगपूर्ण सेना भी झंडे के नीचे ही कर्त्तव्यों का पालन कर सकती है।

इसलिए, अग्निपुराण का यह निर्देश कि वही राज्य चिरकालीन शांति और समृद्धि का उपभोग कर सकता है, जो अपने झंडे का सम्मान करना कभी नहीं भूलता—सदा स्मरण, मनन और परिपालन करने योग्य है।

एवं यः कुरुते पूजां वासवस्य महात्मनः
सुचिरं पृथ्वीं भुक्त्वा वासवं लोकमाप्नुयात्।
न तस्य राज्ये दुर्भिक्षं नाधयो व्याधयः क्वचित्
स्थास्यन्ति मृत्युर्नाकाले जनानां तत्र जायते॥

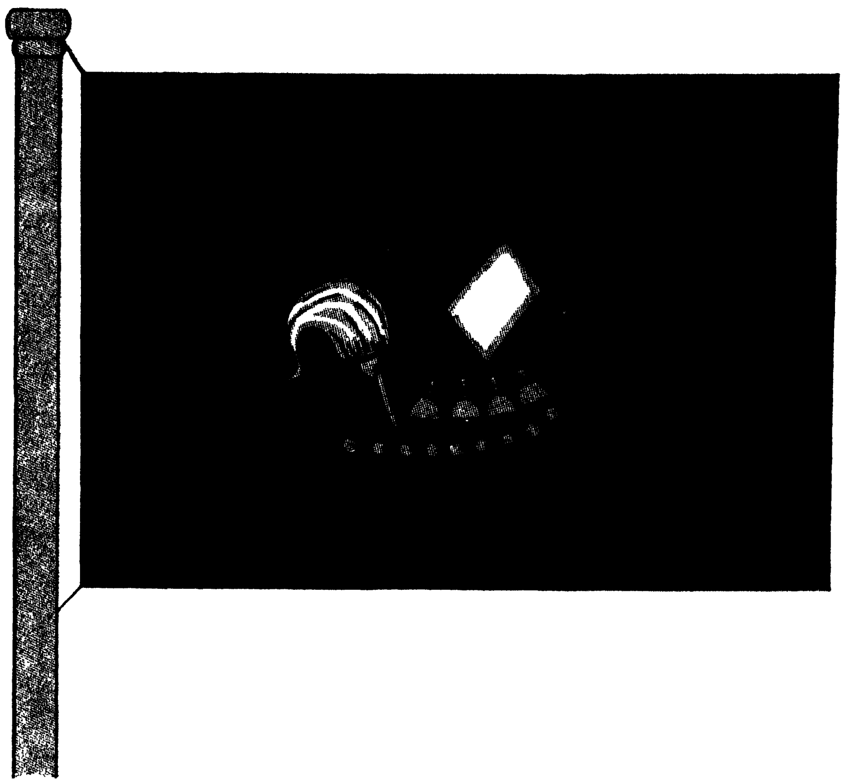
झंडे के सम्मान करनेवाले देश में दुर्भिक्ष और रोगों के लिए कोई स्थान नहीं है। सभी अनुशासित, योद्धा ऐक्यसूत्र में गुँथे रहते हैं। झंडा-उत्सव के बहाने सैनिकों, इंजिनियरों, ज्ञानियों, वैज्ञानिकों और वीरों की पूजा होती है। जितने प्रकार के आयुध, यान और सांग्रामिक साधन हैं, सबका संस्कार होता है और वे सभी देश-रक्षा के लिए कमर कसे रहते हैं।

(६) *ध्वज-संकेतात्मक विद्या*—इन दिनों सभी राष्ट्रों में ध्वज-संकेतात्मक ज्ञान से अनेक काम सधते हैं। इसलिए, इसकी चर्चा अप्रासंगिक न होगी। पश्चिमी देशों में इस विद्या ने आशातीत उन्नति की है और इसका प्रयोग समुद्र, रणस्थल तथा रेलवे में होता है। स्काउटिंग (Scouting) में तो इसके द्वारा संदेश भेजा जाता है और झंडे के विविध संचालन के द्वारा बातें भी होती हैं।

हमारे देश में इस विद्या का पूरा विकास नहीं हो पाया था। पर, जिन झंडों में घंटियाँ बँधी रहती थीं, वे विपक्षी दल को अपने अधिनायक के आगमन की सूचना देने में कोई कसर नहीं करते थे। एक उदाहरण लीजिए—

अर्जुन गुप्तवेश में अन्य भाइयों क साथ विराट्नगर में रहते थे। कौरव पता लगाने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना बहा रहे थे। उन्हें यह गंध मिल गई कि पाण्डव विराट्राज क नगर में वास करते हैं, पर गुप्तवेश में उनकी पहचान करना अति कठिन था। अतः कर्ण के साथ अष्टकौशल कर चुने हुए कुरुवीरों ने उस नगर पर धावा बोल दिया। भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा के सामने विराट्राज की सेना स्थिर न रह सकी। विराट्राजा के पाँव उखड़ गये। उनकी गायों को कुरुवीर खदेड़ते हुए ले चले। चारों ओर हाहाकार मच गया। राजपुत्र उत्तर बृहन्नला-रूप अर्जुन से बोला—'यदि कोई अर्जुन-सा सारथि मिलता तो मैं कुरुवीरों को सबक सिखा देता।' छद्मवेशी अर्जुन ने हाँ भर दी। नगर से बाहर हो अर्जुन ने शमी वृक्ष के गह्वर में सुरक्षित अपने गांडीव-धनुष, देव-दत्त शंख तथा अन्य आयुध लिये और रथ पर कपिध्वज को फहरा दिया। वे कुरुदल की ओर द्रुतवेग से चल पड़े।

अर्जुन का कपिध्वज दूर से ही देख कर कुरुसैनिकों को बोध हो गया कि अर्जुन विराट् राज्य में ही छिपा था और अति-शीघ्र उससे घमासान युद्ध छिड़ेगा।



शांतिकाल में इंद्रध्वज महोत्सव मनाया जाता था। इसका विवरण झंडा-प्रकरण में सप्रमाण दिया गया है।—महाभारत, आदि पर्व, अ० ६४ और कालिकापुराण, अध्याय ६०।

वानरस्य रथे दिव्यो निस्वनः श्रूयते महान्। —महा०, विरा० ४६

अर्जुन को भी किन-किन योद्धाओं से लड़ना पड़ेगा, इसका बोध भी अर्जुन को उन वीरों के झंडों पर दृष्टिपात करते ही हो गया।

शरों की गति से भी वीरों को सूचना मिलती थी कि ये शर अमुक वीर के हैं। शरों की गति भी समादर, श्रद्धा तथा शात्रव-प्रदर्शन में समर्थ थी। शरगतिविज्ञान का उन दिनों अच्छा विकास हुआ था।

महाभारत के विराट् पर्व में यह प्रसंग आया है। तेरह वर्षों के वनवास के बाद जब अर्जुन विराट्राज के रणक्षेत्र में कुरुदल क समक्ष उपस्थित होता है, तब सर्वप्रथम तीरों के द्वारा गुरुजन को समादृत करता है। वह अपने वाणों से भीष्मपितामह, कृपाचार्य तथा द्रोणाचार्य के कानों का स्पर्श करता है। उसके वाण पुष्प की भाँति गुरुजनों के कानों का स्पर्श कर गिर पड़ते हैं, पर पैरों का स्पर्श नहीं करते। गुरुजन समझते हैं कि अर्जुन हमारा अभिवादन कर रहा है, पर साथ-साथ यह जता रहा है कि वह उनसे मिलने नहीं आया है वरन् लोहा लेने आया है। कारण, वाण पैरों का स्पर्श न कर कर्णों का स्पर्श कर रहे हैं। आज वे अर्जुन को ऊँचा उठानेवाले हैं—

ततोऽभ्यवादयत् पार्थो भीष्मं शान्तनवं कृपम्।
द्वाभ्यां द्वाभ्यां तथाचार्यं द्रोणं प्रथमतः क्रमात्॥
द्रोणं कृपं च भीष्मं च पृथक्कैरभ्यवादयत्॥ —महा०, विराट्

प्रत्येक कार्यप्रणाली के अपने नियम होते हैं। प्राचीन भारतीय वीरों की मंडली में, रणांगन में भी सत्कार-प्रदर्शन की प्रथा प्रचलित थी और यह संकेतात्मक विद्या ही थी।

ध्वनि-संकेत का प्रयोग भी युद्धक्षेत्र में होता था। इसके लिए भिन्न-भिन्न आकार और धातु के शंख बने होते थे। गीता के कृष्ण के पांचजन्य की ध्वनि अर्जुन के देवदत्त के निनाद से अवश्य पृथक् थी, तभी तो दुर्योधन ने भीष्मपितामह को भिन्न-भिन्न वीरों की शंखध्वनियों के विषय में निवेदन किया था।

जिस प्रकार आज के हवाई जहाजों की ध्वनि में वैषम्य है, उसी प्रकार उस युग के योद्धा-विशेष के रथ से भी विशिष्ट ध्वनि निःसृत होती थी—

यथा रथस्य निर्घोषो यथा शंखः उदीर्यते।
कम्पते च यथा भूमिर्नैषोऽन्यः सव्यसाचिनः॥ —महा०, विराट्, ४६

जैसा रथ का निर्घोष सुन पड़ता है, जैसी शंखध्वनि हो रही है, जैसी पृथ्वी डगमगा रही है—सभी यही सूचित करते हैं कि सव्यसाची को छोड़कर कोई यह दूसरा योद्धा नहीं है।

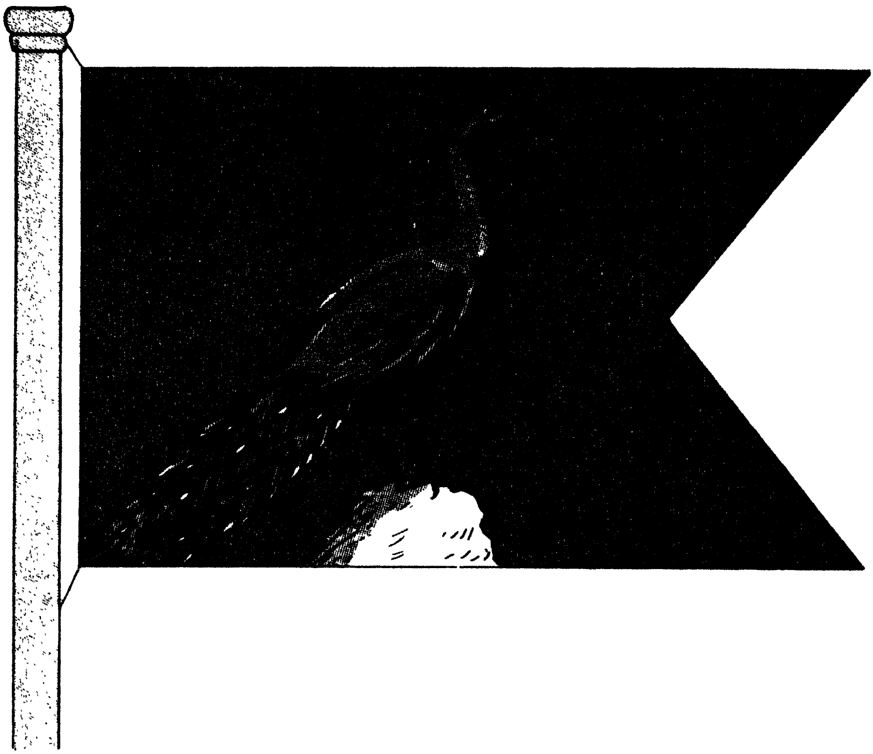
सैन्य-संकेतात्मक विद्या आधुनिक युग की देन है। पर संग्राम के सभी युगों में संकेत से काम लिये जाते थे। पुराने युग की यह विद्या अविकसित थी। आज इसका सम्यक् विकास हुआ है। दोनों में भेद मात्राओं का है।

कहा जाता है कि गांधार के राजा ने अपने राजदूत के द्वारा महापद्मनन्द के दरबार में आधा सेर सरसों और जलती हुई भट्ठी भेजी थी। सरसों गांधारराज के अपरिमेय सैनिकों की संसूचक थीं और जलती भट्ठी उस राजा के बल, पौरुष और कोप की परिचायक।

चन्द्रगुप्त मौर्य के इशारे पर एक तीतर और शीतल जल से भरा एक कलश उत्तर में भेज दये गये। तीतर इस बात की परिचायक थी कि मगध-सैनिक गांधार-सैनिकों को बात-की-बात में चुन कर (आक्रांत कर) निगल जायेंगे। शीतल जल से परिपूर्ण कलश यह प्रकट कर रहा था कि मगधराज की साम्यनीति किसी क्षुब्ध शक्ति को प्रशान्त करने में समर्थ है।

ध्वज-संकेतात्मक विद्या तथा संग्राम-संकेत शिक्षा बहुत दूर तक विकसित नहीं हुई थी। पर झंडे के जितने अवयव हैं, सबका पूर्ण विकास पुरातन स्वतंत्र भारत में हुआ था। यह भारतीय जीवन का स्थिरांश था। बाल-वृद्ध, सैनिक-शिक्षक, गृहस्थ-तपस्वी, पुरुष-स्त्री, शासक-शासित सभी झंडे के उपासक थे और उसकी रक्षा के लिए प्राणों का विसर्जन करना एक साधारण बात थी।

———



मयूरध्वजभंगस्ते यदा वाण भविष्यति ।

—(विष्णुपुराण)

(वाणासुर भी मयूरध्वज थे)

दूसरा परिच्छेद

प्राचीन भारतीय वेश-भूषा

(१) सैनिक तथा सार्वजनिक—

यत्र नरः समयन्ते कृतध्वजः यस्मिन्
आजा भवति किंचन प्रियम् ।
यत्रा भयन्ते भुवना स्वर्द्दश—
स्तत्रा न इन्द्रावरुणाधिवोचतम् ।।

—ऋग्, मंडल ७, सू० ८३, मंत्र २

"हे इन्द्रावरुण ! जहाँ हमारे मनुष्य ध्वजा फहराते हुए रण-स्थल में शत्रुओं से लोहा लेने के लिए भिड़ते हों, जहाँ दुष्कर कर्म होते हों और जिस रण में पृथ्वी काँपने लगती हो और स्वर्गामी वीर भी भीत होते हों, वहाँ हमें आप प्रोत्साहित करें ।।"

भारतीय वेश-भूषा (dress) पर क्रमवद्ध रूप से लिखित कोई रचना देखने में नहीं आती । पूर्वी और पश्चिमी देशों के प्राचीन इतिहासों के पृष्ठों पर यत्र-तत्र भारतीय पोशाक-संबंधी सामग्रियाँ अवश्य बिखरी पड़ी हैं । प्राचीन भारत तथा भूरे अतीत का यूनान अपनी सभ्यता तथा संस्कृति के लिए प्रख्यात थे । आज के विश्व को भी उन प्राचीन देशों की सभ्यता के सामने नतमस्तक होना पड़ता है ।

भारतीय वेश-भूषा तथा परराष्ट्रीय ऐतिहासिक बाह्य-साक्ष्य- ख्रीष्ट से पाँच सौ वर्ष पूर्व, आज से ढाई हजार वर्ष पहले हिरोडोटस नाम के प्रख्यात इतिहास-निर्माता यूनान में हो चुके थे । इनका जन्म ईसवी सन् से ४८४ वर्ष पूर्व हुआ था और मरण ईसा से ४०० वर्ष पहले । यह इतिहास के जन्मदाता (Father of History) कहे जाते हैं । अपनी जवानी में इन्होंने यूनान, अफ्रीका, एशिया तथा यूरोप की यात्राएँ की थीं । यह जिन देशों की यात्रा करते थे, उनके आचार-विचार, रहन-सहन, जातीय-प्रथा, वेश-भूषा का पर्याप्त ज्ञान उपलब्ध करते थे और अपने भावी इतिहास के लिए सामग्रियाँ संचित करते थे । यह अपने इतिहास में भारत के संबंध में लिखते हैं—

"भारत पारसीक (Persian) साम्राज्य का बीसवाँ क्षेत्र (Satrapy) था । यह बड़ा धन-जन संपन्न था । पारसीक सम्राट् को ३६० निष्क (Talents) कर-रूप में भारत से प्राप्त होते थे । जरक्सिज (Xerxes) पारस-साम्राज्य पर ईसा से ४८६-४६५ वर्ष पूर्व शासन करता था । उसकी सेना में गांधार-सैनिक थे । इनके आयुधों

में तीर-धनुष और भाले होते थे। सैनिक कपास के बने वस्त्र धारण करते थे। उनके हाथों में बेंत के बने धनुप और लोहे से संयुक्त तीर रहते थे।"

एरियन (Arrian)—यह भी यूनानी इतिहासकार थे। योद्धा तथा दार्शनिक होने का सौभाग्य भी इन्हें प्राप्त था। सिकन्दर महान् के अभियानों की कथा सात खंडों में इन्होंने लिखी है। ईसा की दूसरी शती में यह विद्यमान थे। इन्होंने भारतीय सेना तथा उसकी पोशाक पर बहुत-कुछ लिखा है। (हिन्द, अध्याय १६)

मैक्रिण्डिल (Macrindle) ने अपने इतिहास पुरातन हिन्द (Ancient India) में अनेक उद्धरण उस पुस्तक से लिये हैं —

"प्रत्येक अश्वारोही के हाथों में दो बर्छे रहते थे और एक ढाल। पदाति (पैदल सैनिक) चौड़ी तलवार तथा वृषभ चर्म के ढाल से सुसज्जित रहती थी। इसके अतिरिक्त भाला और धनुष उनके आयुधों में अग्रगण्य थे। धनुष धनुर्धर की ऊँचाई का होता था। वाण तीन गजों से कुछ कम होते थे। धनुष को पृथ्वी पर रखकर बायें पाँव से वीर सैनिक चाँपता था और प्रत्यंचा को पीछे खींच कर शरसंधान करता था। भारतीय इषुधर के प्रबल प्रहार को रोक सकना कठिन था। न कवच, न ढाल, न अन्य त्राणप्रद शस्त्र इसकी गति अवरुद्ध करने में समर्थ थे। भारतीय योद्धा कपास के अन्तर्वस्त्र (Under Garment) धारण करते थे। यह उनके घुटने के नीचे तक लटकता रहता था। उनके उपरिवस्त्रों (Upper Garment) में शिरोवेष्टन (शिर के वस्त्र) तथा चादर थे।"

—मैक्रिण्डिल, पुरातन हिन्द, पृ० २१६

कर्टियस रूफ्ज (Curtius Rufus)—रोम-इतिहासकार थे। इनका समय अनिश्चित-सा है। इन्होंने भी सिकन्दर-अभियान का इतिहास प्रस्तुत किया है। मैक्रिण्डिल ने अपने पुरातन हिन्द के १८८ पृ० पर इसी इतिहासकार की रचना से सामग्री लेकर लिखा है—

"भारतीय अपने शरीर को पाँवों तक सुरम्य मलमल (Fine Muslin) से आच्छादित रखते थे। पाँवों में जूते (उपानह्) धारण करते थे। सिर-पर कपास के वस्त्र बाँधते थे।"

हमारा अपना अनुमान है कि सिकन्दर-समकालीन भारत में दो प्रकार के अन्तर्वस्त्र प्रयोग में थे– एक कुर्ते-कमीज की कोटि का और दूसरा चोगा या ओवरकोट की श्रेणी का। संभवतः, 'प्रवाकरक' दूसरी श्रेणी का वस्त्र होगा।

चीनी साक्ष्य—युवान-च्वांग चीनी परिव्राजक थे। वस्तुतः, यह चीनी परिव्राजकों के शिरोमणि थे। ६३० ईसवी से ६४५ ईसवी सन् तक भारत में पर्यटन करते रहे। इनकी भारतीय यात्राओं का विस्तृत वर्णन बिल साहब ने अपने ग्रंथ 'Buddhistic Records of the Western World (पश्चिमी जगत् के बौद्ध इतिवृत्त) में किया है। उन दिनों चीन के लिए भारत ही पाश्चात्य देश समझा जाता था, जैसा हमारे लिए इन दिनों यूरोप-अमरीका। अपनी उपर्युक्त पुस्तक के खंड १, पृष्ठ ७५-७६ में यह भारतीय पोशाक पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं—"उनके परिधेय वस्त्र न कटे रहते हैं और न किसी नमूने के बने रहते हैं। वे अधिकतर नवल और धवल होते हैं। मिश्रित रंग के कपड़े उन्हें कम भाते हैं। काम किये कपड़े भी उन्हें अधिक पसंद नहीं आते। पुरुष वस्त्र को शरीर के मध्य लपेट कर

काँख के नीचे ले आते हैं और शरीर के दोनों ओर लटका लेते हैं। स्त्रियों के वस्त्र जमीन तक फहराते रहते हैं। वे कंधों को पूर्णरूपेण ढँक लेती हैं। मुकुट की भाँति थोड़ा जूड़ा रखती हैं और शेष केश ढीला रखती हैं। कुछ पुरुष तो मूँछ मुँड़वा लेते हैं। वे सिर पर उष्णीष धारण करते हैं। शिरोवस्त्र में फूल-गुच्छे भी रखते हैं। रत्नों से जड़े भूषण गले में पहनते हैं। उनके पहनने के वस्त्र कौषेय होते हैं। कुछ वस्त्र तो रेशम के बने होते हैं और कुछ कपास के। कौषेय वस्त्र रेशमी कीड़े की उपज हैं। उनके कुछ वस्त्र क्षौम हैं। बकरों के ऊन से बने कपड़े भी वे धारण करते हैं। उनके कुछ वस्त्र कराल (Karala) के बने होते हैं। इसको चीनी भाषा में Ho-la-li और जापानी जबान में Ka-ra-tsi कहते हैं। ये वस्त्र वन्य-पशुओं के कोमल रोम से निर्मित होते हैं। ये कात कर नहीं बुने जाते। ये बहुमूल्य होते हैं।

उत्तर भारत में ठंड अधिक पड़ती है। इसलिए, वहाँ के जनसमुदाय Hu हू जनता की भाँति शरीर में सटनेवाले वस्त्र पहनते हैं। बौद्धधर्म में जिनकी निष्ठा नहीं है, उनमें कुछ मोर-पाँख धारण करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो खोपड़ियों की माला गले में पहनते हैं। कुछ तो नंगे रहते हैं और वस्त्रों का प्रयोग ही नहीं करते। कुछ पत्तों या पेड़ों के वल्कल से शरीर का परित्राण करते हैं।

उनके वस्त्रों के रूप-रंग एक-से नहीं होते। उनके वस्त्र या तो लाल होते हैं या श्वेत। रंग टिकाऊ नहीं होता। ब्राह्मणों और क्षत्रियों की वेश-भूषा परिष्कृत और अभिराम होती है। ये दोनों मितव्ययिता के प्रतीक हैं। राजा तथा उनके अमात्य वस्त्रों के साथ विविध प्रकार के आभूषण भी धारण करते हैं। केश को पुष्पों से विभूषित करते हैं। रत्नों से जड़े उष्णीष पहनते हैं। अंगद तथा ग्रीवा-भूषण भी पहनकर अंगों की शोभा बढ़ाते हैं।

समृद्ध व्यापारी सौवर्ण आभूषण बेचते हैं। कुछ लोग खड़ाऊँ और उपानह् पहनते हैं। लाल और काले रंगों से इन्हें रँगते हैं। कुछ केश बाँधते हैं और कान छिदवाते हैं। नाक को भी अलंकारों से सजाते हैं। इनकी आँखें बड़ी होती हैं।"

अलबेरुनी-साक्ष्य – ईसवी सन् की ग्यारहवीं शती के प्रारंभ में अलबेरुनी (Alberuni) अपने ग्रंथ-खंड १ तथा खंड ८ में काबुलिस्तान के हिन्दुओं, गांधारों और मुसलमानों की पोशाक-भिन्नता पर कुछ प्रकाश डालते हैं। अलबेरुनी प्रसिद्ध मुस्लिम इतिहासकार हैं। यह लिखते हैं—

"हिन्दू धोती और पैजामे का प्रयोग करते हैं। वे पगड़ी भी व्यवहार में लाते हैं। जो कम कपड़ा पहनना पसंद करते हैं, वे दो उँगली चौड़ा चेथड़ा काम में लाते हैं। इसे कमर के चारों ओर रस्सियों से बाँधते हैं। मेरी दृष्टि में इतिहासकार भगोवा-वस्त्र का उल्लेख करता है, जिसे साधु या दरिद्रनारायण धारण करते हैं। वस्त्र-प्रेमी कपास-सूत से चिह्नित पैजामा पहनते हैं। इन पैजामों में रास्ते (Openings) हुआ करते हैं, पर दृष्टिगोचर नहीं होते। पैजामे इतने बृहत् होते हैं कि पहनने पर पाँव भी लक्षित नहीं होते। सिदार (Sidar) पोशाक का एक प्रकार है। यह पैजामे-सा होता है; पर सिर, छाती और गर्दन को ढाँक

लेता है। कुर्त्तियाँ या चोलियाँ अधकमीज-सी होती हैं। ये कंधे से मध्य शरीर तक ही ढँकने में समर्थ हैं। इन्हें औरतें पहनती हैं। इनकी बाईं और दाहिनी ओर धारियाँ होती हैं।

पुरातत्त्वविषयक साक्ष्य—

(१) **सिक्का**—कश्मीर के हिन्द-यूनानी कुशन-सम्राटों (Indo-Greek) तथा अन्य स्थलों के राजाओं के सिक्के उपलब्ध हुए हैं। उन सिक्कों से तत्कालीन आयुधों, परिधेय वस्त्रों तथा सिर की पोशाकों का कुछ पता चलता है। सिक्कों पर भारतीय सीथियन (Seythian) राजाओं की आकृति है। वे कवच पहने हुए हैं। कवच से म्यान में रखी छोटी तलवार तथा लटकते हुए बर्छे लक्षित होते हैं।

(२) **साँची की वास्तुकला**—साँची की शिल्प-कला पर भारतीय सैनिक की आकृति है। उसकी देह पर चुस्त और हल्की (Light) पोशाक है। घाघरा (Kilt) भी धारण किये हुए हैं। कनिंघम के मतानुसार उस सैनिक के आयुध तलवार और धनुष-बाण हैं।

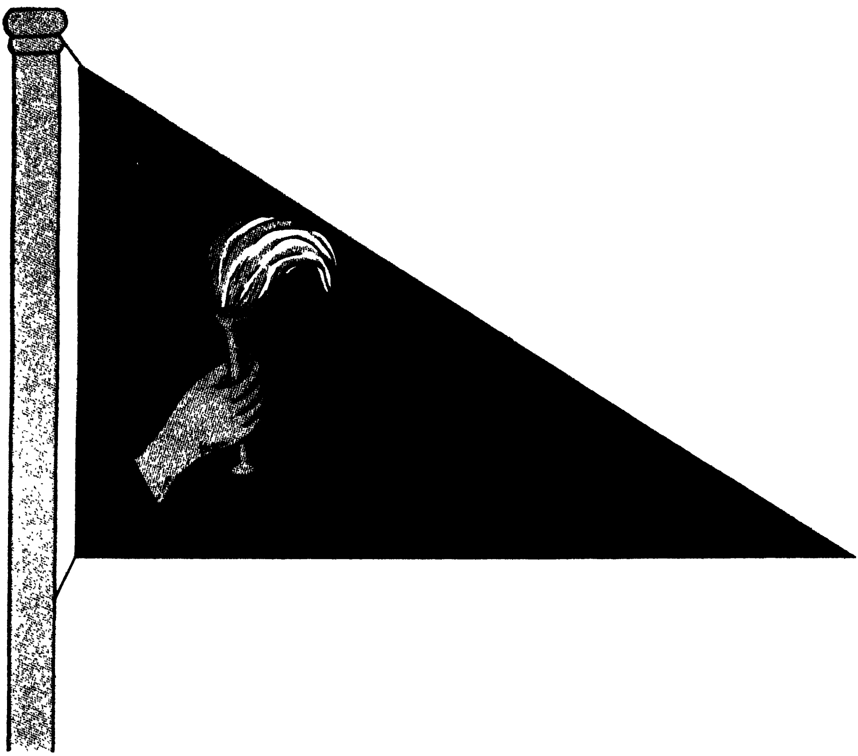
भीलसा के स्तूप पर जो अस्त्र-शस्त्र दीख पड़ते हैं, उनमें धनुष-बाण, कटार, तलवार कुल्हाड़ी, त्रिशूल, पदाति तथा अश्वारोही के ढाल हैं। उदयगिरि के स्तूपों पर भी इसी प्रकार के सैनिक-परिच्छद हैं।

कर्णक (Karnak) के सूर्य-मंदिर पर शिल्प-संबंधी कृतियाँ हैं। यह मंदिर १२३६ ईसवी सन् का है। इसके दक्षिण द्वार पर दो बड़े घोड़ों की आकृतियाँ हैं। उनमें एक गुरुतर सिकड़ीदार कवच पहने तथा झब्बेदार ग्रीवा-भूषण से अलंकृत है। इसके चारों पांवों में रत्नों से जड़े बाजूबंद हैं। खोगीर झब्बेदार तंग (Breast Band) से कसी हुई है। इसके वाम पार्श्व से छोटी तलवार-युक्त म्यान लटक रहा है और दक्षिण पार्श्व में तरकस है। तरकस में पाँखवाले तीर रखे हैं।

वोगेल (Vogel) द्वारा संपादित शौरकोट-शिला-लेख (Shorkot Inscription) शिवियों (Siboi) की वेश-भूषा का परिचायक है। ये उपजातियाँ वन्य-पशुओं के चर्म से अपने शरीर को आच्छादित करती थीं और मुद्गर उनके आयुध थे। जिस समय सिकन्दर भारत पर चढ़ आया था, उस समय शिवियों के पास ४० सहस्र पैदल सैनिक थे।

अपने ग्रंथ मोहेनजोदाड़ो (Mohenjodaro) तथा भारतीय सभ्यता, खंड १ अध्या० १८, पृ० ३२८ में सर जाँन मार्शल आर्येतर जातियों की शिरोवेश-भूषा के संबंध में जो विचार प्रकट करते हैं, वे विचारणीय हैं—

"आर्येतर उपजातियों की अधिकांश महिलाएँ विशिष्ट शिरोभूषण धारण करती हैं। यह शिरोवेश-भूषा सिर के पीछे से पंखे के सदृश ऊपर उठती प्रतीत होती है। कहीं-कहीं तो उनकी शिरोवेश-भूषा सीधे सिर से ही ऊपर की ओर उठी रहती है। कुछ ऐसे भी शिल्प-चित्र हैं, जिनके सिर की पोशाक तागे से ललाट की ओर अपने स्थान पर सुरक्षित है। मार्शल का मत है कि यह शिरोवेश-भूषा कपास, ऊन या सन (पटुआ) की बनी होगी। मोहेनजोदाड़ो की शिल्प-कृतियों में पुरुषों की आकृतियाँ कम देखने में आती हैं। मार्शल का निजी अनुमान है कि किसी कारण से पुरुषों की मृण्मय आकृतियाँ लोकप्रिय न होंगी।



बुद्धिदा पताका

चामरादिसमायुक्ता सा ज्ञेया सर्वबुद्धिदा ।

स्त्रियाँ टोपी भी पहनती थीं। पुरुष भी पहनते थे। मार्शल आच्छादक वस्त्र (Masks) तथा मेखला (Girdle) का उल्लेख करते हैं।[1]

भारतीय वेश-भूषा के संबंध में इतिहास के पृष्ठों से जो सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं, वे वेश-भूषा-जिज्ञासु पाठकों की ज्ञान-पिपासा को अल्प अंश में भी शान्त नहीं कर सकतीं। जीवन के सम्यक् विकास के लिए वस्त्र की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी भोजन और जल की। जीवन के प्रभात में मनुष्य की प्रथम चिन्ता के विषय जल और अशन रहे होंगे। पर, धूप-शीत तथा वृष्टि से परित्राण के लिए उसने वसन-सी वस्तु की आवश्यकता अवश्य महसूस की होगी।

संभव है कि जंगलों में वृक्षों के नीचे रहते हुए वह आदिम मानव कंद-मूल-फल आदि से पेट की ज्वाला शांत करता होगा और वृक्षों के पत्तों तथा छालों के द्वारा जाड़े और गर्मी से अंगों का परित्राण करता होगा। जंगली जानवरों को मार उनके कच्चे मांस का एक ओर भक्षण करता था, तो दूसरी ओर उनके चमड़ों से जाड़े में शरीर का परित्राण। कानन में प्रवाहित सरिताओं के स्वच्छ सलिल और पथरीले भू-भाग में कलकल-रव करते हुए जल-सीकरों को बिखेरते झरने उसकी प्यास प्रशान्त करने में समर्थ थे। मेरी दृष्टि में अधिक संभव है कि अशन, वसन और सलिल की भावनाएँ प्रायः एक ही समय उसके मन में उपजी होंगी। कारण, ये तीनों शरीर-विकास के प्रमुख साधन हैं। वसन का विकास अवश्य क्रमिक होगा। और, मानव-वेश-भूषा मनुष्य की निरंतर चेष्टा-परंपरा का परिणामस्वरूप होगी। आतप, शीत तथा वृष्टि प्रकृति के ध्वंसकारी अवयव हैं। प्रत्येक जीव-जंतु को इनसे बचने के लिए कुछ-न-कुछ उपायों का अवलंबन करना पड़ता है।

आज भी छोटानागपुर के उराँव, मुंडा तथा पलामू के भुइयाँ, मुसहर आदि के शरीर पर वस्त्र नहीं के बराबर रहते हैं। कमर में केवल तीन-चार उँगली विस्तृत वस्त्र परिवेष्टित रहता है। हेमन्त में जब कड़ाके का जाड़ा पड़ता है, हमारे ये बन्धु शरीर की संरक्षा पुआल के बीच घुसकर करते हैं या जलती ठेंगुर के समीप पड़े रह कर। ग्रीष्म के भीषण उत्ताप से वे उतने भीत नहीं होते, पर पावस जब अपनी काली-काली घटाओं के साथ चढ़ आता है,

---

[1] "Many of the female figures were a very distinctive headdress which rises fan-like from the back of head. In some cases the head-dress appears to rise direct from the head, In others, it forms part of a cirb that falls down at the back of the head, when head-dress is held in place by a band around the forehead."

× × ×

"It must have been made from some light material such as linen cotten or wool.

There is rarity of such figures at Mohenjodaro. For some reason such figures were not popular in clay. Women also wore a close fitting cap with longprint. A very similar cap was sometimes worn by men. He further makes metes of masks and girdles."

Sir John Marshal in his work—Mohenjodaro and the Indian Civilization. Vol. 1, Chapter 18. P. 328.

तब हमारे ये पड़ोसी महुलाम, पलाश आदि के पत्तों से बनी छोपी ओढ़ शरीर को बचाते हैं। आज के सभ्य युग में भी वे इस दयनीय स्थिति में हैं।

मानव-मस्तिष्क के क्रमिक विकास के साथ-साथ मानव-वसन में भी परिवर्त्तन का क्रम जारी रहा। शिकारी अवस्था में पशुओं के चर्म या उनके रोम वसन के विषय होंगे। कहा जाता है कि आधुनिक तथाकथित सभ्य मनुष्य को शिकारी, पशुपालक, गृहस्थ, शिल्पी, आदि अनेक अवस्थाओं से पार होना पड़ा है। प्रत्येक अवस्था में उसे शरीर को सम्यक् रूप से सुरक्षित रखने के लिए संघर्ष करना पड़ा है। पत्ते, वल्कल, ऊन, रेशम, कपास, पटुआ आदि के वसन तैयार करने की विधि निकालने में उसका मस्तिष्क चेष्टायमान रहा है। वस्त्र के विकास का यही संक्षिप्त इतिहास है।

हमारी आर्यजाति को भी वसन-निर्माण की विधियाँ विकासवाद से ही उपलब्ध हुई होंगी। इस जाति की गति-विधि की पहली झलक हमें ऋग्वेद की ऋचाओं में मिलती है। वहाँ जो समाज का चित्र हमें प्राप्त होता है, वह अति विकसित है।

ऋग्वैदिक साक्ष्य—ऋग्वैदिक आर्य गाँवों में रहते हैं या टोलियों में। खेती करना जानते हैं। घोड़े, गाय, ऊँट, गधे, हाथी, बकरे, भैंस और अन्य पशु उनके साथ हैं। उनके बीच चिकित्सक, बढ़ई, विश्वकर्मा (इंजिनियर) कवि, दार्शनिक, व्यापारी आदि दीख पड़ते हैं। मनुष्य और देवता के सम्मिलित नेतृत्व की उनकी अद्भुत कल्पना तत्कालीन विकसित समाज की परिचायिका है। वे स्वर्ण, रौप्य, ताम्र, लौह आदि प्रधान धातुओं से परिचित हैं। लोहे को वे कृष्ण अयस् कहते हैं। घात-प्रतिघात, आक्रमणकारी तथा परित्राणशील—दोनों प्रकार के आयुधों के वे जानकार हैं। उनकी सांग्रामिक चेतना-शक्ति इतनी प्रबल और प्रबुद्ध है कि वे देवों को भी योद्धा के रूप में परिगृहीत करते हैं।

निम्नस्थ ऋचाओं पर विहंगम दृष्टि डालते ही ऋग्वैदिक सभ्यता की झलक मिल जायगी—

(१) यस्य अश्वास प्रदिशि यस्य गाव,
यस्य ग्रामाः यस्य विश्वे रथासः।
यः सूर्यं यः उषसम् जजान य अपाम्
नेता सजनासः इन्द्रः। —ऋग्, मंडल २–१२–७

—मनुष्यो, वह इन्द्र है जो जल का नेता, उषा का उत्पादक और सूर्य का जनक है। उसी की देन अश्व, गो, ग्राम, रथ आदि हैं।

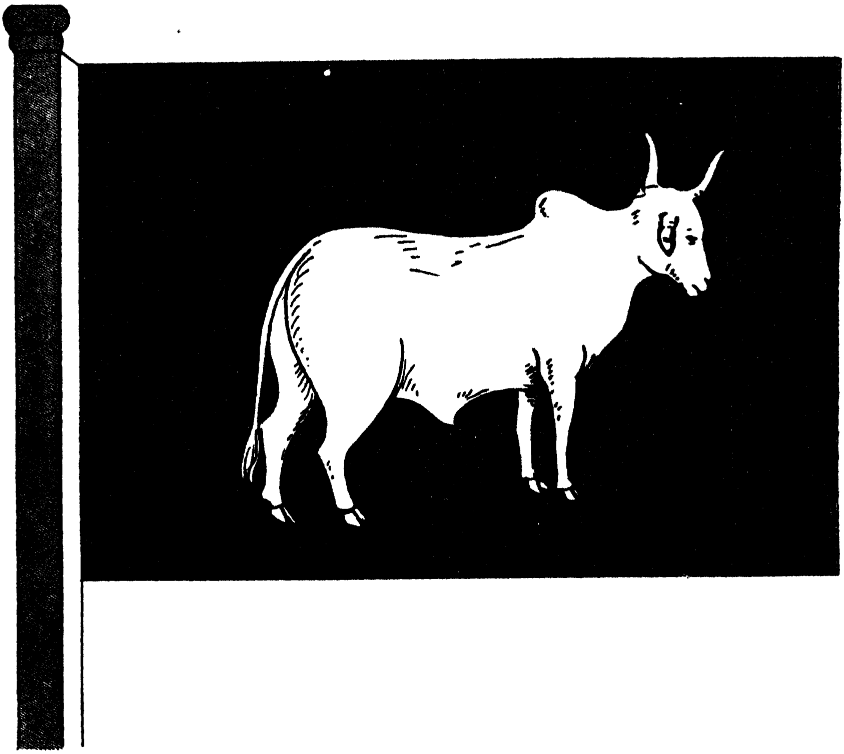
(२) दाना मृगो न वारणः पुरत्रा चरथं दधे।
—ऋग्, मंडल ८–३३–८

यहाँ वारण (हाथी) का उल्लेख है।

(३) रात्री वासः तनुते सिमस्मै। —ऋग्, १–११५–४

रात अपना कपड़ा सभी पर फैलाती है। कपड़े के लिए वास शब्द प्रयुक्त हुआ है।

(४) बिभ्रद्द्रापिं हिरण्मयं वरुणो वस्त्र निर्णिजम् परिस्पशो निषेदिरे।
—ऋग्, १–२५–१३



गोवृषो गौतमस्यासीत् कृपस्य सुपरिष्कृतः।
स तेन भ्राजते राजन् गोवृषेण महारथ॥
—(महा० द्रोण०)

सौवर्ण कवच तथा दीप्तिमत् वस्त्र धारण किये चर वरुण के चारो ओर बैठे हैं। यहाँ कवच, वस्त्र तथा गुप्तचरों का उल्लेख मिलता है। इस मंत्र में कवच के लिए 'द्रापि' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

(५) सांग्रामिक क्षेत्र में चिकित्सकों का दल रहता है, जिसका कर्त्तव्य आहत सैनिकों की सेवा करना है। रोगग्रस्त योद्धाओं को औषधि देना तथा सैनिकों के स्वास्थ्य पर ध्यान देना है।

आशुभ्रायातमश्विना सश्वा गिरों।
दस्रा जुजुषाणयुवाकोः॥ —ऋग्, मंडल ७ सूक्त ६८—१

शुभ्र अश्विन घोड़ों पर यहाँ आवें।

ऋग्वैदिक चिकित्सक जो युद्ध में सहायक होते थे, स्वयं शूरवीर और अश्वारोही सैनिक-से होते थे।

(६) ऋग्वेद के मंडल २, सूक्त ३३ में मरुतों का वर्णन हुआ है। मरुत् रुद्र के पुत्र हैं और उनके सिर पर सौवर्ण शिरस्त्राण हैं, कंधे पर रंग-विरंग के चर्म और भाले और छाती पर सौवर्ण कवच। सोने के रथ, जिन्हें घोड़े खींचते हैं, उनके यान हैं। परशु, परिघ, धनुष्, बाण जैसे शस्त्रों से सुसज्जित वे इन्द्र के सहायक हैं। इस मंत्र में सिर की वेश-भूषा, परित्राणशील चर्म, कवच आदि सैनिक पोशाकों का उल्लेख मिलता है। साथ-साथ आयुधों की भी चर्चा।

घोड़े, हाथी, रथ आदि के उल्लेख से ऋग्वैदिक युग की चतुरंगिनी सेना का पता चलता है।

(७) तैत्तिरीय संहिता कांड ४, प्रपाथक ५ और सूत्र ३ में रुद्र का वर्णन पगड़ीधारी योद्धा के रूप में मिलता है। इसी संहिता के इसी कांड के षष्ठ प्रपाथक के षष्ठ सूत्र में अश्वमेध की चर्चा है। वहाँ वक्षस्त्राण और कवच के उल्लेख हैं।

(८) केजी (Kaegi) अपने ऋग्वेद-ग्रंथ (Kaegi's Rigveda) में लिखते हैं कि ऋग्वैदिक आर्य कपड़ा बुनना और सीना दोनों जानते थे। भेड़ के ऊन से कपड़े बनाते थे और घरेलू पशुओं की रक्षा भी कम्बल से करते थे। वे आभूषणप्रिय थे और उन्हें धारण करते थे।

(९) ऋग्वैदिक आर्यों के बीच कार्यशील वणिक् थे।

वणिक् वङ्कु राया पुरुषम्।
कारुरहं ततो भिषगुपल प्रक्षिणीनना॥ —ऋग्, ५।४५।६

(१०) ऋग्वैदिक योद्धा की अन्त्येष्टि क्रिया सैनिक सम्मान के साथ होती थी। मृतक वीर जब चिता पर सवार किया जाता था, उस समय भी उसके हाथों में धनुष-बाण रहते थे। आग देनेवाले वीर मृतक के हाथों में स्थित धनुष से शक्ति, तेजस्विता तथा सम्मान की प्रेरणा प्राप्त करते थे।

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्यास्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय॥ —ऋग्, मं० १०।१८।९

हमारा अनुमान है कि ऋग्वेदिक आर्य पहले सैनिक था तब पीछे कुछ और। वीर राष्ट्र के व्यक्ति ऐसे ही हुआ करते हैं।

अथर्ववैदिक साक्ष्य--अथर्व १५।११ में वसन और वेश-भूषा का स्पष्ट उल्लेख है। वहाँ व्रात्य का वर्णन रूपक-स्वरूप है। इस चर्चा में वस्त्र, शिरस्त्राण, आभूषण, रत्न, सांग्रामिक स्यंदन, सारथि सभी आ जाते हैं। ज्ञान व्रात्य का वसन है, दिवस उनके शिरस्त्राण, रात्रि केश और तारों की प्रभा रत्न। इसी ग्रंथ के सूक्त ३, मंत्र ७ में पावन श्रुति उसके कम्बल के रूप में, भक्ति रजाई के रूप में, साम बिछौने के रूप में वर्णित हुए हैं।

वौन रॉथ (Von Roth) के मतानुसार व्रात्य यति संन्यासी थे। अथर्व १८ में यह व्रात्य परमात्मा के रूप में वर्णित है। इस व्रात्य का दक्षिण नेत्र सूर्य, वामनेत्र चन्द्र, दक्षिण कर्ण अग्नि, वामकर्ण पवमान और नासिका-छिद्र दिवारात्रि हैं।

उपर्युक्त चर्चा से यह बात विदित होती है कि वैदिक आर्यों के समय वेश-भूषा का सम्यक् विकास हो चुका था। उनके सिर की रक्षा के लिए शिरस्त्राण, शिरोवेष्टन, उष्णीष, शरीर के लिए वसन, वक्षस्त्राण, कम्बल, कवच, रत्न, भूषणादि सभी प्रयोग में आने लगे थे। सुवर्णादि धातुओं से परिचित थे। युद्ध में रथ, घोड़े, हाथी प्रयुक्त होते थे। आयुधों में परशु (कुल्हाड़ी), बर्छा, बलम, मुद्गर, धनुष-बाण, वज्र आदि प्रमुख थे।

वेदांग-साक्ष्य—वेदों के बाद वेश-भूषा के संबंध में वेदांग बड़े सहायक हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्यौतिष और निरुक्त वेदांग कहलाते हैं। वेश-भूषा के लिए कल्प बड़े ही महत्त्व-पूर्ण हैं। गृह-सूत्र कल्प के अंग हैं और इन गृह-सूत्रों में आर्यों के जन्म से मरण तक के सभी संस्कारों का वर्णन मिलता है। गृह-सूत्रों के अनेक प्रकार हैं। कुछ गृह-सूत्र ऋग्वैदिक स्कूल के हैं, तो कुछ यजुष् के और कुछ साम के। हमने शांखायन, आश्वलायन, द्राह्यायण, कात्यायन, जैमिनि, पारस्कर तथा खादिर गृह-सूत्रों से वेश-भूषा के संबंध में पर्याप्त सामग्री संगृहीत की है।

शांखायन ऋग् पर अवलंबित है। इस गृह-सूत्र के निर्माणकर्त्ता शांखायन हैं, पर यह गोत्र-संबंधी संज्ञा है। वस्तुतः, सुयज्ञ इसके निर्माता हैं और वह शांखायनगोत्रसंभूत थे। खीष्ट से १००० वर्ष पूर्व हो चुके थे। इस सूत्रग्रंथ में आर्य-संतान के सभी संस्कार वर्णित हैं।

संतान के उत्पन्न होते ही उसके दाहिने हाथ में ज्ञानसूत्र के साथ सुवर्ण बाँधा जाता था।

—शां०, अध्या० १, खंड २४

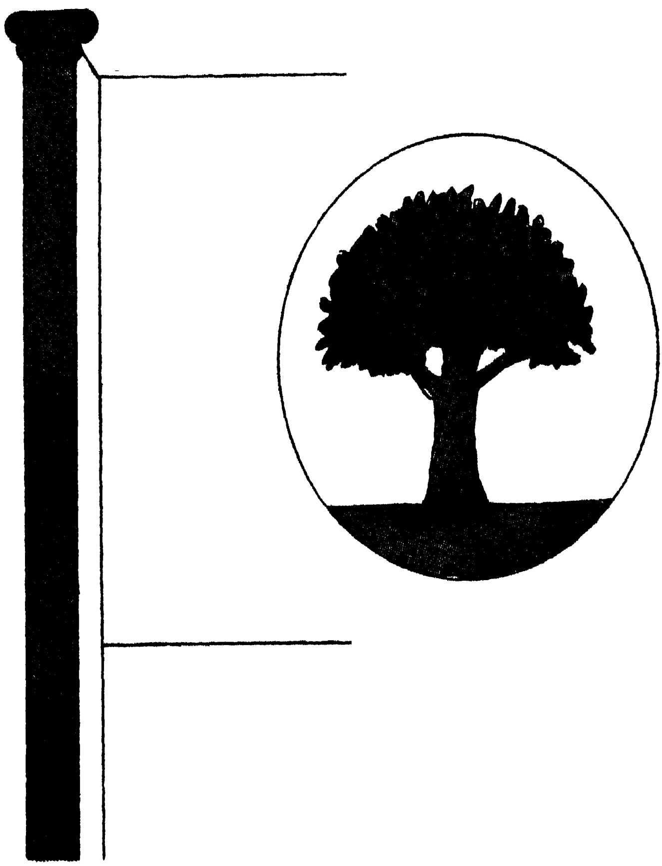
आश्वलायन गृह-सूत्र के अनुसार जन्मग्रहण के पश्चात् आर्य-संतान को सुवर्ण-पात्र में सौवर्ण चमच से मधु-घृत दिया जाता था।

—आश्व०, अध्या० १, कंडिका १५-१६।

यह संस्कार आर्य-जाति की आर्थिक समृद्धि का परिचायक है। सौवर्ण पात्र, सौवर्ण चमच, मधु-घृत, सौवर्ण यंत्र—सभी समृद्ध व्यक्ति ही व्यवहृत कर सकते हैं।

जन्म-संस्कार के पश्चात् अन्नप्रासन-संस्कार बड़ा महत्त्व रखता था। जन्म के छठे महीने में यह संस्कार होता था। बकरे का मांस, तीतर का मांस, घृत के साथ दधिमिश्रित ओदन, घृत और मधु आदि आर्य-संतान को अन्नप्रासन के दिन मिलते थे।

—आश्व०, अध्या० २, कंडिका १६



एष वै सुमहाञ्छ्रीमान् विटपी संप्रकाशते।
विराजत्युज्ज्वलस्कंधः कोविदारध्वजो रथे॥
—रामायण, अयो०, सर्ग ९६, १८

(इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं का झंडा)

सभी गृह-सूत्रकारों में आश्वलायन बड़े उदार विचार के हैं। वह जानते थे कि लड़नेवाली जाति बिना मांस के नहीं रह सकती। इसलिए, योद्धा के रूप में आर्य-संतान को देखने की आकांक्षा से उन्होंने मांस की व्यवस्था उस संस्कार में की होगी।

तीसरा उत्कृष्ट संस्कार उपनयन था। साधारणतः यह संस्कार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालकों का था। ब्राह्मण बालक के अष्टम वर्ष में यह संस्कार होता था, क्षत्रिय बालक के ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य-संतान के बारहवें वर्ष में। उपनयन के लिए ये वर्षग्रन्थियाँ अनिवार्य न थीं। ब्राह्मण के बच्चे जब पाँच के होते थे, तब भी यह संस्कार निष्पन्न होता था।

इस संस्कार के अवसर पर ब्राह्मण-संतान को नूतन वस्त्र, मृगचर्म, मुंज का डंडा (Belt) और नाक तक की ऊँचाई का पलाश-दंड दिया जाता था। क्षत्रिय बालक को वस्त्र, चित्र-मृग का चर्म, ज्या का डंडा और न्यग्रोध (वटवृक्ष) का दंड उपलब्ध होते थे। दंड की ऊँचाई ललाट तक होती थी। वैश्यपुत्र, नूतन वस्त्र, गोचर्म, ऊन का डंडा और उदुंबर का दंड प्राप्त करता था। इसका दंड सिर की ऊँचाई का होता था। तीनों ब्रह्मचारी कहलाते थे।

जो डंडा इन्हें मिलता था उसमें एक, तीन या पाँच ग्रंथियाँ (गाँठें) होती थीं। इन गाँठों का आशय यह था कि जो ब्रह्मचारी एक ऋषिकुल से संबंध रखता था, उसके डंडे में एक गाँठ; जो तीन ऋषिकुलों से, उसके डंडे में तीन गाँठें और जो पाँच ऋषिकुलों से, उसके डंडे में पाँच गाँठें होती थीं। —शां० अध्या० २ खंड २

शांखायन-सूत्र से यह पता नहीं चलता कि किस प्रकार के नूतन वस्त्र उपनयन-काल में ब्रह्मचारियों को मिलते थे। आश्वलायन यहाँ स्पष्ट हैं। इनके मतानुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारी रक्त-पीत वस्त्र पहनता था, क्षत्रिय फीका रक्त-वस्त्र और वैश्य पीतवस्त्र।

प्रत्येक वर्ग के ब्रह्मचारी का अपना परिच्छद (Uniform) था। आज के सभ्य देशों के स्नातकों के परिच्छद भी भिन्न-भिन्न रंग के होते हैं। उनकी अपनी विशेषता होती है। हमारे प्राचीन भारत के ब्रह्मचारी और स्नातक के परिच्छद भी अपनी विशेषताएँ रखते थे। दंड-धारण के संबंध में आश्वलायन का वक्तव्य है कि वैश्य ब्रह्मचारी विल्व (बेल-वृक्ष) का दंड ले सकता है। किसी भी वर्ग का ब्रह्मचारी दंड-ग्रहण में स्वतंत्र है।

—आश्व०, कंडिका २०

द्राह्यायण गृह-सूत्र, जो सामवेद की शाखा है, एक नई बात उपस्थित करता है। ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत के बिना कोई कर्म नहीं कर सकता। यह यज्ञोपवीत या तो कपास के सूत्र का बना हो, या रज्जु का, या वस्त्र का, या कुश का।

यज्ञोपवीतं कर्मांगं स्यात्। सौत्रं। रज्जुर्वासो वा कौशम् वा। —द्राह्या० १।१।४

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी किस वस्तु के बने वस्त्र पहनें, इसका वर्णन पारस्कर गृह्यसूत्र करता है। पारस्कर का उल्लेख आचार्य-रूप में पाणिनि की अष्टाध्यायी में हुआ है।

पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायां—पाणिनि।

गोल्ड स्टूकर (Gold Stucker) पाणिनि का समय खृष्ट से ५०० वर्ष पूर्व बताते हैं। अतः पारस्कर या तो पाणिनि के पूर्ववर्त्ती आचार्य हैं या समकालीन। इस सूत्र-

कार का कथन है कि ब्राह्मण ब्रह्मचारी पटुआ का वस्त्र धारण करे, क्षत्रिय कौषेय और वेश्य ऊन का। ब्रह्मचारियों को अन्तर्वस्त्र और उपरि-वस्त्र धारण करना चाहिए। अन्तर्वस्त्र की चर्चा ऊपर हो चुकी। उपरि-वस्त्र के संबंध में आपका निर्देश है कि ब्राह्मण ब्रह्मचारी रुरु-मृग का चर्म धारण करे। राजन्य ब्रह्मचारी चित्र-मृग का और वैश्य ब्रह्मचारी अज-चर्म या गो-चर्म का। ये निर्धारित उपरि-वस्त्र सुप्राप्य न हों तो सभी ब्रह्मचारी गो-चर्म धारण कर सकते हैं। दंड के संबंध में इस स्कूल के आचार्यों का निर्देश शांखायन-स्कूल से मिलता-जुलता है। ब्राह्मण ब्रह्मचारी पलाश-दंड ग्रहण करे। राजन्य बिल्व-दंड और वैश्य उदुंबर-दंड। अन्ततः इनका कहना है कि कोई भी ब्रह्मचारी कोई दंड ले सकता है।

—पारस्कर गृह्यसूत्र, खंड २, कंडिका ५

इन दोनों छात्रों के परिच्छद मनमाना हैं। प्राचीन भारत के छात्रों के अध्ययन, चरित्र तथा व्यापार के सूचक उनके परिच्छद थे। पुरातन भारत के छात्रों का जीवन तपोमय था। उन्हें कठिन नियमों और व्रतों का पालन करना पड़ता था। नियम बड़े कड़े थे। ग्रीस देश के स्पार्टा के विधान-विधायक लाई करगस-युग के युवकों की भाँति प्राचीन भारतीय छात्रों को भिक्षा माँगना, भूमि पर सोना, अरण्य से समिधा लाना, उन्हें उचित स्थान पर रखना, अपने हाथों से चौका देना, पानी छिड़कना, निश्चित समय पर मौन-व्रत लेना आदि अनेक काम करने पड़ते थे। वे न तो हजामत बनवा सकते थे और न अपने दाँतों को रँग सकते थे। इन कठिन नियमों की व्यवस्था का एकमात्र उद्देश्य छात्रों को सबल, स्वावलंबी श्रमशील तथा सहिष्णु नागरिक के रूप में परिणत करना था। भिक्षा माँगने के संबंध में शांखायन का मत है कि उन दिनों राज्य के ऐसे ही नियम थे कि ब्रह्मचारी जिससे भोज्य पदार्थ माँगता, वह न नहीं कर सकता था।

ब्रह्मचारी आश्रमों में शिक्षा प्राप्त करते थे। इसकी चर्चा अन्यत्र होगी। अतीत भारत छात्रों के खिलाने-पिलाने पर विशेष ध्यान देता था। अग्निहोत्र, बलीवर्द तथा ब्रह्मचारी तभी विकसितावस्था को प्राप्त करते हैं जब समीचीन रूप से परिपालित होते हैं। यदि उन्हें ठीक से न खिलाया जाय, तो इनकी वृद्धि रुक जाती है।

—शां०, खं० १६, मं० ५

पश्चिमी राष्ट्र ही आज :शांखायन-सूत्र का पालन कर रहा है और वहाँ छात्र और बालक खबरगीरी, चिंता और गंभीर गवेषणा के विषय हैं।

छात्रों की शीर्ष-वेश-भूषा के संबंध में मुझे गृह्यसूत्रों से कोई संकेत न मिला। पर ऐतरेय ब्राह्मण के पृष्ठों को एक दिन उलट रहा था कि सहसा एक संदर्भ प्राप्त हुआ। महानाम्नी मंत्रोच्चारण करते समय वेदपाठी ब्रह्मचारी को शिरोवेष्टन धारण करना चाहिए। इन मंत्रों के अध्ययन के पश्चात् ब्रह्मचारी को चाहिए कि आचार्य को उष्णीष, डंडा, पात्र और सुंदर कुण्डोघ्नी गाय दे।

सूत्रों में यह निदश भी है कि वस्त्र, डंडा, दंड आदि फट जायँ तो उनका संस्कार (मरम्मत) आवश्यक है। यदि वे अधिक जीर्ण-शीर्ण हो जायँ, तो ब्रह्मचारी नवीन वस्त्रादि ग्रहण करने में स्वतंत्र थे। ब्रह्मचारियों की शिक्षा शेष होने पर उत्सर्ग-महोत्सव या समारोह

हुआ करता था। उत्सर्ग-समारोह वेश-भूषा पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। अध्ययन समाप्त होने पर ब्रह्मचारी वृषभ-चर्म पर बिठाया जाता था। उसकी दाढ़ी-मूँछ बनाई जाती थी और नखादि काटे जाते थे। वह अभिषिक्त होता था। विशेष रूप से स्नान करता था। दो वस्त्र अन्तः और उपरि पहनने के लिए मिलते थे। सौवर्ण अलंकारों से भी वह सुसज्जित होता था। उपानह् धारण कर हाथ में बाँस का दंड ग्रहण करता था। रथ पर सवार हो सज-धजकर गुरुकुल से अपने गृह की ओर प्रस्थान करता था। —शां०, अध्या० ३, खंड १

आश्वलायन गृह्य-सूत्र में भी उत्सर्ग-समारोह वर्णित है। उत्सर्ग-समारोह के पूर्व प्रत्येक ब्रह्मचारी अपने तथा आचार्य के लिए निम्नस्थ वस्तुओं की प्राप्ति करता था —

(१) गले में धारण करने के लिए एक रत्न
(२) दो कर्ण-भूषण
(३) एक जोड़ा परिधेय वस्त्र
(४) यंत्र
(५) एक जोड़ा उपानह्
(६) दण्ड (छड़ी)
(७) माला
(८) करंज फल का चूर्ण शरीर में अवलेपनार्थ
(९) लेप (Ointment)
(१०) अंजन (Eye-salve)
(११) शिरोवेष्टन

अपने लिए ये वस्तुएँ उसे भले ही सुप्राप्य न हों, पर आचार्य के लिए तो उन्हें प्राप्त करना आवश्यक था। गृह-प्रत्यागमनोत्सुक स्नातक इन वस्तुओं को गुरु के चरणों पर अर्पित करता था। —आश्व०, अध्या० ३, कंडिका ८

महाभारत तथा रघुवंश में कुछ ऐसे प्रसंग हैं, जहाँ दैन्य-पीडित छात्र भी राज्यपालों से माँगकर गुरु-दक्षिणा चुकाते थे। कौत्स को गुरुदक्षिणा के लिए रघु ने सहस्रों की संख्या में निष्क दिये थे। प्रत्येक राज्य को योग्य ब्रह्मचारियों की जरूरत थी। अतः उनकी आर्थिक सहायता करना राज्य का निजी कर्त्तव्य था।

क्षत्रिय ब्रह्मचारी तथा अन्य ब्रह्मचारियों के उत्सर्ग-समारोह एक-से नहीं होते थे। क्षत्रिय स्नातक उत्सर्ग-समारोह के पश्चात् जब रथ पर सवार होने लगता था, तब वह उसके पहिये (चक्र) को, धूरा को और नाभि को अपने हाथों से छूता था। आचार्य यह मंत्र पढ़ते थे, जिसका आशय है—

रथ के घोड़े मजबूत बने रहें, और धुरी दृढ़। —ऋग् मं० ३।५।१७

भवन की ओर प्रस्थान करता हुआ राजन्य स्नातक रथ के चक्र, धुरी और अन्य अवयवों को छूने के व्याज से उनकी परीक्षा करता था कि वे उसके भार का सहन कर सकेंगे या नहीं। संभव था कि मार्ग में शत्रु से लोहा लेना पड़े।

आश्वलायन, अध्याय ३, कंडिका १२ में क्षत्रिय स्नातक के कवच धारण करने का हृदयग्राही वर्णन मिलता है। उत्सर्ग-समारोह के पश्चात् ब्रह्मचारी स्नातक कहलाता था।

राजपुरोहित स्वयं राजन्य स्नातक को कवच पहनाते हैं। उसके हाथों में धनुष-बाण, तरकस तथा अन्य आयुध देते हैं। प्रत्यंचा के संघर्ष से कुमार के बाहु को अक्षत रखने के लिए बाहु पर चर्म बाँधते हैं। आगे बाँधने के समय यह सांग्रामिक मंत्र-पाठ करते हैं, जिसका आशय है—

'सर्प की भाँति तुम्हारे बाहु को यह अपने डैनों से परिवृत्त करे।' —ऋग्, ६।७५।१४

पारस्कर गृह्यसूत्र में उत्सर्ग-समारोह के पूर्व ब्रह्मचारी के शरीर में उबटन लगाने का विधान है। उबटन के पश्चात् स्नान कर वह अधः और उपरि दोनों वस्त्र धारण करता है। सिर पर पाग बाँधता है। कानों में कर्ण-भूषण पहन आँखों में अंजन करता है और दर्पण में मुँह देखता है। अनिष्ट से रक्षा के लिए यंत्र पहनता है और जूते धारण कर हाथ में दंड लेता है।

जैमिनि-गृह्य-सूत्र में वेदों के छात्रों के लिए यह निर्देश है कि वे नूतन वस्त्र धारण कर एरका (एक प्रकार की घास) के आसन पर बैठें। दंतमंजन, अवलेप, पुष्प, अंजन, दर्पण, दो नवीन वस्त्र, तीन गाँठ के यंत्र, वंशदण्ड, श्वेत रंग के उपानह् उत्सर्ग-समारोह के अवसर पर उनके लिए अपेक्ष्य हैं। इन्हें धारण कर वेद का ब्रह्मचारी आचार्य से मधुपर्क के लिए अनुरोध करता था। मधुपर्क-पान की प्रथा चाय-पार्टी की-सी प्रतीत होती है। मधुपर्क दधि, मधु तथा घृत के संयोग से तैयार होता था। इसे कांस्य (brass), पात्र में रखकर उसी के ढक्कन से ढाँकते थे। मधुपर्क-पान के लिए सभी जब आसन पर बैठते थे, तब सर्वप्रथम स्नातक को मधुपर्क-पात्र मिलता था। वह ढक्कन को हटाकर तीन बार अपने दाहिने हाथ की तर्जनी अँगुली से चलाता था। पुनः तर्जनी तथा अंगूठे से मधुपर्क के थोड़े अंश को पृथ्वी पर गिराता था और तीन बार में इसे चाट जाता था। मधुपर्क लेते समय वह यह मंत्र पढ़ता था, जिसका आशय है—

'कीर्त्ति, संपत्ति, शक्ति तथा तेजस्विता की प्राप्ति के लिए, मधुपर्क! मैं तुझे ग्रहण कर रहा हूँ।'

मधुपर्क के अनेक प्रकार थे। जैसे, इन दिनों दूध के विना भी चाय तैयार होती है, उसी प्रकार दूध-पानी के संयोग से भी मधुपर्क तैयार होता था। इस प्रकार के मधुपर्क को 'पयस्य' कहते थे। जब मधुपर्क दधि और जल के संयोग से बनता था तब 'दधिमंथ' कहलाता था।

प्राचीन भारतीय छात्रों की वेश-भूषा के संबंध में मेरी खोजें यहीं तक सीमित हैं। ब्रह्मचर्य-जीवन को पार कर आर्य-संतान गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती थी। गृह-सूत्रों में उनके विवाहादि के वर्णन हैं। साथ-साथ वेशभूषादि की भी हल्की तस्वीर दीख पड़ती है।

शांखायन का निर्देश है कि युवती विवाह के अवसर पर नवीन रंगीन वस्त्र धारण करे।
—शा०, अध्या० १, खंड ११।३

वर को अंजन और उबटन की पेटी लिये रहना चाहिए। वर और कन्या दोनों अंजनादि इन्हीं पेटियों से लें। वधू के शरीर में लाल और काले ऊनी या क्षौम-सूत्र से तीन रत्न बाँधे जाते थे। वर की ओर से वधू को एक और वस्त्र प्राप्त होता था।

विवाहित स्त्री जब गुर्विणी हो जाती थी, तो गर्भ के सप्तम मास में उसे सौवर्ण आभूषण पहनाये जाते थे। —शां०, अध्या० १, खंड २४

द्राह्यायण गृह्य-सूत्र, प्र० १, खंड ३ के अनुसार कन्या स्नान कर विवाह के अवसर पर दो वस्त्र धारण करती थी—अन्तः और उपरि। एक पहनती थी और दूसरे को शरीर में लपेटे रहती थी।

विवाह के पश्चात् वर-वधू जब घर जाने लगते थे, तब रथ पर सवार होते थे। मार्ग में जलाशय मिलने पर उन्हें नाव पर चढ़ना पड़ता था।

वस्त्रों की खोज में संलग्न मुझे आश्वलायन गृह्य-सूत्र में एक वर्णन मिला जो बड़ा ही मनोरंजक प्रतीत हुआ। प्राचीन आर्यों ने अपनी लड़कियों के लिए लड़कों के वरणार्थ कसौटी तैयार की थी। साधारणतः तीव्रबुद्धि लड़के से लड़की का ब्याह और सुन्दरी, स्वस्थ तथा शीलवती लड़की से लड़के का ब्याह होता था। कभी-कभी लड़की की परीक्षा के लिए पृथ्वी के आठ स्थलों से मिट्टी लायी जाती थी— (१) शस्यश्यामल क्षेत्र से, (२) गोशाला से, (३) वेदी से, (४) सदावह झरने से, (५) पाशागृह से, (६) चौहट्टे से, (७) ऊषर भूमि से और (८) श्मशान से। आठों स्थलों की मिट्टी को पुड़िया में बंदकर एक साथ रख देते थे। शस्य-श्यामल भूमि की मिट्टी को चुननेवाली कन्या शुभावह समझी जाती थी। आशा की जाती थी कि उसकी संतान अन्न-संपन्न होगी। गोशाला की मिट्टी पसंद करनेवाली गोसंपन्न संतान पैदा करनेवाली समझी जाती थी। वेदी की मिट्टी चुननेवाली कन्या की संतान ज्ञानी और तेजस्वी होगी—ऐसा अनुमान किया जाता था। नहीं सूखनेवाले जलाशय की मिट्टी चुननेवाली की संतान सभी बातों में सुखी होगी—ऐसी आशा की जाती थी; एवं पाशागृहवाली मिट्टी चुननेवाली की संतान जुआड़ी, चौराहे की संतान चारों ओर फिरनेवाली, श्मशान की मिट्टी चुननेवाली विधवा और ऊषर भूमि की मिट्टी चुननेवाली बाँझ होगी—ऐसा अनुमान किया जाता था।

गृहस्थाश्रम में निवास करनेवाले प्रायः सभी वर्ग के भारतीय थे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने पर गृहस्थों को समृद्धि के लिए यज्ञानुष्ठान करना पड़ता था। विभिन्न यज्ञों के अवसर पर विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषण व्यवहार में आते थे।

यज्ञों में राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध आदि सार्वभौम ख्याति के लिए हुआ करते थे।

कात्यायन श्रौत-सूत्र के अनुसार वाजपेय यज्ञ के अवसर पर राजन्य यजमान की पत्नी रेशमी साड़ी पहनती थी। साड़ी के अतिरिक्त 'चण्डातक' या 'दहर' धारण करती थी। चण्डातक की व्याख्या 'अर्द्धोरूपर्यन्तं वस्त्रे' के रूप में हुई है। आधी जाँघ तक यह वस्त्र आता था। यह अन्तर्वस्त्र के रूप में होगा। इसके अतिरिक्त चादर (उत्तरीय) ग्रहण करती थी।

कात्यायन पाणिनि के समकालीन समझे जाते हैं। उनके युग में वस्त्रों का बाहुल्य था। कारण, यज्ञीय स्तंभ (यूप) को सत्रह वस्त्रों से वेष्टित करने का विधान था। यज्ञ के अंत में १७०० वसन और १७०० गायें पुरोहित को दी जाती थीं।

सप्तदश सप्तदश शतानि ददाति
गोवस्त्राजावीनाम् ।—कात्यायन, अध्या० १४–५२

राजा ही वाजपेय यज्ञ का अधिकारी था। तत्कालीन समाज सांग्रामिक मस्तिष्क का (Military Minded) था। पुरोहित विद्याव्यसनी होते हुए भी शौर्य के प्रतीक थे। उन्हें वस्त्र, सुवर्ण, तीन घोड़ेवाले रथ, लाल उष्णीष या लाल शिरोवेष्टन, तलवार, सुदृढ़ धनुष, बाणों से भरे तरकस, चर्म-भस्त्र दान में प्राप्त होते थे।

वासो देयम् । हिरण्यम् । कृष्णवासः । लोहितः उष्णीषः । असिर्नखरः । त्रियुत्यो अश्वरथोदक्षिणा । उत्तरणवेष्टितं धनुः । चर्मतूण्यः सेषुकाः च र्ममण्यः भस्त्राः ॥
—कात्या०, अध्या० १५

राजसूय-यज्ञ के अनुष्ठान के अवसर पर भी वस्त्रों के प्रयोग होते थे। यह यज्ञ भी शासक-वर्ग के द्वारा निष्पन्न होता था। राजा इस यज्ञ की सफलता से सार्वभौम मण्डलेश्वर घोषित होता था।

यज्ञ में भाग लेने के पूर्व राजा को कंचुक का परित्याग करना पड़ता था। कंचुक संभवतः प्रत्येक दिन धारण करने का वस्त्र था। यज्ञ के समय वह तार्प्य या क्षौम-वस्त्र पहनता था। क्षौम-वस्त्र रेशमी वस्त्र था। तार्प्य के ऊपर वह पाण्ड्व पहनता था। पाण्ड्व ऊनी वस्त्र था, पर रंगीन नहीं। तार्प्य और पाण्ड्व की शक्ल के संबंध में मुझे अधिक ज्ञात नहीं हुआ। सिर पर उष्णीष धारण करते थे। उष्णीष ऐसा बना होता था कि सिर पर धारण करने से वह मुख की भी रक्षा करता था। व्याघ्र-चर्म आसन का काम करता था।

राजा धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर और उसपर शर-संधान कर उसे अपने पार्श्व में रखता था। लौह-वर्म भी धारण करता था। —कात्या० अध्या० १५। १२९,१३२,१३३,१३६,१४४

यज्ञ के संपादन में ब्राह्मण पुरोहित राजा के सहायक होते थे। यज्ञ के अन्त में वे दक्षिणा प्राप्त करते थे। यज्ञ में उद्गाता (पुरोहित-भेद) को हिरण्यमयी माला मिलती थी, होता को रुक्म, अध्वर्यु को सौवर्ण दर्पण, प्रस्तोता को अश्व, मैत्रावरुण को वशा (गो-भेद), नेष्टापोता को धोती-चादर और ब्राह्मणाच्छंसिन् को ऋषभ। उन दिनों वस्तुएँ सिक्कों की स्थानापन्न थीं।

हिरण्यमयीं स्रजमुद्गात्रे रुक्मं होत्रे हिरण्यमयौ प्रकाशावध्वर्युभ्याम् अश्वं प्रस्तोत्रे वशा मैत्रावरुणाय ऋषभं ब्राह्मणाच्छंसिने वाससी नेष्टापोतृभ्याम् ॥
—कात्या०, अध्या० १५। २३६

महाभारत-साक्ष्य—महाभारत के सभा-पर्व में राजसूय यज्ञ का विशद वर्णन मिलता है। इस यज्ञ में भारतवर्ष के सभी राजा युधिष्ठिर की परिचर्या के लिए उपस्थित थे। उन्होंने जो उपहार धर्मराज को अर्पित किये थे, उनका उल्लेख वेश-भूषा के प्रसंग में असंगत न होगा।

(१) बैक्ट्रिया के यवनों (Greeks) ने द्रुतवेग पहाड़ी घोड़े, बहुमूल्य आसन, कीमती कम्बल धर्मराज को उपायन-रूप में दिये। —महा०, सभा-पर्व, ७८। १७

(२) तिब्बत के शासक, हूण तथा पर्वतस्थ राजाओं ने रेशम, कपास तथा ऊन के वस्त्र उपहार में दिये।

श्लक्ष्णं वस्त्रं कार्पासमाविकं मृदु चाजिनम्।—सभा० ६२।

(३) किरातों ने चर्मवसन, दुकूल, कौशिक तथा पत्रोर्ण दिये थे।—सभा० ७८।८५।६३

(४) वाह्लिक ने रथ। —सभा० ६८।५

(५) चेदिराज ने ध्वज। —सभा० ७६।६

(६) मगधराज ने स्रक् (माला) तथा उष्णीष।

(७) एकलव्य ने उपानह्।

(८) चेकितान ने उपासंग, काशिराज ने धनुष, शल्य ने असि और कांचनभूषण तथा शैक्य नकुल ने तलवार, चन्द्राकार चर्म (ढाल) दिये थे।

(६) कंभोजराज ने ऊनी वस्त्र, प्रावार, (Overcoat, Wrapper), मृगचर्म तथा अनेक वस्तुएँ भेंट में दी थीं (सभा० ७८)।

स्वयं युधिष्ठिर ने यज्ञ के अन्त में जो वस्त्रादि ब्राह्मणों को दिय थे, उनमें विविध भाँति के वसन, कम्बल, प्रावार, निष्क, सोने के बरतन तथा भूषणादि थे। —महा०, सभा-पर्व

राजसूय में उपस्थित राजों की शीर्ष-पोशाक में किरीट, मुकुट, शिरस्त्राण, शिरोवेष्टन, शाट और उष्णीष उल्लेख्य हैं। सैनिक तथा सार्वजनीन सभी प्रकार की शिरोवेशभूषा इनके अन्तर्गत हैं। शिरस्त्राण अवश्य लोहे आदि के टोप होंगे। शिरोवेष्टन फेटा, पगड़ी, पाग के रूप के होंगे। उष्णीष भी सैनिक वेश-भूषा होगा। —सभा०, अध्या० ३०

कुछ ऐसे भी राजकुमार थे जो तप्तकांचनकुंडल, हार, केयूर, कुक्षिबंधन, कुथ, चित्र-कंबल धारण किये हुए थे। —महा०, सभा०, ३४।५।८

महाभारत के विराट् पर्व में योद्धाओं के शरीर पर चार रंगों के परिच्छद (Uniforms) दीख पड़े थे। लाल, नील, श्वेत और पीत। आचार्य तथा स्नातक जो राज्य की ओर से युद्ध करते थे, श्वेत वस्त्र धारण करते थे। द्रोण तथा भीष्म श्वेतपरिच्छदधारी थे। अश्वत्थामा के परिच्छद नील थे, कृष्ण के पीत तथा कर्ण के रक्त। श्वेतवस्त्र सात्त्विक मनोवृत्ति के परिचायक हैं, नील तामस के, रक्त राजस के तथा पीत बुद्धिमत्ता के। देवों के गुरु बृहस्पति भी पीतवस्त्रधारी हैं। स्वयं विष्णु और उनके अवतार राम-कृष्ण भी पीत परिच्छद धारण करते हैं। हमारे नवग्रह भी वीर सैनिक हैं। सब के अपने-अपने परिच्छद और झंडे हैं।

प्राचीन भारतीय योद्धा सशस्त्र चलते थे। शस्त्र भी उनके परिच्छद का अवयव हो गया था। महाभारत में शाल्व जब कृष्ण की अनुपस्थिति में द्वारका पर चढ़ आया, तब नवीन आविष्कृत अस्त्र के साथ। वह युद्ध-यंत्र (War-Machine) की कोटि का था। बड़े-बड़े पत्थरों की चट्टानें सहज में फेंकी जाती थीं और विध्वंस-कार्य में वह बड़ा सहायक होता था।

आग्नेयौषधबलेन दृषत्पिण्डोत्क्षेपणानि।

शाल्व के ढाल लोहे और चमड़े के बने थे। आधुनिक बम के आकार के शस्त्र-गुडा (गोलकाः) प्रयोग में लाये गये थे।

महाभारत के वन-पर्व (अध्या० २७२।३५-३६) में यादव सैनिकों की वेश-भूषा का सुन्दर उल्लेख है। सिर पर उष्णीष (Helmet), कानों में कुंडल, किसी-किसी के सिर

पर मुकुट, गले में हार, बाहुओं पर अंगद, शरीर पर वर्म, हाथों में चर्म, किसी-किसी के माथे पर छत्र तथा पार्श्व में व्यजन (पंखे) थे। अँगुलियों में गोध-चर्म (गोह के चमड़े) का अंगुलित्राण भी रहता था। —महा०, अश्व० ३२

महाभारत के वीर सैनिकों के साथ सांग्रामिक वाद्य और सांग्रामिक स्वर-यंत्र (War-Whistles) रहते थे। शंख, गोविषाणक, द्वेड, जयमंगल और क्रकच सांग्रामिक स्वर-यंत्रों (Whistles) के भेद थे। द्वेड से सर्प-स्वर या सिंहगर्जन-सी ध्वनि निकलती थी। गोधचर्म के अंगुलित्राण (Gloves) बनते थे और वीर सैनिकों की अँगुलियों की रक्षा करते थे।

प्राचीन भारतीय सैनिक और साधारण मानव को मरने पर भी नूतन वस्त्र दिये जाते थे। सैनिक तो सैनिक-सम्मान के साथ जलाया जाता था।

ऋग्, मंडल १०।१८।६ में मृतक योद्धा का उल्लेख है जो चिता पर स्थित है और उसके हाथों से भावी संतान की प्रेरणा के लिए शौर्य-शक्ति का प्रतीक धनुष ले लिया जाता है। उसकी मूँछ-दाढ़ी, केश-नख आदि सब काट लिये जाते हैं।

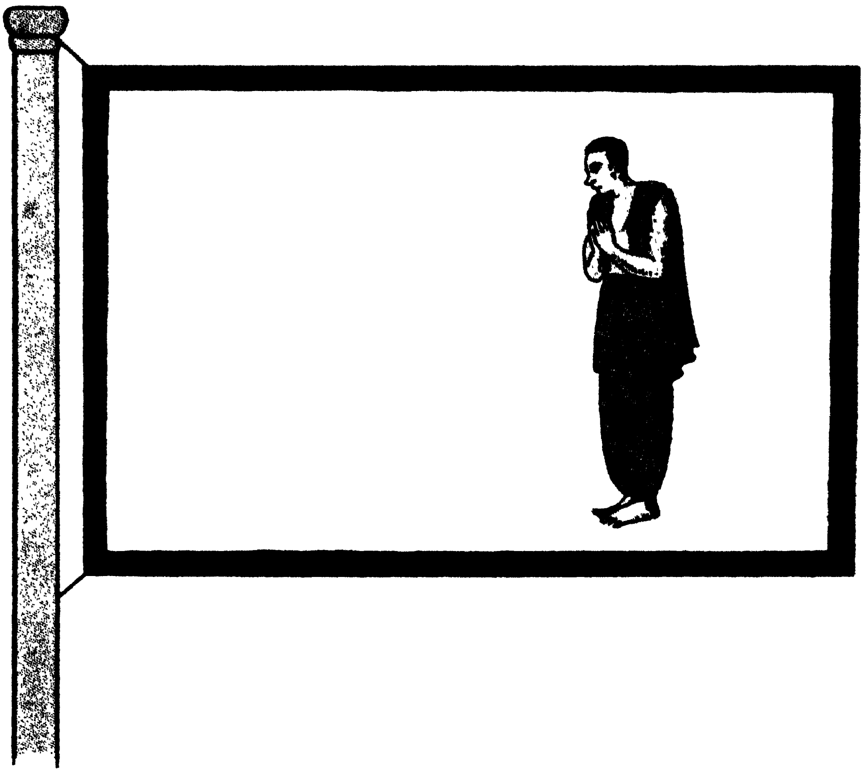
आश्वलायन, अध्या० ४, कंडिका ७ में मृतक की आत्मा को शांति प्रदान करने की कामना से दिये गये धनोत्सर्ग का वर्णन है। मालाएँ, सुगंधित द्रव्य, दर्पण, वस्त्र आदि ब्राह्मणों को दिये जाते थे। कात्यायन के मतानुसार कृष्णवासः (काले-वस्त्र) पुरोहित को मिलते थे। इन दिनों काले वस्त्र महापात्र को दिये जाते हैं। गृह्य-सूत्रों में यह भी उल्लेख है कि मृतक शरीर कृष्ण-मृग के चर्म पर रखा जाता था और उसमें घृत लेपा जाता था।

महाभारत के अनुशासन-पर्व के अध्या० २३४ में मृतक योद्धा की अन्त्येष्टि-क्रिया वर्णित है। स्वयं पाण्डु-पुत्रों ने भीष्म की चिता बनाई। पितामह का मृतक शरीर रेशमी वस्त्रों (अन्तः और उपरि) से आच्छादित किया गया। गले में माला डाली गई। युयुत्सु भीष्म पर छत्र लगाये हुए थे, भीम और अर्जुन चामर और व्यजन से पितामह का सेवन कर रहे थे। माद्री-पुत्र नकुल और सहदेव उष्णीष, किरीट और शिरस्त्राण लिये हुए थे। याजक (यज्ञ करानेवाले पुरोहित) अग्नि में हवन कर रहे थे। सामग (सामपाठी) मंत्रों का उच्चारण कर रहे थे। कृष्णचंदन की प्रज्वलित चिता पर योद्धा के रूप में पितामह रखे गये, जिसमें घृत और गंध डाले जा रहे थे।

वाल्मीकि रामायण के चतुर्थ तथा षष्ठ काण्डों में बालि और रावण की अन्त्येष्टि-क्रिया का सजीव चित्र मिलता है।

अध्यात्मरामायण के अयोध्याकांड, अध्या० १ में योद्धा की शांतिकालीन वेश-भूषा (Civil Dress) का वर्णन आता है। सर्वाभरणसंपन्न, कौस्तुभमणि पहने, रत्नदण्डवाले चामर से वीजित, पान खाते हुए रामचन्द्रजी सीता-सहित रत्नसिंहासन पर स्थित हैं।

राजतरंगिणी-साक्ष्य—राजतरंगिणी के निर्माता कल्हण तरंग ८, श्लोक-संख्या ७२८ में भारतीय शस्त्रों की तस्वीर उपस्थित करते हैं। वह वर्णन अग्निपुराण, रामायण, महाभारत तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र के शस्त्र-विवरणों से मेल खाता है। धनुष, लम्बी और छोटी तलवार, मुद्गर, गदा, कुल्हाड़ी, कटार आदि आक्रमणकारी शस्त्र थे और वक्षस्त्राण, कवच, शिरस्त्राण, चर्म (ढाल), अंगुलित्राण आदि रक्षणशील शस्त्र (Defensive Weapon)।



१. साधारण-

रक्षःशिरःप्रतिच्छन्दैः स्थिरप्रणतिसूचकैः ।
सनाथ शिखरान् प्रादात् तस्मै रक्षःपतिध्वजाम् ॥—राज० त० ३-७७

२. पारध्ज—

पाराद्वारिनिधेः प्राप्ताः कश्मीरेष्वधुनापि ये ।
राज्ञा यात्रासु निर्यान्ति ख्याताः पारध्जाः पुरः । राज० त० ३-७८

(१) राज॰ तरंग ६, श्लोक २४८-४६ में चर्मत्राण या वक्षत्राण उल्लिखित है। इस प्रकार के वक्षत्राण (Leather eniruss or breast plate) चंगेज खाँ के सिपाही धारण करते थे। अनेक शताब्दियों के बाद महाराष्ट्र अश्वारोही सैनिक भी यही वक्षत्राण व्यवहृत करते थे।

(२) कश्मीर-राज्य के बड़े-बड़े सरदार सिर पर फूलों की अधिकार-माला धारण करते थे।

अधिकारस्रजं हस्ताच्चन्द्रराजः समाददे। —राजतरंगिणी

जब सिकंदर भारत पर चढ़ आया था, उस समय भी भारतीय योद्धाओं के सिर पर अधिकारस्रक् देखी गई थी।

(३) राजतरंगिणी में अनेक प्रकार के कवच व्यवहार में आते थे—ऊरु-वर्म, पार्श्व-वर्म पृष्ठ-वर्म आदि। ये सभी लोहे के बने होते थे और उनके आकार एक-से नहीं होते थे। कुछ हल्के होते थे और कुछ भारी।

ऊरुपार्श्वपृष्ठादिगूढैर्वर्मभिरायसैः ॥ —राज॰ ८-२८३

राजा के पीछे गुप्त वेश में हत्या करनेवाले चल रहे थे और उनके ऊरु, पार्श्व और पृष्ठ—सभी लोहे के कवचों से सुरक्षित थे।

(४) नेपोलियन बोनापार्ट के सैनिकों की भाँति काश्मीरी सैनिक लाल पैजामा पहनते थे।

उत्प्लुत्य लंघयन्नद्रीन्
कोऽपि शोणधरांशुकः।
रक्तस्फिजो गतो प्रायु—
र्मर्कटो इव पाटवम् ॥ —राज॰ तरंग ८-१८८३

(५) कश्मीरी सैन्य में रूमाल का प्रचुर प्रयोग था।

प्रच्छाद्य सत्त्ववान् वक्त्रं सोऽशुकेनव नोर्चितः।
बृहद्राज इवेत्युक्त्वा तस्मै स्वान्यंशुकान्यदात् ॥—राज॰ ८-१८६३

(मुँह को रूमाल से ढाँक लिया।)

(६) राजतरंगिणी के सैनिक खड्ग, इषु, शूल, परशु, छुरिका और अश्म साथ में रखते थे।

खड्गेषुशूलपरशुच्छुरिकाश्मानि। —राज॰ ८। २-४६

(७) अलबेरूनी का कहना है कि शतरंज का खेल कल्हण के युग के सैनिक जानते थे।

—खं॰ १, पृ॰ १८५

भारतीय सैन्य चतुरंग और सेना चतुरंगिनी कहलाती थी। संभवतः इसी चतुरंग से सैनिक-खेल शतरंज निकला हो। भारतीय सेना के चार अंग थे—हस्ती, अश्व, रथ तथा पदाति। चंद्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में नौ (नाव) भी सेना का अंग बन चुकी थी। वाल्मीकि-रामायण के अयोध्याकांड में निषादराज की नौकाएँ नाविक सैनिकों के साथ भरत से लोहा लेने के लिए सन्नद्ध हो चुकी थीं।

(८) राजतरंगिणी के सिपाही भस्त्रा लिये रहते थे। जल रखने की यह थैली होगी। 'भस्त्रामयी भांडवाही।'

उपसंहार—परवर्त्ती युग की वेशभूषा पूर्ववर्त्ती युग की वेश-भूषा की अपेक्षा अवश्य कुछ विकसित रही है। मानवी बुद्धि तथा शक्ति के विकास के साथ शनैः-शनैः सांग्रामिक कला में परिवर्त्तन होता गया। लड़ने की कला में जैसे-जैसे परिवर्त्तन होता गया, मानव-वेशभूषा में भी हेर-फेर चलता रहा। सभ्यता के उषाकाल में हाथ ही युद्ध का आयुध था। मार-पीट और वध के कार्य हाथ, नख, दाँत और लात से ही निष्पन्न होते थे। रामायण के सुग्रीव तथा बालि का युद्ध, भीम तथा हिडिंब का संग्राम, जरासंध तथा भीम की कुश्ती—सभी हस्त-युद्ध थे। कभी-कभी वृक्षों की डाल और पत्थर भी प्रयुक्त होते थे। इसके पश्चात् गदा काम में आने लगी। गदा के प्रयोग के साथ शीर्ष-त्राण तथा संरक्षणशील शस्त्र की आवश्यकता महसूस हुई। महाभारत के भीम और जरासंध को शिरस्त्राण, वक्षस्त्राण शरीर के ऊपरी भाग के संरक्षण के लिए आवश्यक थे। इस प्रकार का लड़ना-भिड़ना आज भी हमारे देश के ग्रामों में प्रचलित है। हाँ, गदा के स्थान को लाठी ने ग्रहण कर लिया है; कारण, यह अपेक्षाकृत हल्की और सुदृढ़ होती है। कुश्ती भी प्रायः सभी देशों में चालू है।

अपने संरक्षण में तत्परता की मनोवृत्ति तथा पड़ोसियों पर प्रभुत्व स्थापित करने की तीव्र हिंस्र-वृत्ति ने लड़ने के नये ढंग अंगीकृत किये। शत्रु पर दूर ही से आक्रमण करना, दूर ही से शस्त्र फेंककर उसे वश में लाना, उसपर अकेले न हमला कर गरोह के चुने हुए वीरों के साथ टूट पड़ना, द्रुतगामी जंतुओं पर सवार हो उसका पीछा करना आदि लड़ने के नये ढंग थे।

इस प्रकार की लड़ाई के लिए उसे नई सैनिक-वेशभूषा, नये शिरस्त्राण, कवच अंगुलि-त्राण, ढाल तथा यान आदि साधनों की आवश्यकता हुई, जिनके सहारे अपनी रक्षा करता हुआ वह शत्रु पर विजय पा लेता। वेश-भूषा का विकास इसी मानवी वृत्ति पर अवलंबित है।

लड़ाकू मानव ने केवल अपने लिए ही संरक्षणशील पोशाक की आवश्यकता अनुभूत नहीं की, वरन् लड़ाई में साथ देनेवाले जंतुओं, यानों की रक्षा की बात भी सोच निकाली। महाभारत के द्रोण-पर्व में घटोत्कच ने अपने रथ को आचार्य द्रोण के तीरों से सुरक्षित रखने के लिए उसे ऋक्षचर्म से ढँक रखा था। —द्रोण-पर्व, २३–३२

प्रत्येक लड़ते हुए रथ या तो व्याघ्र-चर्म से आच्छादित रहते थे या हस्तिचर्म से।

—द्रोण० १५५–८

हाथी भी कवच से ढँका रहता था।

शीर्णवर्मा स तु गजः शरैः सुभृशमर्दितः।—द्रोण० ८९–६

प्राचीन भारतीय वेश-भूषा एक बृहत् विषय है। इसपर विशद रूप से विचार प्रकट करना टेढ़ी खीर है। रथ भारतीय सेना का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। रथ के अन्तर्गत रथ, अतिरथ, अर्द्धरथ, महारथ, रथमुख्य और रथयूथपयूथप आते हैं। प्रत्येक की वेश-भूषा में कुछ विशेषता है एवं राजा, अमात्य, पुरोहित, कर्मचारी और साधारण मनुष्य की वेश-भूषाएँ भी पृथक्त्व लिये हैं। विभिन्नता में अभिन्नता स्थापित करना, तथा वैषम्य में साम्य भारतीय उपनिषद् की देन है। इसी सिद्धान्त के बल पर वेश-भूषा का स्थूल वर्णन उपस्थित किया गया है।

तीसरा परिच्छेद

प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली

सैनिक और सार्वजनिक—

किसी भी राष्ट्र के विकास तथा उत्थान के लिए साधारण तथा सैनिक शिक्षा-प्रणाली की नितान्त अपेक्षा है। राष्ट्र का अर्थ व्यक्तियों का संघात है। व्यष्टि के सहारे ही गुण और दोष मानव-समाज में प्रवेश पाते हैं। व्यक्ति जन्म के साथ ही अन्तःवृत्तियों (Instincts) और अन्तःशक्तियों के लिए जगत् में पदार्पण करता है। मनुष्य की जन्मजात अन्तर्वृत्तियाँ प्रेम, भय, क्रोध, शोक, हिंसा, गान, संग्रह आदि हैं। शिक्षा का लक्ष्य जन्म-परंपरा से संप्राप्त इन अन्तर्वृत्तियों का उद्घाटित और विकसित करना है। शिक्षा का अर्थ ही अनुभव प्राप्त करना है और अनुभव के सहारे अपनी अन्तर्वृत्तियों और शक्तियों को प्रवृद्ध करना है। जिस बालक में जितनी अधिक सामर्थ्य होगी, वह समाज या वातावरण से उद्दीपन प्राप्त कर उतना ही अधिक अपना विकास कर सकता है।

इन अंतर्वृत्तियों को भारतीय आचार्यों ने स्थायी भाव की संज्ञा प्रदान की है। ये अनेक होते हैं, जिनमें प्रेम, हास, शोक, हर्ष, उत्साह, भय, जुगुप्सा, क्रोध, आश्चर्य आदि उल्लेख योग्य हैं। बच्चे को हँसना या रोना कोई नहीं सिखाता। जनमते ही वह रोने लगता है। जो शक्ति उसमें न हो, उसका विकास हो नहीं सकता। यदि किसी शिशु में वस्तुओं को पकड़ने की शक्ति न हो, तो उसे कोई वह शक्ति प्रदान नहीं कर सकता। ये अन्तर्वृत्तियाँ भी आरंभ में अधूरी रहती हैं और सभी एक ही समय प्रकट भी नहीं होती। बोलने की प्रवृत्ति, चढ़ने की अंतःशक्ति, आखेट करने की वृत्ति, यौन-प्रवृत्ति—समय-समय पर लक्षित होती है। माता-पिता, गुरु तथा अभिभावक जो अतीत के अनुभव से अपनी शक्तियों का विकास कर चुके हैं उनका परम कर्त्तव्य है कि अपने बच्चों की अन्तःशक्तियों के उन्मेष-काल पर दृष्टि रखें और उनके विकास के लिए उचित वातावरण का निर्माण करें। उचित समय पर बालक को आखेट करने की शिक्षा न मिले, उचित समय पर गाने-बजाने की प्रवृत्ति का विकास न हो, तो बालक की ये शक्तियाँ लुप्त हो जायँगी।

ऋग्वैदिक काल से लेकर महाभारत-युग तक आर्य समस्त भारत में फैल गये थे। हिन्दू-युग, बौद्ध-युग भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करते हैं। महाभारत-काल ही में कम्बोज (सांप्रतिक अफगानिस्तान) भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा था। दक्षिण-पूर्व में भारत वंग-प्रदेश तथा प्राग्ज्योतिष् (आसाम) तक फैला था। उत्तर में बदरिकाश्रम और पश्चिम में समुद्रगर्भस्थित द्वारका आदि स्थान थे। इन आर्यों के बीच कवि, दार्शनिक, चिकित्सक, गणिताचार्य, शिक्षा-कल्प के ज्ञाता, शब्द-शास्त्र, अलंकार, ज्यौतिष, छंद और कोश के निर्माता तथा अश्व-गज-विज्ञानादि के पंडित थे। उनमें अनेक द्यूतकर्म में भी निष्णात थे। व्यापार में तथा कला-कौशल में पारंगत। नीतिशास्त्र में प्रवीण तथा अध्यापन-कला के आचार्य थे। बौद्ध-काल में तो नालन्दा आदि अंतरराष्ट्रीय भुवन-विख्यात विद्या-मंदिर थे।

इस पुरातन सभ्य जाति के संबंध में सहसा यह प्रश्न स्वयं उठता है कि इन आर्यों की शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक, मौतिक तथा सांग्रामिक उन्नति के क्या कारण थे? इस प्रश्न का उत्तर उनकी शिक्षा-प्रणाली में निहित है। अतः इन भावों के शिक्षालयों, पाठ्य-पुस्तकों, छात्रों के जीवन, अनुशासन, खेल-कूद आदि पर यथाक्रम विचार करना इस निबन्ध का लक्ष्य है।

रामायण, महाभारत तथा परवर्त्ती युगों में अनेक शिक्षालयों का वर्णन आर्षग्रंथों में मिलता है। ये शिक्षालय आश्रम कहलाते थे। भारत के कोने-कोने में आश्रम भरे पड़े थे। उन दिनों बिहार-राज्य के अन्तर्गत अंग (आधुनिक भागलपुर), मगध, मिथिला, मलद-करुष (शाहाबाद), मल्ल (हजारीबाग, मानभूम) आदि भूभाग थे।

पाँच महत्त्वपूर्ण शिक्षाश्रम इस राज्य में थे —

(१) **ऋष्यशृंगाश्रम**—यह कौशिकी नदी के तट पर स्थित भागलपुर जिले के सिंहेश्वर स्थान के समीप था। रामायण तथा महाभारत में इसका संक्षिप्त विवरण मिलता है। ऋष्यशृंग विभांडक मुनि के पुत्र थे। रोमपाद की पुत्री शांता इनकी पत्नी थी। दशरथ के लिए इन्होंने पुत्रेष्टि यज्ञ किया था और ऐसा औषध प्रस्तुत किया था, जिसके सेवन से दशरथ की रानियों को चार पुत्र राम-लक्ष्मण तथा भरत-शत्रुघ्न हुए। ये अपने युग के महान् आचार्य थे। चिकित्सा-शास्त्र में आपका अद्भुत प्रवेश था। महाभारत-युग में भी इस आश्रम की अवस्था हरी-भरी थी। युधिष्ठिर वनवास-काल में लोमस के साथ इस आश्रम में पधारे थे। आश्रम में दस हजार छात्र सभोजन, सवस्त्र, निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करते थे।

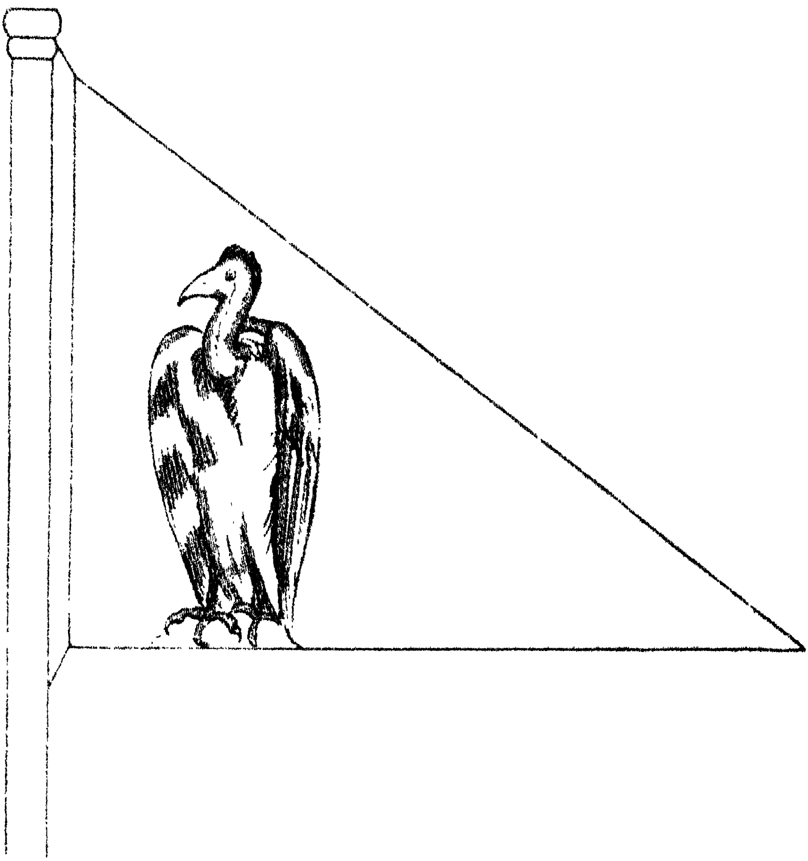
—रामायण वा०, अध्याय २१; महाभारत, वनपर्व, अध्या० १११

(२) **विश्वामित्र का आश्रम**—मलद-प्रदेश में आधुनिक बक्सर के समीप यह आश्रम था। इसे हम महाश्रम कह सकते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा यहाँ मिलती थी। अस्त्र-शस्त्र भी आविष्कृत होते थे। आर्य-सभ्यता का यह पूर्वी केन्द्र था। रावण जैसे महाप्रतापी सम्राट् को इस महाश्रम से बड़ा भय बना रहता था। उसने एक बड़ी छावनी यहाँ रखी थी, जिसकी देख रेख मारीच, सुबाहु तथा ताडका प्रभृति करते थे। करुष-मलद की महिलाएँ भी बड़ी बहादुर होती थीं। उनकी शक्ति को रोकने के लिए ताडका थी। भगवान् राम को विश्वामित्र ने यहीं सैनिक शिक्षा दी थी। इसका वर्णन और आगे मिलेगा।

(३) **गौतम-आश्रम**—मिथिला के उपवन में यह आश्रम पड़ता था। रामायण-युग में इसकी स्थिति अच्छी न थी। संभवतः सीरध्वज जनक के आश्रम ने इस आश्रम की प्रसिद्धि न्यून कर दी थी।

(४) **जनकराज्य का आश्रम**—यहीं याज्ञवल्क्य, शुक आदि आचार्य जीवन की जटिल गुत्थियों को सुलझाते थे और जीवन-मरण की समस्याओं का समाधान तथा ज्ञान-विज्ञान की बातें किया करते थे। यह अन्वेषण की संस्था थी।

(५) **जरासंध का मल्ल-युद्ध-अखाड़ा**—गिरिव्रज (राजगिरि) में यह अखाड़ा था। आज भी यह पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसंधान का विषय है।



घटोत्कचस्य राजेन्द्र ध्वजे गृध्रो व्यरोचत ।

—महा०, द्रोण २३, ६१

(आर्येतर जातियों के झंडे पर गृध्र, सर्प आदि अंकित थे ।)

जरासंध अपने युग के अद्वितीय मल्ल-योद्धा थे। इनकी कथा महाभारत तथा भागवत-पुराण में वर्णित है। मल्ल-युद्ध-विद्या यहीं सीखी जाती थी।

—महाभा०, आदिपर्व २०२।२३; सभा० १७।१२; सभा० २४।१; भाग० ६।२२; गरुड़० १४०

बौद्धकाल के बिहार में भी अनेक विश्वविद्यालय थे। उनमें नालंदा का स्थान महत्त्वपूर्ण है। पाँचवीं, छठी तथा सातवीं शताब्दियों में भारत विश्व के सर्वश्रेष्ठ शिक्षित देशों में अग्रगण्य था। यह एशिया का शिक्षा-केन्द्र समझा जाता था। चीन, जापान और सुदूर पूर्व के देशों के छात्र भारत में शिक्षार्थ आते थे। बौद्ध श्रमणों के संघाराम भी शिक्षालय ही थे। प्रत्येक प्रमुख नगर में संघाराम थे। युवनच्वांग का वक्तव्य है कि केवल कन्नौज में कई सहस्र संघाराम थे, जहाँ सहस्रों की तादाद में छात्र पढ़ते थे। केवल मथुरा में दो हजार बौद्ध भिक्षुकों के हीनयान और महायान संघाराम थे। प्रत्येक संघाराम कॉलेज था, जहाँ तर्क और धर्मसूत्र की विशेष शिक्षा दी जाती थी।

—श्री हर्षवर्द्धन ऑफ कन्नौज—के० एम्० पणिक्कर, पृ० ५६

उस युग के शिक्षालयों में बिहार का नालंदा सर्वश्रेष्ठ स्थान ग्रहण करता था। युवनच्वांग ने इसका विस्तारपूर्ण वर्णन दिया है। मगध के सामन्त शक्रादित्य ने इसका संस्थापन किया था। इनके वंशजों के शासनकाल में इसकी श्रीवृद्धि हुई। जावा की वास्तुकला, अजन्ता तथा सिग्री की चित्रकारियों से पता चलता है कि नालंदा-विश्वविद्यालय बौद्ध जगत् की आदर्श संस्था था। सातवीं खृष्टाब्दी में भी इसे २०० गाँवों का राजस्व उपलब्ध था। इस विद्यालय के कुलपति का सम्मान शृंगेरी मठ के शंकराचार्य-सा होता था।

छात्रों की संख्या सहस्रों में थी। सभी श्रेष्ठ योग्यता तथा प्रतिभा के मनुष्य यहाँ शिक्षार्थ पधारते थे। अनेक आचार्यों की ख्याति दूर-दूर तक फैली थी। उनके चरित्र निर्मल और आदर्श थे। धर्मसूत्रों का अक्षरशः परिपालन होता था। प्रातः से संध्या तक वे तर्क में निमग्न रहते थे। भिन्न-भिन्न नगरों से सैकड़ों की तादाद में बुद्धिमान् लोग तर्क तथा न्याय में दक्षता प्राप्त करने तथा संशय-निराकरण के लिए यहाँ आते थे। गुणमति और स्थिरमति अपने युग के संभ्रान्त आचार्य थे। इनकी अध्यापन-शैली विश्व-विश्रुत थी। प्रभामित्र तथा जिनमित्र तर्क-वागीश थे। शीलभद्र से स्वयं युवनच्वांग ने शिक्षा पाई थी। धम्मपाल और चन्द्रपाल बड़े गौरवपूर्ण कुलपति थे। योगसूत्र तथा अन्य शास्त्रों की शिक्षा शीलभद्र से ही युवनच्वांग ने प्राप्त की थी।

यद्यपि नालंदा बौद्धों का विश्व-विद्यालय था, तथापि शिक्षा का दृष्टिकोण असांप्रदायिक था। यहाँ वेदों, शब्दशास्त्र, तर्कन्याय, गणित तथा चिकित्सा की भी पढ़ाई होती थी। हीनयान, महायान तथा ब्राह्मण-संप्रदाय भी इस संस्था से प्रेरणा प्राप्त करते थे।

भारत की साधारण शिक्षा के संबंध में भी युवनच्वांग लिखते हैं—

"शिक्षा का प्रारंभ बारह अध्यायों की पुस्तक (सिद्धवस्तु) से होता था। सात वर्षों की अवस्था-प्राप्त करते ही छात्रों को पाँच विद्याएँ पढ़ाई जाती थीं। व्याकरण, वास्तुकला,

हेतुविद्या, ज्यौतिष, तर्क और अध्यात्म की शिक्षा छात्रों को दी जाती थी। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शिक्षाओं की व्यवस्था थी। ब्राह्मण वेद भी पढ़ते थे।"

—बिल० खंड २, पृ० १७०

नालंदा में सैनिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं-सी थी। यही कारण है कि हर्षवर्द्धन के पश्चात् भारत की राज्यलक्ष्मी डावाँडोल हो गई। भारत के अन्य भूभागों में भी आश्रमों की कमी न थी।

उत्तरप्रदेश (काशी, कोशल, पंचाल, शूरसेन) के आश्रम—

(१) **भरद्वाज-आश्रम**—श्री नेहरूजी के आनन्द-भवन के समीप ही भरद्वाज-आश्रम था। रामायण-युग में यह विश्वविद्यालय था। यहाँ सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। सैनिक शिक्षा के लिए इसकी प्रसिद्धि थी। भरद्वाज-आश्रम में बड़ा उपवन था। अनेक उटज थे, जहाँ वृक्षों की भरमार थी। आश्रम में जलाशय की कमी न थी। अनेक भवन थे। नील वैडूर्यमणि की भाँति हरी-हरी घासों से आश्रम की समतल भूमि आच्छन्न थी। इसका विस्तार ४० मीलों का था। बेल, कपित्थ, कटहल, नीबू और आम के पेड़-फलों से समन्वित थे। हाथी और घोड़ों के रहने के लिए भी स्वच्छ-शुभ्र चार-चार कमरों की शालाएँ बनी थीं। सैनिक शिक्षा के उद्देश्य से ही यह आश्रम बना था, ऐसा प्रतीत होता है।

—वाल्मीकि रा०, अयोध्या-कांड, अध्याय ८९-९०

(२) **अग्निवेश्याश्रम**—यह भी प्रयाग में ही था। अग्निवेश्याश्रम श्री अगस्त्य के प्रमुख शिष्य तथा द्रोण के गुरु थे। पांचालराज द्रुपद भी इनके शिष्य थे।

—महा०, आदिपर्व १४०-४१

महाभारत-युग में भरद्वाज-आश्रम ह्रासोन्मुख हो गया होगा। अतः अग्निवेश्य को विन्ध्य के उस पार अगस्त्य के आश्रम में, सांग्रामिक शिक्षा तथा अन्य विद्या-ग्रहण के लिए जाना पड़ा था। दक्षिण से लौटने पर इन्होंने भरद्वाज-आश्रम के स्थान पर इसे संस्थापित किया। पर, यह लोकप्रिय प्रमाणित नहीं हुआ। कारण, स्वयं भरद्वाज-पुत्र द्रोण को परशुराम के पास सैनिक-शिक्षा में पूर्ण योग्यता प्राप्त करने के लिए जाना पड़ा था।

(३) **कण्वाश्रम**—महाभारत के वनपर्व में (अध्या० ८०।४) इसका उल्लेख है। कण्व कश्यपगोत्र मेधातिथि के पुत्र थे। कालिदास ने अभिज्ञान-शाकुन्तल में इस आश्रम का बड़ा ही विशद वर्णन किया है। अयोध्या से पश्चिम लखनऊ के बिजनौर स्थान में यह स्थित था। इस आश्रम में लड़के और लड़कियाँ दोनों शिक्षा ग्रहण करते थे। संभवतः सैनिक-शिक्षा प्रदान करना इसका ध्येय न था।

(४) **जमदग्न्याश्रम** महाभारत के वनपर्व (अध्याय ११७।३) में इस आश्रम का वर्णन मिलता है। जमदग्नि ऋचिक के पुत्र थे। गाधिपुत्री सत्यवती इनकी माँ थी। यह विश्वामित्र के आत्मीय थे। प्रसेनजित् की पुत्री रेणुका इनकी धर्मपत्नी थी। इनके पाँच पुत्र थे। भुवनविख्यात परशुराम इनके ज्येष्ठ पुत्र थे। परशुराम को भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि योद्धाओं के गुरु होने का सौभाग्य था। संभवतः अपने पिता के आश्रम में ही परशुराम ने शिक्षा पाई थी। इनका इतिवृत्त पद्मपुराण ६।२६८, वायु० ६१।१, देवीभा० ४।१६, महाभारत,

आदिपर्व १२।८, द्रोण-पर्व ७० और भागवत ६।१५ में उपलब्ध है। इनकी सांग्रामिक प्रतिभा अद्भुत थी।

(५) **नैमिषारण्य-आश्रम**—पुराकाल में यह आश्रम गोमती नदी के तट पर स्थित था (महा० आदि० १।५, वन० ८२।५६, शल्य० ३७)। अधुना यह अवध-रुहेलखंड रेलवे के संडिल स्टेशन से २४ मील की दूरी पर अवस्थित है। भृगुगोत्रसंभूत शौनक इसके कुलपति थे। इस आश्रम में ८८ हजार ब्रह्मचारी किसी समय शिक्षा ग्रहण करते थे। यहाँ अधिकतर आध्यात्मिक शिक्षा दी जाती थी।

(६) **बदरिकाश्रम**—कृष्णद्वैपायन का यह आश्रम था। यह एक अनुसंधान-केन्द्र था। यहीं कृष्णद्वैपायन ने चारों वेदों का संग्रह किया, महाभारत रचा और वेदान्त-सूत्रों का प्रणयन किया। पाण्डुपुत्र वनवास-काल में यहाँ गये थे (वनपर्व १४७।१५)। इन दिनों यहाँ नारायण का एक मंदिर है जो विष्णुगंगा के तट पर स्थित है।

गांधार तथा गुरुमंडल के आश्रम—

(१) **कृपाश्रम**—महाभारत में इसका विवरण मिलता है। हस्तिनापुर में यह स्थित था। कुरुराज की राजधानी यहीं थी। कृप गौतमगोत्र शरद्वान् के पुत्र थे। इनकी बहन कृपी का ब्याह द्रोण से हुआ था। इनका आश्रम सैनिक शिक्षा के लिए ही था। —महा० आदि १६६

(२) **द्रोणाश्रम**—राज्याश्रयप्राप्त आश्रम था। यह हस्तिनापुर में स्थित था। यह अपने ढंग का बृहत् सैनिक शिक्षालय था।

दक्षिण-भारत के आश्रम—

(१) **अगस्त्याश्रम**—बम्बई प्रान्त के नासिक से २४ मील दक्षिण-पूर्व अगस्तिपुर में यह आश्रम था। आज भी यह अगस्तिपुर के नाम से प्रख्यात है। कई युगों तक यह सैनिक और ब्रह्मविद्या का केन्द्र रहा। वाल्मीकि-रामायण के अरण्यकांड के द्वादश अध्याय में इस आश्रम का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन मिलता है। महाभारत-युग में भी इस आश्रम का महत्त्व था। लोमश ऋषि के साथ युधिष्ठिर यहाँ आये थे। अगस्त्य दो हुए हैं। एक पुलस्त्य के पुत्र (भाग० ४।१) और दूसरे मित्रावरुण के पुत्र (सभापर्व ११।२)। यह आश्रम इन्हीं का था। विदर्भराज की पुत्री लोपामुद्रा से आपका ब्याह हुआ था। अग्निवेश्य इनके पुत्र थे। अग्निवेश्य भरद्वाज के भाई थे। यह इतने बड़े आचार्य थे कि भारत के अनेक स्थल इनके नाम से विख्यात हैं। दक्षिण-समुद्र के समीप अगस्त्य-तीर्थ है, जहाँ अर्जुन ने यात्रा की थी (महाभा० आदिपर्व २३६।३)। हिमवान् की अधस्तली में अगस्त्य-वट एक पवित्र स्थान है। कालिंजर शैल का एक भाग अगस्त्य-पर्वत कहलाता है। अगस्त्य-तारक के आविष्कारक आप ही थे। इसका वर्णन आगे चलकर होगा।

(२) **बलदेव का मल्ल-अखाड़ा**—यह द्वारका में था। महाभारत-युग के सभी विख्यात राजकुमार दुर्योधन, भीम आदि ने यहीं मल्लयुद्ध-विद्या सीखी थी। बलदेव गदायुद्ध-विद्या तथा रथ-युद्ध-विद्या में पारंगत थे। वह स्यंदन-कला में निष्णात थे। उनके छोटे भाई कृष्ण अपने युग के सर्वश्रेष्ठ सारथी थे।

(३) **भार्गव-आश्रम**—नर्मदा नदी के तट पर भृगुकच्छ (भरौंच) में यह आश्रम था। भृगुऋषि इसके संस्थापक थे। पुरातन काल में तीन भार्गव अति प्रसिद्ध थे—एक शुक्राचार्य,

दूसरे परशुराम और तीसरे शौनक। यह आश्रम भृगुपुत्र शुक्र का था। पुलोमा इनकी माता थी और च्यवनप्राश के आविष्कर्त्ता सुप्रसिद्ध च्यवन ऋषि इनके भाई थे। ययाति-पत्नी देवयानी इनकी पुत्री थी। विन्ध्य के दक्षिणवर्त्ती दण्डकारण्य के शासक के पतन का कारण ये ही थे। वह असुरों के पुरोहित थे। शुक्रनीति इन्हीं की रचना है। कौटिल्य ने शुक्रनीति के बहुत अंश उद्धृत किये हैं।

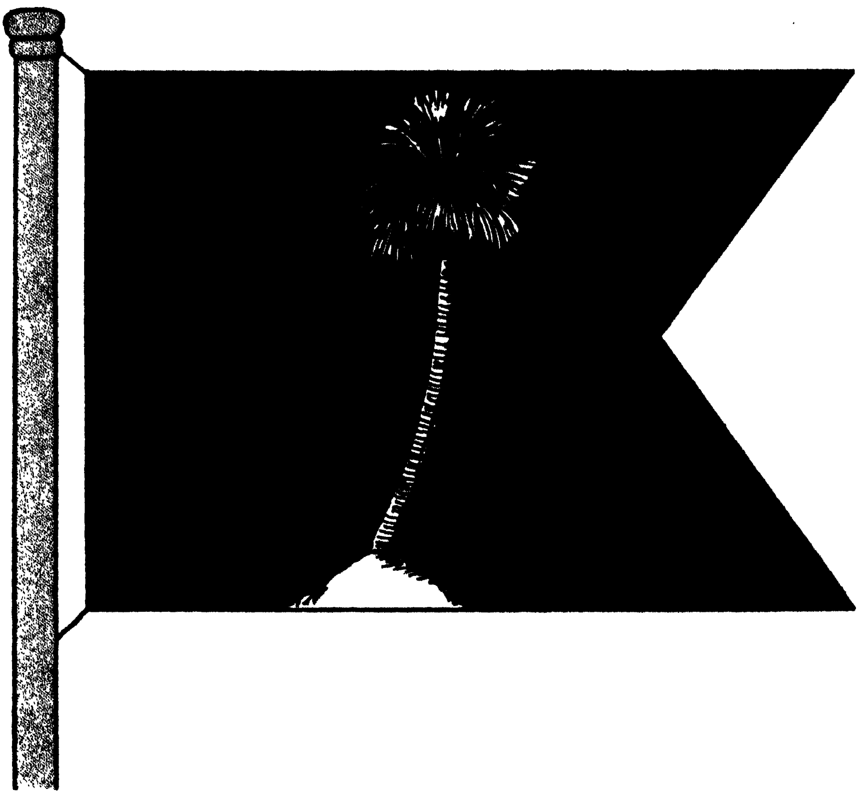
इनके अतिरिक्त मार्कण्डेयाश्रम, वसिष्ठाश्रम, वाल्मीकि-आश्रम आदि अनेक सुन्दर संस्थाएँ थीं। रामायण-काल में वाल्मीकि-आश्रम बहुत प्रगतिशील संस्था थी। महाकवि भवभूति के उत्तररामचरित में इसका विशद वर्णन मिलता है। यहाँ सांग्रामिक और अन्य शिक्षा दी जाती थी।

महिलाओं के नाम से भी आश्रम चालू थे। उनमें रुक्मिण्याश्रम प्रख्यात है। यह आश्रम उज्जनक के समीप था। उज्जनक कश्मीर के ठीक पश्चिम सिन्धु-तट पर स्थित था। इस आश्रम के संबंध में मैं निश्चित विचार प्रकट करने में असमर्थ हूँ। रुक्मिणी विदर्भराज (बरार) भीष्मक की पुत्री थी। ब्याही जाने पर द्वारका आई। महाभारत के वन-पर्व (१३२।१८) में यह आश्रम वर्णित है।

शिक्षा के प्रकार—

(१) किस प्रकार की शिक्षा इन आश्रमों में दी जाती थी ?
(२) पाठ्यक्रम का क्या रूप था ?
(३) शिक्षा-प्रदान की प्रणाली कैसी थी ?
(४) प्रवेश के समय किन-किन नियमों का परिपालन आवश्यक था ?
(५) किस प्रकार के अनुशासन तथा नियम प्रयोग में थे ?
(६) शिष्य तथा शिक्षकों का संबंध कैसा होता था ?
(७) आश्रमों का संबंध बाह्य जगत् से किस प्रकार था ?

ये प्रश्न बड़े महत्व के हैं। अगस्त्य-आश्रम में ज्ञान के विभिन्न विभाग थे। ब्रह्मस्थान, अग्नि-स्थान, विष्णुस्थान, महेन्द्र-स्थान, विवस्वान्-स्थान, सोम-स्थान, भग-स्थान, कौबेर-स्थान, धातृ-स्थान, विधातृ-स्थान, वायु-स्थान, वारुण-स्थान प्रभृति (वाल्मीकि रामायण, अरण्य० अध्या० १२)। ब्रह्म-स्थान में वेदों का अध्यापन होता था। अग्नि-स्थान में साम-गान होते थे, समिधाएँ आहूत होती थीं। विष्णु-स्थान में राजनीति, अर्थशास्त्र, पशु-पालन तथा कृषि आदि विषयों की पढ़ाई होती थी। विष्णु-स्थान के पास ही महेन्द्र-स्थान था। यहीं आक्रमणकारी और रक्षणशील (Offensive and Defensive) आयुधों का ज्ञान प्रदान किया जाता था। विवस्वान्-स्थान में ज्यौतिष की पढ़ाई होती थी और सोम-स्थान में औषधियों का ज्ञान प्राप्त किया जाता था। चिकित्सा-विज्ञान यहीं पढ़े जाते थे। गरुड-स्थान में यातायात, यान आदि के ज्ञान उपलब्ध होते थे। कार्त्तिकेय-स्थान में ब्रह्मचारी गुल्म, पत्ति, वाहिनी आदि के संचालन की शिक्षा प्राप्त करते थे। कौबेर-स्थान में जलस्तम्भन, जल-संस्तरण, पोत-संचालन आदि की विद्या सीखी जाती थी।



यस्तु श्वेतावदातेन पञ्चतालेन केतुना ।
वैडूर्यमय-दण्डेन तालवृक्षेण राजते ॥—महा० विराट्, ५७-२५

स तत्र ब्रह्मणः स्थानमग्नेः स्थानं तथैव च।
विष्णोः स्थानं महेन्द्रस्य स्थानं चैव विवस्वतः॥
सोम-स्थानं भग-स्थानं कौवेस्थानमेव च।
धातुर्विधातुःस्थाने च वायोः स्थानं तथैव च।
स्थानं च पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः।

—वा० रामा०, अरण्य०, अ० १२

भारद्वाज-आश्रम में समतल मैदान, भिन्न-भिन्न प्रकार की हय-गजशालाओं का वर्णन आया है। सांग्रामिक शिक्षा के लिए इन सब की अति आवश्यकता थी।[1]

विश्वामित्र के आश्रम में भिन्न-भिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा का उल्लेख है।

गुरुसान्दीपिनि के आश्रम का वर्णन महाभारत के सभापर्व के ५४ वें अध्याय में हुआ है। कृष्ण-बलराम शिक्षार्थ वहाँ गये थे। उस आश्रम में सांग वेद पढ़ाये जाते थे। वेदों के ६ अंग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छंद, ज्यौतिष और निरुक्त हैं। ब्रह्मचारी को इन विषयों का अध्ययनन करना पड़ता था। लेख्य, गणित गान्धर्ववेद, वैद्यक, हस्तिशिक्षा, अश्वशिक्षा धनुर्वेद आदि की भी वहाँ पढ़ाई होती थी। कृष्ण-बलराम ने इन विषयों का ज्ञान प्राप्त किया था।

ततस्तौ जग्मतुस्तत्र गुरुं सान्दीपिनिं पुनः।
गुरुशुश्रूषारागयुक्तौ धर्मज्ञौ धर्मचारिणौ॥
व्रतमुग्रं महात्मानौ विचरन्ताववन्तिषु।
अहोरात्रैश्चतुष्षष्ट्या सांगान् वेदानवापतुः।
लेख्यं च गणितं चोभौ प्राप्नुतां यदुनन्दनौ।
गान्धर्ववेदं वैद्यं च सकलं समवापतुः॥
हस्तिशिक्षामश्वशिक्षां द्वादशाहेन चाप्नुताम्।
तावुभौ जग्मतुर्वीरौ गुरुं सान्दीपिनिं पुनः।
धनुर्वेदं चिकीषार्थं धर्मज्ञौ धर्मचारिणौ।
ताविष्वासवराचार्यमभिगम्य प्रणम्य च॥

—महा०, सभा०, अ० ५४

विराट् पर्व के तीसरे अध्याय में कुछ ऐसे विषयों का उल्लेख है, जो आश्रम में अवश्य पढ़ाये जाते होंगे। ज्यौतिष, पक्षियों का ज्ञान, शकुन-विद्या, अक्षकौशल, नीतिशास्त्र आदि

१. "स ब्राह्मणस्याश्रममभ्युपेत्य महात्मनो देवपुरोहितस्य।
ददर्श रम्योटजवृक्षदेशं महद्वनं विप्रवरस्य रम्यम्।
ते वृक्षानुदकं भूमिमाश्रमेषूटजांस्तथा।
न हिंस्युरिति तेनायमेक एवागतस्ततः॥
बभूव हि समा भूमिः समन्तात् पंचयोजना।
शाद्वलैर्बहुभिराच्छन्ना नीलवैदूर्यसन्निभैः॥
चतुःशालानि शुभ्राणि शालाश्च गजवाजिनाम्॥"

—रामा० वा०, अयो०, अ० ८६ और ६०

भी पाठ्य-विषय थे। क्षत्रिय-ब्रह्मचारी अश्वशिक्षा, अश्व-चिकित्सा, वृषभलक्षण-परिज्ञान भी प्राप्त करता था।

ज्यौतिषे शकुनज्ञाने निमित्ते चाक्षकौशले।
ब्राह्म वेदे मयाधीते वेदांगेषु च सर्वशः॥
धर्मार्थकाममोक्षेषु नीतिशास्त्रेषु पारगः।
पृष्टोऽहं कथयिष्यामि राज्ञः प्रियतमं वचः॥

—महा०, विराट्, अ० २८–२६

वृषभानपि जानामि राजन् पूजितलक्षणान्।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते॥—विराट्, अ० ४–२

मनुस्मृति में वेदत्रयी, दण्डनीति, आन्वीक्षिकी, आत्म-विद्या, वार्त्तारम्भ आदि को पाठ्य-विषय के रूप में वर्णित किया है।

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्त्तारम्भश्च लोकतः।

—मनु, अ० ७–४३

वार्त्ता के अन्तर्गत कृषि-विद्या, पशुपालन-विद्या, व्यापार आदि आते हैं। दण्डनीति राज-काज चलाने की विद्या है। अन्वीक्षिकी के अन्तर्गत सांख्य, योग और लोकायत्त (नास्तिक-वाद) आदि आते हैं। बृहस्पति का कहना है कि राजन्य-छात्र के लिए दो विषयों का पढ़ना आवश्यक है। वे दो विषय वार्त्ता और दण्ड-नीति हैं।

वार्त्ता दण्डनीतिश्च बार्हस्पत्याः।—कौटिल्य अर्थशास्त्र

उशना के मत में दण्डनीति ही शिक्षा का प्रबलतम विषय है। सभी ज्ञान-विज्ञान के प्रारम्भ और अन्त दण्डनीति में ही है।

दण्डनीतिरेका विद्येत्यौशनसा।—कौटिल्य

कौटिल्य के मतानुसार आन्वीक्षिकी, वेदत्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति ब्रह्मचारियों के पढ़ने के विषय हैं।

चतस्र एव विद्या इति कौटिल्यः।

उपर्युक्त ग्रंथों के अवलोकन से यही पता चलता है कि आश्रमों में सभी प्रकार के ज्ञान-प्रदान की व्यवस्था थी। शिक्षा पाये हुए स्नातक ज्ञानी-विज्ञानी, शूर, योद्धा, कृषक, व्यापारी, शासक, नीतिज्ञ, वैद्य और नाविक के रूप में राष्ट्र की सेवा करते हुए पाये जाते थे। किसी-किसी आश्रम में पत्ति, गुल्म, वाहिनी-संचालन की भी शिक्षा दी जाती थी।

पुरातन भारत में भारतीय चार वर्गों में विभक्त थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। शिक्षा की व्यवस्था प्रथम तीन वर्गों के लिए ही थी। शूद्रों की शिक्षा पर कम ध्यान दिया जाता था। सेवा और परिचर्या के कार्य ही उनसे लिये जाते थे। आर्यों की शिक्षा-प्रणाली का यह एक गुरुतर दोष है। तथापि शूद्र उठने की चेष्टा करते थे। महाभारत-काल में एकलव्य ने उच्चकोटि की युद्ध-विद्या प्राप्त की थी। जो शूद्र राक्षस-दल, आर्येतर-दल में मिल जाते थे, वे भी पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर आर्यों का मुकाबला करते थे।

भारतीय शिक्षा, तथा तत्संबंधी प्रवेश-नियम और अनुशासन आदि का विशद वर्णन कल्प और सूत्रग्रंथों में पाया जाता है। आश्रमों में प्रवेश पाने के लिए मनुस्मृति तथा सभी सूत्रग्रंथों में यही विधान पाया जाता है कि विद्यार्थी प्रवेश पाने के पूर्व अपना उपनयन-संस्कार करा लें। उपनयन-संस्कार के अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ग के लड़के होते थे। ब्राह्मण-बालकों का उपनयन आठ वर्षों की उम्र में होता था। क्षत्रिय-बालकों का उपनयन ग्यारह वर्षों की उम्र में और वैश्यों का बारह वर्षों की उम्र में। प्रत्येक मानव-बालक की अंतर्वृत्तियाँ प्रायः एक-सी होती हैं। सब में आत्माभिव्यंजन और आत्मप्रवर्द्धन की वृत्तियाँ पाई जाती हैं। तब आश्रम में प्रवेश पाने के लिए उपर्युक्त वर्गों के बालकों के उपनयन-संस्कार में उम्र का सवाल क्यों उपस्थित किया जाता था? इस प्रश्न का संतोष-जनक उत्तर नहीं मिलता। ऐसा लगता है कि क्षत्रिय और वैश्य-कुमारों को अधिकतर दंडनीति, आन्वीक्षिकी और वार्त्ता का अध्ययन करना पड़ता था। ग्यारह वर्षों के पूर्व इस प्रकार की शिक्षा यदि छोटे बच्चों को दी जाय, तो वे लाभान्वित न होंगे।

कौटिल्य अर्थशास्त्र के पंचम अध्याय में यह निर्देश है कि चूडाकर्म के पश्चात् बालक को वर्णमाला और अंक का ज्ञान उपलब्ध करना चाहिए। उपनयन-संस्कार के पश्चात् वेदत्रयी, आन्वीक्षिकी तथा अन्य विद्याएँ सीखनी चाहिए।

मनुस्मृति के अनुसार चूडाकर्म जन्म से प्रथम तथा तृतीय वर्ष में होता है। पर गणित का सीखना इस छोटी उम्र में अ-मनोवैज्ञानिक प्रतीत होता है। आश्वलायन ने चूडाकर्म का समय जन्म के तृतीय वर्ष में रखा है। तीसरे वर्ष में बच्चा गिनती सीख सकता है।

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥—मनु, अ० २।३५
तृतीये वर्षे चौलं यथाकुलधर्मं वा।—आश्वलायन

उपनयन के बाद बालक त्याग और तप का जीवन व्यतीत करता था। वह ब्रह्मचारी कहलाता था। ब्राह्मण-ब्रह्मचारी कपास का बना वस्त्र पहनता था, मुंजमेखला कमर में बाँधता था, हाथ में बेल या पलास का दंड ग्रहण करता था और कृष्णमृग का चर्म व्यवहार में लाता था। क्षत्रिय-ब्रह्मचारी रेशमी वस्त्र पहनता था, मौर्वीमेखला कमर में बाँधता था, इसी की चाप की डोरी बनती थी, खैर या बड़ का दंड ग्रहण करता था और रुरु मृग का चर्म प्रयोग में लाता था। वैश्य-ब्रह्मचारी ऊन की धोती पहनता था, कपास की बनी मेखला कमर में बाँधता था, बकरे का चमड़ा प्रयोग में लाता था और उदुंबर का दंड ग्रहण करता था। —मनु०, अ० २, ३६।४१।४२।४४।४५

आश्रम में प्रवेश पाने के लिए इन सामग्रियों की पूरी अपेक्षा थी। परिधेय वस्त्रों की भिन्नता तथा दंडों की विविधता से यही अनुमान किया जा सकता है कि शिक्षा-प्रणाली में भी अवश्य विषमता होगी। एक ही प्रकार की शिक्षा सभी ब्रह्मचारी प्राप्त नहीं करते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों के लड़कों की शिक्षा के दृष्टिकोण अवश्य विभिन्न थे। उनके साधारण और मानसिक वय में भी विभिन्नता थी। अतः आश्रमों में प्रवेश पाने के लिए उपनयन-संस्कार का होना अनिवार्य था। जो क्षत्रिय-ब्रह्मचारी किशोरावस्था प्राप्त कर शिक्षा का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे, वे इन नियमों का उल्लंघन भी करते थे।

जिस समय वाल्मीकि के राम विश्वामित्र के साथ बक्सर-आश्रम में शिक्षार्थ जा रहे थे, उस समय उनके हाथों में दंड की जगह धनुष-बाण थे, सिर पर शिरस्त्राण, अंगुलियों म गोध-चर्म के अंगुलित्राण और चमकती तलवारें भी साथ थीं।

विश्वामित्रो ययावग्रे रामो महायशाः।
काकपक्षधरो धन्वी तं च सौमित्रिरन्वगात् ॥
तदा कुशिकपुत्रं तु धनुष्पाणी स्वलंकृतौ।
बद्धगोधांगुलित्राणौ खड्गवन्तौ महाद्युती ॥

—वाल्मीकि रा०, बाल०, अ० २२

द्रोण के आश्रम में भी जहाँ कुरुपुत्र और पाण्डुपुत्र साथ-साथ सैनिक-शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, प्रवेश-नियमों का पालन नहीं करते थे। संभवतः वयस्क होने के पूर्व उन्होंने भी धोती, दंड, चर्म और मेखला आदि धारण किये होंगे।

आश्रम-जीवन, अनुशासन और आचार पर ही अवलंबित था। आश्रम-जीवन के ध्येय की पूर्त्ति के लिए आवश्यक कर्मों को चालू रखना ही आचार है। आचार का मूल आधार, अनुकरण और रूटीन-प्रवृत्ति है। आचार बाह्य जगत् से संबद्ध है और छात्रों को बाह्य जगत् से ही इसे ग्रहण कर अपनाना पड़ता है। अनुशासन के लिए एक ओर शोभन, स्वस्थ और सुविकसित अध्यापक की आवश्यकता है और दूसरी ओर जिज्ञासु, उत्सुक तथा अविकसित शिष्य की। अनुशासन के सहारे ही चरित्र निर्मित होते हैं और मनोविकारों का दृढीकरण इनके द्वारा ही संभव है।

आचार्य और ब्रह्मचारी दिन-भर में तीन बार मिलते थे और प्रार्थना करते थे। प्रातः और संध्या अग्नि प्रज्वलित की जाती थी और शिष्य तथा शिक्षक प्रज्वलित अग्नि के उत्तर ओर बैठते थे। आचार्य पूर्व की ओर मुँह किये हुए और ब्रह्मचारी पश्चिम की ओर मुँह किये। ब्रह्मचारी चरण छू कर आचार्य को प्रणाम करता और उनके हाथों पर जल छिड़कता था। दाहिने घुटने को नूतन कुश पर रखकर शिक्षक के सामने घुटने टेकता था।

आचार्य प्रथम वैदिक मंत्र पढ़ता और अन्तेवासी उसे दुहराता। प्रतिप्रातः ब्रह्मचारी को महाव्याहृति सावित्री मंत्र पढ़ना पड़ता था। सूर्य जब कुछ ऊपर चढ़ आता तब वैदिक पाठ प्रारंभ होता था। —आश्वलायन, खंड ८ और ९, अध्या० ८

प्रतिप्रातः और संध्या वह अग्नि को सम्यक् समुचित स्थान पर स्थापित करता, वेदी को लिपता चारों ओर जल छिड़कता, दाहिने घुटने को अवनत करता, अन्त में समिधा डालते हुए यह मंत्र पढ़ता था—

अग्नि! मैं तुम्हारे लिए समिधा लाया हूँ। मुझे प्रभा और शक्ति दो।

—अथर्व०, १९, ६४-१

ब्रह्मचारी को इन कर्त्तव्यों का पालन आचार्य के इच्छानुसार करना पड़ता था। सप्ताह में दो-तीन दिन या वर्ष भर भी।

अध्ययन के पश्चात् ब्रह्मचारी जब आश्रम से बाहर भिक्षा-याचन या समिधा-ग्रहण आदि के लिए निकलता तो निम्नस्थ नियमों का पालन करना उसके लिए अनिवार्य था।

(१) कच्चे मांस को देखना, चाण्डाल, अचिरप्रसूता बाला तथा रजस्वला स्त्री पर दृष्टिपात करना, हथकटे मनुष्य, श्मशान तथा किसी जन्तु के शव को देखना उसके लिए विवर्जित था।

(२) ब्रह्मचारी वेद-पाठ में जब उन्नति करता और महानाम्नी मंत्र पढ़ने लगता तब उसे वस्त्रों के परिधान में हेरफेर करना पड़ता था। वह सिर पर उष्णीष धारण करता और आचार्य को उष्णीष, पात्र और सुन्दर गायें देता था।

आचार्य को प्रतिदिन वैश्वदेव यज्ञ करना पड़ता था। यदि वह आश्रम से कहीं अन्यत्र चले जाते तो योग्य ब्रह्मचारी यह यज्ञ उनके बदले करता। वैश्वदेव यज्ञ के लिए प्रस्तुत भोजन में से कुछ अंश लेकर अग्नि में डाला जाता और निम्नस्थ मंत्र पढ़ा जाता था—

अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा, विष्णवे स्वाहा, विश्वेदेवेभ्यः स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, आदितये स्वाहा।

भोजन के जल में से थोड़ा अंश सभी दिशाओं में बलि के रूप में वितरित होता तथा नक्षत्रों, ऋतुओं, महीनों और दिवारात्रि को भी बलिप्रदान किया जाता था।

प्रत्येक गृहस्थ भी प्रतिदिन बलि-वितरण के पश्चात् ब्रह्मचारी को भिक्षा देता। कुत्ते और पक्षियों के भी कुछ भोजन जमीन पर फेंके जाते। —आश्वलायन, खंड १४, अ० २

आश्रम में यदि कोई दूसरे आश्रम के आचार्य, या राजा, स्नातक तथा सम्मानास्पद मित्र पधारते तो उनके आतिथ्य-सत्कार के लिए विशेष व्यवस्था होती थी। उनके लिए गाय और बकरे पीटे जाते थे। इस प्रकार का सत्कार अर्घ्य-सत्कार कहलाता था। पर, इन व्यक्तियों का वर्ष-भर में एक बार इस प्रकार का सत्कार किया जाता था। —खंड १५, अध्या० २

पश्चिमी देशों के बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों में संभ्रांत अतिथि, आचार्य तथा महान् पंडित को पार्टी दी जाती है।

अध्ययन शेष कर जब ब्रह्मचारी घर लौटने को होता, तब उत्सर्ग-महोत्सव किया जाता था। उस समय उसका क्षौर कर्म होता था। वह अभिषिक्त किया जाता और ऋषभ चर्म पर बिठाया जाता था। वस्त्रों और अलंकारों से विभूषित होता और हाथ में बंशदंड लेता तथा उत्सर्ग के पश्चात् रथ पर सवार हो घर लौटता और घर आने पर स्वेच्छानुसार भोजन करता था।

अध्ययन के लिए समय निश्चित रहता था। शांखायन, खंड ५, अध्याय ४, मंत्र १-२ में वार्षिक अध्ययन का वर्णन मिलता है। जब हस्ता नक्षत्र और श्रावण का समय आता, तब उपाकरण यज्ञ होता था। इसी के बाद वार्षिक पढ़ाई शुरू होती थी। वार्षिक अध्ययन में अनध्याय का सवाल अपने-आप उपस्थित होता है। अनध्याय आकस्मिक और अनिवार्य होता था।

(१) वार्षिक अध्ययन के बीच यदि विद्युत्, पवि तथा वृष्टि गिरने के अवसर आ पड़ते थे और कुहासा पड़ता था तब अध्ययन बंद कर दिया जाता था।

(२) श्राद्ध-भोज के दिन पढ़ाई एक दिन बंद रहती थी।

(३) गोत्र में किसी का जन्म या मरण होता तो दस दिनों के लिए उस अन्तेवासी का पाठ बंद रहता था।

(४) प्रति अमावस्या, प्रति प्रतिपद् और प्रति अष्टमी तिथि को अनध्याय अनिवार्य था।

(५) किसी आचार्य की मृत्यु पर और सहपाठी के देहावसान पर १० दिनों के लिए अनध्याय रहता था।

(६) किसी मृतक की अन्त्येष्टि-क्रिया में जो छात्र सम्मिलित होता, उसके लिए वह दिन अनध्याय का रहता था।

ये अनध्याय के नियम सभी प्रकार की शिक्षाओं में परिपालित होते थे।

वेदाध्ययन के नियम कुछ और भी कड़े थे। वेदों के अध्ययन के लिए बत्ती जलाने का समय (सूर्यास्त), पूर्णिमा के दिन, शूद्रों का पड़ोस, श्मशानभूमि और जनपद का पाश्ववर्त्ती जंगल, अनुपयुक्त समझे जाते थे।

रथ की सवारी करते समय, वृक्ष पर चढ़े रहने पर, जल में निमग्न रहने पर, शरीर में कष्ट रहने पर, उच्छिष्ट ग्रहण करने पर, केश कटा कर स्नान न करने की दशा में, स्नान करते समय, सेना में एवं भूखे ब्राह्मण तथा भूखी गाय के सामने वेद पढ़ना मना था। यदि ब्रह्मचारी पढ़ना चाहता हो तो श्वास रोक कर सूर्य की ओर दृष्टि कर पढ़ सकता था।

—शा० अ० ४ खं० ७

अध्ययन साढ़े पाँच मास तक चलता था। वेद पढ़ाते समय आचार्य पूर्व या उत्तर की ओर मुँह कर बैठते थे और विद्यार्थी ठीक आचार्य के सामने। एक साथ दो ब्रह्मचारी पढ़ाये जाते थे। छात्र का आसन गुरु के आसन से नीचा रहता था। वह न पाँव फैला सकता था और न शरीर को किसी वस्तु पर अवलंबित कर सकता था।

जब ब्रह्मचारी उचित रीति से बैठ जाते तब आचार्य से मंत्रोच्चारण के लिए अनुरोध करते थे।

आचार्य 'ॐ' मंत्र का उच्चारण करते और छात्र इसी मंत्र का द्विरुच्चारण करते।

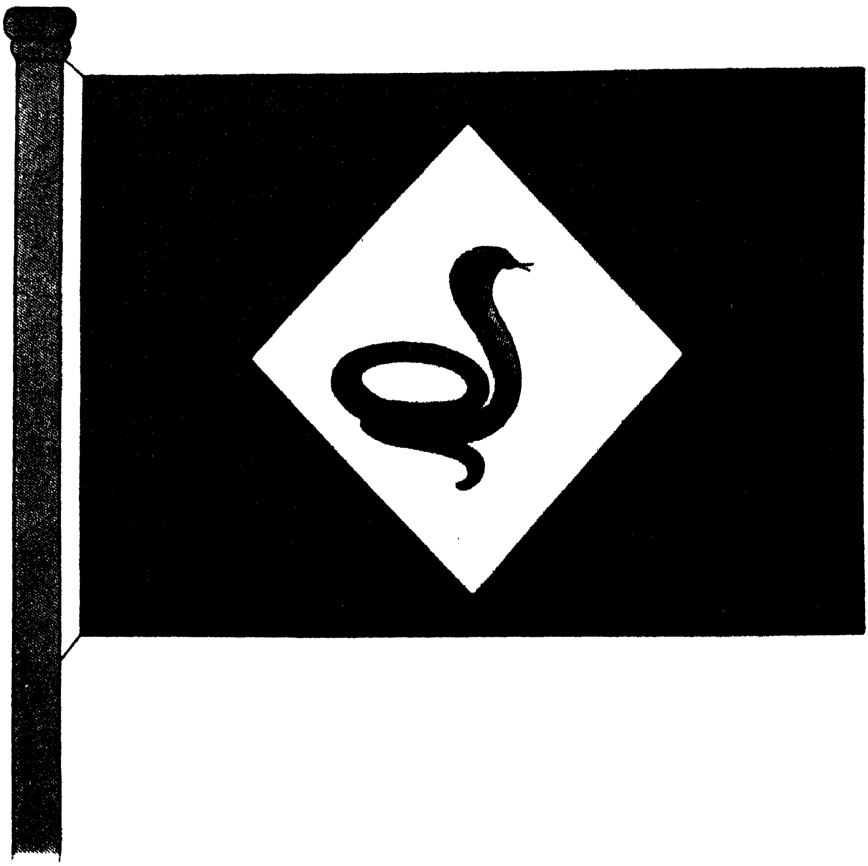
इसके पश्चात् वेदमंत्रों का पाठ होता था। मंत्र-पाठ के पश्चात् छात्र आचार्य के चरणों का स्पर्श कर चला जाता था।

मंत्राध्ययन के समय कोई अपना स्थान परिवर्त्तित नहीं करता था। यदि मंत्र-पाठ के समय कोई व्यतिक्रम किसी छात्र से होता, तो उसको तीन दिनों तक उपवास करना पड़ता था। साधारण प्रमाद के लिए एक दिन का उपवास पर्याप्त था। उपवास के दिन वह यथाशक्ति सावित्री की पुनरावृत्ति करता और ब्राह्मण को कुछ दान में देता।

—शां० सं० ८ अध्या० ४

जो ब्रह्मचारी अध्ययन समाप्त कर स्नातक रूप में जीवन बिताना चाहते थे, उन्हें भी कुछ निर्देशों का अनुसरण करना पड़ता था—

(१) स्नातक नग्न स्त्री की ओर कभी न ताके।



समाहितः पन्नगराजकेतुः विस्फारयन् याति धनुर्विधुन्वन्

—(रामा० लंका०)

(२) उगते और डूबते सूर्य की ओर न देखे।
(३) बुरे कर्म करनेवालों पर दृष्टिपात न करे।
(४) ऋतुमती और अचिरप्रसूता महिला से बातें न करें।
(५) अपौष्टिक भोजन न करे।
क्षीण आयुध का प्रयोग न करें।
अपनी स्त्री के साथ भोजन न करे।
(६) उच्छ वृत्ति से जीवन-यापन करे। बिना माँगे यदि कुछ मिल जाय और दूसरों के लिए यज्ञानुष्ठान से जो प्राप्त हो, उससे भी निर्वाह करे। यदि इन वृत्तियों में से कोई एक प्राप्त न हो, तो वह कृषि-कर्म और पशु-पालन के द्वारा जीवन-यापन करे।
(७) निश्चित समय पर अपनी स्त्री से संपर्क करे।
(८) दिन को न सोवे।
(९) खाली जमीन पर न पड़े।
(१०) रात के अंतिम और प्रथम पहर में जगा रहे।
(११) आचार्य का परित्याग न करे।

आचार्यों के स्वाध्याय के लिए भी निर्देश थे—

(१) स्त्री-संयोग और मांसभक्षण के एक दिन-रात के बाद आचार्य को वेद-पाठ करना चाहिए।
(२) आचार्य भी कच्चा मांस, चांडाल, ऋतुमती तथा अचिरप्रसूता महिला पर दृष्टिपात न करें।
(३) हजामत बनवाने पर या वमन करने पर वह वेद-पाठ न करें।
(४) मांस खाने या श्राद्ध का अन्न ग्रहण करने पर भी वेद-पाठ न करें।
(५) पार्वण दिनों के पूर्ववर्त्ती दिन के अपराह्ण-काल में वेद-पाठ न करें।
(६) इन आचार्यों के लिए अग्निदाह, विद्युत्-विलसन, पविपात, वृष्टि, घोर घटा तथा झंझावात के अवसरों पर वेद-पाठ विवर्जित था।

एवं अन्य गृह-सूत्र-ग्रंथों में भी शिक्षा के संबंध में अनेक मंत्रादि हैं, जो प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के समझने में बड़े सहायक सिद्ध होते हैं।

पारस्करगृह्यसूत्र के द्वितीय कांड की ग्यारहवीं कंडिका में भी अनध्याय का प्रसंग आया है। यहाँ उसका थोड़ा उल्लेख करना उचित जान पड़ता है।

(२) जिस दिन वेग से हवा बहती थी उस दिन और अमावास्या के दिन वेदों और वेदांगों के लिए पूर्ण अनध्याय रहता था। अन्य विषयों की पढ़ाई जारी रहती थी।

(२) श्राद्ध, उल्कापात, विद्युत्-विलसन, ऋतुसंधिकाल, भूमिचलन के दिन अनध्याय अनिवार्य था।

भिक्षा माँगना, समिधा लाना, जमीन पर सोना, नमकीन और तिक्त वस्तु न खाना, दंड-ग्रहण करना, अग्नि-अर्चना, गुरु की आज्ञा का पालन करना, मधु-मांस का परिहार करना, उच्च आसन पर बैठना, स्त्रियों के संपर्क में न रहना, झूठ न बोलना आदि ब्रह्मचारियों के कर्त्तव्य थे।

बारह वर्षों तक अध्ययन करना इनका कर्त्तव्य था। अध्ययन समाप्त करने पर ब्रह्मचारी उबटन लगाकर स्नान करता, अधः (Lower) और उपरि (Upper) वस्त्र पहनता, तथा सिर पर उष्णीष धारण करता था। कानों में कुंडल, आँखों में अंजन, बाहु पर ताबीज, पाँवों में जूते और हाथों में छड़ी, इस प्रकार सजधज कर वह अपना मुँह दर्पण में देखता था।

—पारस्कर, कांड २, कंडिका ६, मंत्र २-३१

पारस्कर गृह्यसूत्र में भी अध्ययन प्रारंभ करने का नक्षत्र हस्ता और मास श्रावण है।

(१) प्राचीन युग का छात्र जल में, वृक्ष पर, प्रातः, संध्याकाल में, शव या चांडाल के देखने पर पढ़ना बंद कर देता था।

(२) दौड़ते हुए पढ़ना मना था। दुष्कृतिवाले पुरुष को देखने पर, वाद्य-यंत्र के स्वर सुनने पर, दुःख से रोते मनुष्य को देख कर, श्मशान भूमि पर, कुत्ते, उल्लू, शृगाल, के देखने पर, साम-गान श्रवण करने पर और विद्वान् के आने पर अनध्याय होता रहता था।

(३) गुरु की मृत्यु पर दस दिनों तक अनध्याय होता और सहपाठी के मरने पर तीन दिनों तक (पारस्कर गृ०, कांड २, कंडिका १६)। साढ़े पाँच महीनों के अध्ययन के पश्चात् उत्सर्ग-यज्ञ होता था। किसी-किसी के मत से छह महीनों पर। पौष मास में वैदिक पाठ का उपसंहार होता था।

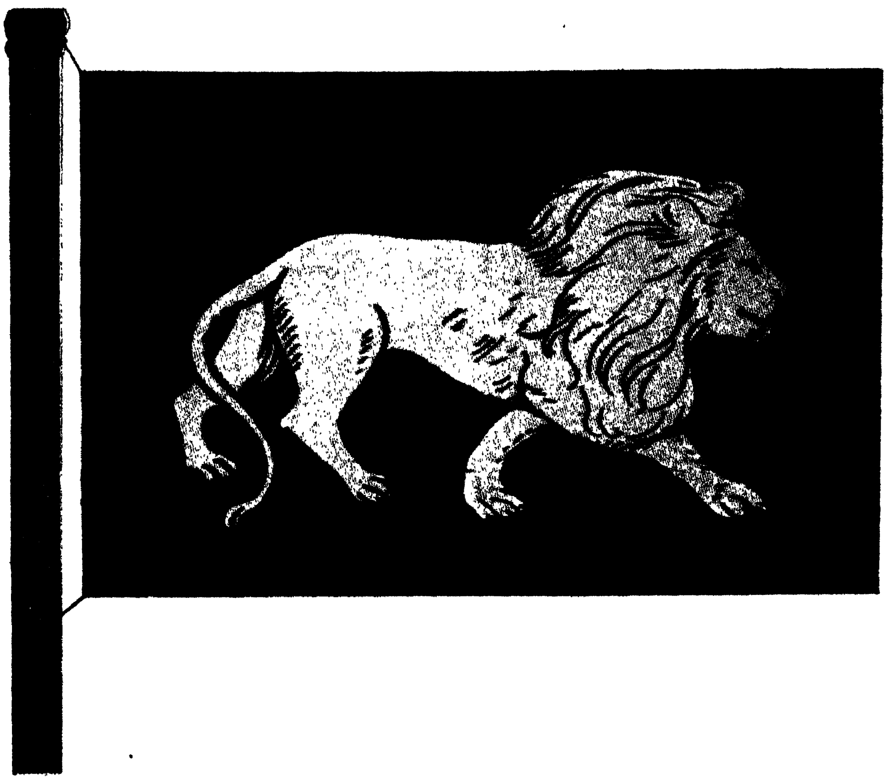
(मेरी दृष्टि में अध्ययन का सुन्दर समय श्रावण से पौष महीने तक समझा जाता था। उष्णदेशों में यही सुन्दर समय ही है। पर, बिहार के दोनों विश्वविद्यालयों में परीक्षाएँ अब मार्च-अप्रैल में हुआ करती हैं। कितना विचारशून्य यह आयोजन है। विदेशी सरकार के देशों में जाड़ा अधिक पड़ता है और इस देश में आने पर भी ये लोग इसी समय को बड़प्पन देते थे। पर उनके समय में भी प्रायमरी और मिडल परीक्षाएँ पौष में हुआ करती थीं। पर, काँगरेसी-सरकार के राज्य में ये परीक्षाएँ अप्रैल-मई में होने लगीं। छोटे-छोटे बच्चों को कितना कष्ट होता है, जिसका अनुमान सहृदय सज्जन ही कर सकते हैं।)

ब्रह्मचारी जलाशय के तट पर जाकर देवता, छंद, वेद, ऋषि, प्राचीन आचार्य, गन्धर्व और अन्य आचार्य, ऋतुमास तथा पूर्वज को बलि-प्रदान करता। चार बार सावित्री का पाठकर छात्र कहता—'मैंने इस वर्ष की पढ़ाई समाप्त कर दी।'

जैमिनी गृह्यसूत्रों के अनुसार भी हस्तानक्षत्र और श्रावणी पूर्णिमा वेदों के अध्ययन के आरम्भ का शुभ समय था। इस आचार्य के मतानुसार वर्षों तक वेदों का अध्ययन होता था। आचार्य को अज, मेष और गौ दक्षिणा रूप में दिये जाते थे।

कुछ आचार्यों के मतानुसार ब्राह्मण का अध्ययन छह वर्षों तक चलता था। सोलहवें वर्ष में गोदान-यज्ञ होता था। उसी समय उसकी दाढ़ी बनाई जाती थी। वेदाध्ययन की समाप्ति पर ब्रह्मचारी को वस्त्र, आसन, अवलेप, अंजन, दर्पण, यंत्र, वंशदंड और श्वेत उपानह् की प्राप्ति करनी पड़ती थी। वह अभिषेक कर पुराने परिच्छद का परिहार कर नये परिच्छद का धारण करता था। विद्यासमाप्ति के बाद वह मधुपर्क के लिए गुरु से अनुरोध करता था।

ब्रह्मचारियों के अर्घ्य-सत्कार के पात्र छह व्यक्ति होते थे—आचार्य, पुरोहित, श्वशुर,



सिंहध्वज
देवी भागवत में भगवती दुर्गा के सिंह-झंडे का वर्णन मिलता है।

राजा, मित्र और स्नातक। इसमें से प्रत्येक को आसन बैठने के लिए दिया जाता था। आसन पर्यंक-सा होता था। द्राह्यायण के मतानुसार आसन कुश, काष्ठ और ऊन के बने होते थे। चरणों को रखने के लिए भी आसन दिया जाता था। आसन पर बैठाकर पाद प्रक्षालित किये जाते थे। इसे अर्घ्यजल कहते थ। इसके पश्चात् आचमनार्थ जल मिलता था। इसके बाद मधुपर्क। अध्ययन समाप्त करने पर ही ब्रह्मचारी मधुपर्क का अधिकारी होता था। मधुपर्क दधि, घृत और मधु के मिश्रण से तैयार होता था। मधुपर्क पात्र में ढक्कन से आच्छन्न कर रखा जाता था। पर्यंक पर अतिथि के आसीन होने पर गृही उनके बायें पाँव को पहले धोकर पीछे दाहिना पाँव पखारता था।

मधुपर्क लेने के पूर्व वह मधुपर्क-पात्र की ओर देखता था। तब उसे अपने हाथ में लेता था। मधुपर्क को तीन बार अंगूठे और तर्जनी से चलाता और तीन बार इसके कुछ अंश को इन्हीं अँगुलियों से पृथ्वी पर गिराता। तब इसे पीता था। आचार्य साधारणतः अवशिष्ट मधुपर्क को अपने पुत्र या छात्र को देता था। मधुपर्क के पश्चात् आचमन किया जाता था। संभ्रांत अतिथि के सम्मान के लिए पशुओं का वध भी होता था। —पारस्कर गृह्यसूत्र, कांड १, कंडिका ३

प्रत्येक छात्र व्याहृति-मंत्र पढ़ कर हवन करता था। मंत्र इस प्रकार है—

भूर्भुवःस्वस्वाहा। भूः स्वाहा। भुवः स्वाहा। स्वः स्वाहा।

इन मंत्रों से हवन करते समय छात्र पाक तैयार होने पर हविष्यान्न में से कुछ अंश लेकर व्यंजन के साथ आग में डालता था। जिसका मंत्र इस प्रकार है—

प्रजापतये स्वाहा।
स्विष्टकृते स्वाहा।

बलिदेवत, पृथ्वी, वायु, प्रजापति, विश्वेदेवा, आपः, ओषधि, आकाश, काम, रक्षोगण, पितृदेव, रुद्र आदि देवों को बलिदान दिया जाता था।[1] रात-दिन में एक बार बलि देनी चाहिए। बलि देने के स्थान घर के भीतर, भीतरी घर के बाहर, भीतरी घर के द्वार पर और शयन के पार्श्व होते थे।

द्राह्यायण गृह-सूत्र में अध्ययन का समय दोपहर का पूर्वभाग उपयुक्त समझा जाता था।

श्वोभूते प्राधीयीरन् शिष्येभ्यः। —द्रा० प०, खं० ३, २।२०

पुरातन भारत में अध्ययन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए अनिवार्य था। यदि १६ वर्षों की उम्र तक ब्राह्मण का उपनयन नहीं होता, २२ वर्षों तक क्षत्रिय का और २४ वर्षों की उम्र तक वैश्य का, तो वे पतित सावित्रिक कहलाते थे। वे कोई यज्ञ-कर्म नहीं कर सकते थे। न अपनी उपजाति में वैवाहिक संबंध कर सकते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्यजाति के लिए शिक्षा अनिवार्य थी और बड़ी पवित्रता तथा कड़ी तपस्या से यह प्राप्त की जाती थी। शिष्य और शिक्षक दोनों का जीवन तपस्वी और

---

१. बलिमंत्र : 'पृथिव्यै नमः। वायवे नमः। प्रजापतये नमः। विश्वेदेवेभ्यो नमः। अद्भ्यो नमः। ओषधिवनस्पतिभ्यो नमः। आकाशाय नमः। रक्षोगणेभ्यो नमः। पितृभ्यो नमः। रुद्राय नमः।'

संयम का जीवन था। अनुशासन उनके कर्मों के भीतर था। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में अनुशासन के साथ दंड का विधान जुटा हुआ है। आश्रम-जीवन में दंड के लिए कोई स्थान न था। यदि शिक्षक की दृष्टि में छात्र अपने कर्त्तव्यों का सम्यक् पालन नहीं करता, तो उसे दंड देने के बजाय पवित्र और अधिक शिक्षित करने का उपाय किया जाता था। शिष्य और शिक्षक दोनों कर्त्तव्य के प्रतीक होते थे।

सैनिक-शिक्षालयों में अध्यापक छात्रों की मानसिक अभिरुचि के अनुसार विद्या प्रदान करते थे। महाभारत के शुक्राश्रम में पाण्डुपुत्र जब सैनिक-शिक्षा की प्राप्ति के लिए प्रविष्ट हुए तब भीम को गदा-युद्ध-विद्या सिखाई गई। युधिष्ठिर तोमर चलाने में निपुण हुए। नकुल और सहदेव तलवार-संचालन में दक्ष प्रमाणित हुए। अर्जुन ने धनुर्विद्या विशेष रूप से सीखी। धनुर्विद्या साधारणतः सब को सिखाई गई थी—

शर्यातेः प्रथमः पुत्रः शुक्रो नाम परंतपः।
येन सागरपर्यन्ता धनुषा निर्जिता मही॥
तत्प्रसादात् धनुर्वेदे समपद्यन्त पारगाः।
गदायां पारगो भीमस्तोमरेषु युधिष्ठिरः॥
असिचर्मणि निष्णातौ यमौ सत्यवतां वरौ।
धनुर्वेदे गतः पारं सव्यसाची परन्तपः॥

—महाभारत, आदि०, अ० ३३

महाभारत के आदिपर्व के १३७ वें अध्याय में जिस शिक्षा-प्रणाली का वर्णन हुआ है, वह मानवी शिक्षा का प्रथम रूप है, जिसकी पुनरावृत्ति प्रत्येक छात्र को स्वभावतः करनी पड़ती है। हस्तिनापुर में कुरु और पाण्डवों ने साथ-साथ वृक्षों पर चढ़ना, नदी को तैर कर पार होना और मैदान में खेलना सीखा। इनमें भीम ने आदिमानव की अधिक मनोवृत्ति प्रकट की। वह कौरवों के केश पकड़ कर नदी में डाल देते। एक कौरव को दूसरे पर पटक देते। दस लड़कों को पकड़ लेते और उनके साथ जल में खेलते और हाथों से पकड़ कर पानी में डुबकी मारते। जब वे लड़के मृततुल्य हो जाते तो उन्हें छोड़ते। वेग में, लक्ष्य-वेध में, खाने में, कीचड़ उछालने में भीमसेन धृतराष्ट्र पुत्रों को मात कर देते थे। आदिमानव की शिक्षा (Primitive type of education) के ये नमूने हैं—

जवे लक्ष्याभिहरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे।
धार्त्तराष्ट्रान् भीमसेनः सर्वान् परिमर्दति॥
हर्षात् प्रकीडमानांस्तान् गृह्य राजन्निलीयते।
शिरःसु विनिगृह्यैनान् योजयामास पाण्डवैः॥
कचेषु च निगृह्यैनान् विनिहत्य बलाद्बली।
चकर्ष क्रोशतो भूमौ घृष्टजानुशिरोंसकान्॥
दशबालाञ्जले क्रीडन् भुजाभ्यां परिगृह्य सः।
आस्तेस्म सलिले मग्नो मृतकल्पान् विमुंचति॥

—महा०, आदिपर्व, अ० १३६

रामायण-युग में जिस प्रकार विश्वामित्र और अगस्त्य के आश्रम विख्यात थे, महाभारत-युग में द्रोण का आश्रम उसी प्रकार सुप्रसिद्ध था। द्रोण अपने युग के अद्वितीय और अनुपम आचार्य थे। द्रोण ने सर्वप्रथम प्रयाग-स्थित भरद्वाज-आश्रम में अपने पिता भरद्वाज से ही शिक्षा प्राप्त की थी। पर, पिता की मृत्यु के बाद जब वह आश्रम ह्रासोन्मुख हो गया, तब आपने अग्निवेश्य से धनुर्विद्या सीखी थी। वर्तमान उत्कल-प्रदेश के गंजम जिले के महेन्द्र पर्वत पर स्थित परशुराम-आश्रम में भी आपने सांग्रामिक शिक्षा ग्रहण की। यहीं द्रोण ने वेद-वेदांत तथा अन्य शस्त्र-विद्या सीखी थी। द्रोण कट्टर ब्राह्मण थे। अपने युग के सर्वश्रेष्ठ सैनिक-शिक्षा-आश्रम के आचार्य होने पर भी ब्राह्मणत्व लिये रहते थे। वेदी की शक्ल का झंडा रखते थे। हस्तिनापुर के कृपाचार्य की बहन कृपी से ब्याह किया था। अश्वत्थामा इनका एकमात्र पुत्र था। एकबार जब कृपाचार्य के यहाँ पधारे थे, उन्होंने कुरु और पाण्डुपुत्रों को गेंद खेलते देखा था। खेलने के समय संयोग से युधिष्ठिर के अंगुलित्राण के साथ गेंद कुएँ में गिर पड़ा। सभी कुमारों ने वाण के द्वारा गेंद और अंगुलित्राण निकालने की पूरी चेष्टा की। पर, सफल-प्रयास न हुए। कुछ दूर पर कुमारों ने एक पके केश धनुर्धर को देखा। उन्होंने उसको घेर लिया और गेंद तथा अंगुलित्राण को कूप से धनुःप्रयोग के द्वारा निकालने का अनुरोध किया। धनुर्धर ने कूप में एक ऐसा वाण मारा कि वह अंगुलित्राण के साथ गेंद लिये धनुर्धर के पास वापस आया। उस वृद्ध वीर की अलौकिक दक्षता पर सभी विस्मित हुए और उनसे परिचय प्राप्त करने के लिए उत्सुक हुए। पर, द्रोण ने उनकी एक भी न सुनी और उनसे यही कहा कि कुमारो! आप लोग इस धनुर्धर की कुशलता की चर्चा भीष्म से कर देंगे और वे जान लेंगे—'मैं कौन हूँ।'

कुमारों के मुख से भीष्म ने आगन्तुक का वाणकौशल सुनकर कहा—द्रोण को छोड़कर वाण चलाने की ऐसी अद्भुत शक्ति किसी दूसरे में नहीं है। भीष्म उनसे मिले और महाश्रम के संचालन का भार उन्हें दिया। —महा०, आदिपर्व, १४०

उस समय प्रवेश के समय ब्रह्मचारियों की जाँच होती थी, पर वह जाँच किस प्रकार की होती थी, उसका पूरा पता नहीं मिलता।

शिष्योऽसि मम नैषादे प्रयोगे बलवत्तरः।
निवर्त्तस्व गृहानेव अनुज्ञातोसि नित्यशः॥ —आदि०, अ०, १४२

किस प्रकार के प्रवेश-नियम काम में लाये जाते थे, यह उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट नहीं होता।

मनु और महाभारत के परवर्त्ती अध्यायों से प्रवेश के संबंध में बहुत संकेत मिलते हैं। सैनिक-विद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए निम्नस्थ नियम काम में आते थे—

(१) सैनिक महाविद्यालय में प्रवेश कुरुक्षेत्र (पुरानी दिल्ली), मत्स्य (अलवर) पांचाल (रोहिलखंड) और शूरसेन (मथुरा जनपद) के रहनेवाले नौजवानों का होता था। दीर्घकाय तथा फुर्तीले मनुष्य ही सैनिक विभाग के उपयुक्त पात्र होते थे।

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पांचालान् शूरसेनकान्।
दीर्घांल्लघूंश्चैव नरानग्रनीकेषु योधयेत्॥—मनु०, अध्या० ७–१९३

(२) सैनिक छात्रों के दाँत, कान, आँख, श्मश्रु, पाँव, चरित्र और स्वास्थ्य पर पूरी नजर रखी जाती थी। सुदष्ट, सुहनु, सुबाहु, सुमुख, सुपाद, अकृश, विशालाक्ष और जितेन्द्रिय ये गुण सैनिक छात्रों के लिए आवश्यक थे। —उद्योगपर्व, अध्याय० १५--८

सैनिक विज्ञान के आचार्यों की भी सम्मति प्रायः इसी प्रकार की है—

(१) सैनिक अधिक उम्र के न हों। प्रत्येक कठिन कार्य करने की क्षमता रखता हो। जाड़े और आतप सहने की शक्ति उसमें अवश्य हो।

(२) उसके पाँव सुदृढ़ हों, कारण उसे अभियान में भाग लेना है।

(३) उसके नेत्र ठीक हों, कारण उसे दूर से ही शत्रु को देखना पड़ता है।

(४) उसके दाँत सुन्दर और साफ हों।

बाल्मीकि रामायण में इस बात की पुष्टि मिलती है। विश्वामित्र के आश्रम में प्रवेश पाने के समय राम की उम्र १५ की थी।

ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः।—वा० रामा०, बालकां०, अ० २०

किसी भी आश्रम में प्रवेश पाने पर सर्वप्रथम बला और अबला की शिक्षा दी जाती थी। अनेक दिनों तक कैडेट (Cadet) को अनुशासन में रहना पड़ता था। उसे घास या पुआल पर सोना पड़ता था या नग्न भूमि पर। साधारण भोजन ग्रहण करना पड़ता। चौबीसो घंटे सजग रहना पड़ता एवं भूख और प्यास पर नियंत्रण रखना पड़ता था। जिस दुश्मन से लोहा लेना होता उसे बल और अबल का ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त करना पड़ता था।

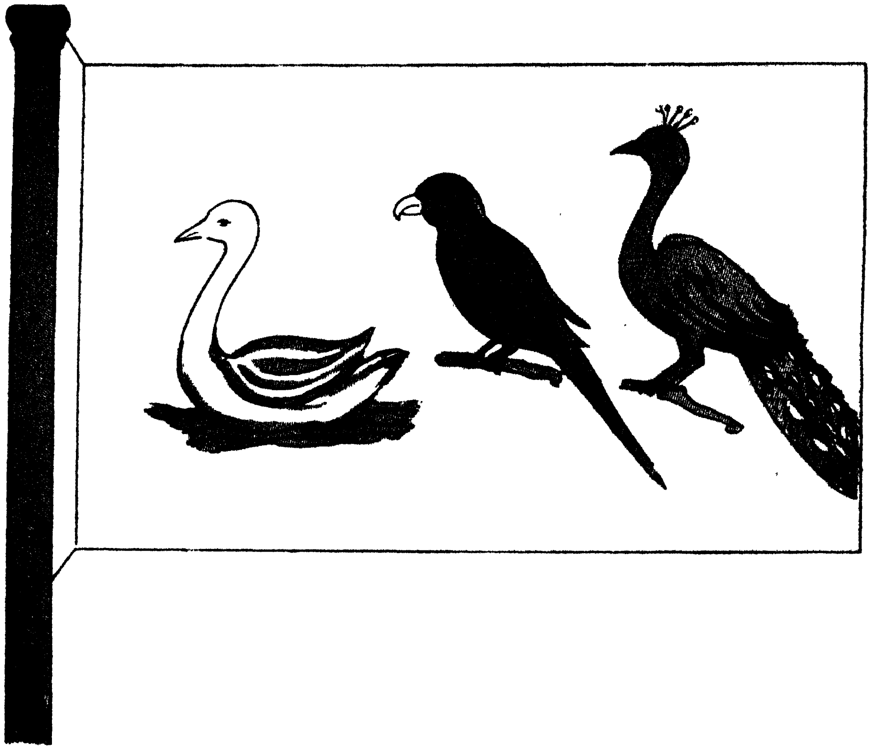
मंत्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलां तथा।
न श्रमो न ज्वरो वाते न रूपस्य विपर्ययः॥
न च सुप्तं प्रमत्तं वा धर्षयिष्यन्ति नैरृताः।
क्षुत्पिपासे न ते रामो पठतस्तात राघव॥
बलां चातिबलां चैव सर्वज्ञानस्य मातरौ।
तपसा संभृते चैते बहुरूपे भविष्यतः॥ —वा० रा०, बाल०, अ० २२

सभी प्रकार के सांग्रामिक ज्ञान की प्राप्ति में अनुशासन की आवश्यकता है। अनुशासन में रह कर वह दण्डचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र तथा इन्द्रचक्र का प्रयोग सीखता था। चक्रों का ज्ञान प्राप्त कर वह गदा चलाना सीखता था। गदा दो प्रकार की होती थी—मोदकी और शिखरी। गदा के बाद पाश-ज्ञान उपलब्ध करता था। पाश के अनेक भेदोपभेद थे—धर्मपाश, कालपाश, वरुणपाश आदि। इसके पश्चात् अशनि-प्रयोग का ज्ञान उपलब्ध करता था। अशनि के दो भेद थे—शुष्क और शीतल। इसके पश्चात् अस्त्रों का ज्ञान दिया जाता था।

अस्त्रों के विविध प्रकार थे-पिनाक-अस्त्र, नारायण-अस्त्र, अग्नि-अस्त्र, वायु-अस्त्र, क्रौंच-अस्त्र, सिंह-व्याघ्र-मुखास्त्र, शृगालवदनास्त्र आदि।

सिंहव्याघ्रमुखांश्चापि कंककोकमुखानपि।
गृध्रश्येनमुखांश्चापि शृगालवदनांस्तथा॥
—रा० बा०, अध्या० २७ : —रा० लं०, अध्या० १००, श्लो० ४४-४८

ग्रिफिथ साहब का कहना है कि हयशिरोनाम अस्त्र, सिंहव्याघ्रमुखादि अस्त्र सांग्रामिक इंजिन थे। इस प्रकार के अस्त्र अन्य देशों में भी पाये जाते थे। इंगलैण्ड के प्रथम एडवर्ड



अष्टमंगला पताका
(पूरा विवरण झंडा शीर्षक प्रकरण में सप्रमाण प्राप्त होगा ।)

ने ब्रेचीन को घेरते समय War-Wolf [भृगमुखास्त्र] का प्रयोग किया था। इनबर पर आक्रमण करने के समय Cat House और Sow का प्रयोग एडवर्ड तृतीय ने किया था। हमारी दृष्टि में शस्त्रों के प्रयोग में कोई सभ्य जाति प्राचीन भारत की समता नहीं कर सकती थी।

शक्ति-प्रयोग की भी शिक्षा विविध प्रकार से दी जाती थी। रामायण के लक्ष्मण को शक्ति-प्रयोग के द्वारा ही चेतनाशून्य बना दिया गया था और हनुमान् को संजीवनी बूटी के लिए हिमवान् की शरण लेनी पड़ी थी।

सैनिक कर्ण ने भी एक शक्ति अर्जुन के वध के लिए सुरक्षित रखी थी। शक्ति के अनेक प्रकार थे।

जब सैनिक छात्र विविध शस्त्रास्त्रों के ज्ञान में पारंगत हो जाता था, तब आश्रम में उसकी परीक्षा विविध प्रकार से होती थी।

द्रोण ने एक बार अपने प्रत्येक शिष्य को कमण्डलु और अपने पुत्र अश्वत्थामा तथा अर्जुन को एक-एक कलश हाथों में देकर कहा—"जब तक अन्य राजकुमार अपने कमण्डलु में जल भरें तब तक तुम दोनों कलशों में समीपवर्त्ती नदी से जल भर कर ले आओ।" अश्वत्थामा और अर्जुन ने नदी न जाकर वरुणास्त्र का प्रयोग किया और जल की सृष्टि उसी स्थान में कर अपने-अपने जलपूर्ण कलश को गुरु के समीप सब से पहले अर्पित किया। यदि वे नदी जाते तो अन्य राजकुमारों से पहले नहीं आते।

अन्धकार में भी अस्त्र-प्रयोग सिखाया जाता था। अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् हस्ती, अश्व, रथ तथा पदाति-संचालन की शिक्षाएँ दी जाती थीं। वीणा आदि वाद्य-यंत्रों की भी शिक्षा मिलती थी।

भारतीय सेना के चार प्रमुख अवयव थे—हय, गज, रथ और पदाति। मौर्यकाल में नौ-सेना भी भारतीय सेना का एक भाग बन बैठी थी। अयोध्याकांड में निषादराज की सुदृढ़ नाविक सेना का पता चलता है। सैनिक संगठन की भी शिक्षा छात्रों को मिलती थी। इसी को इन दिनों पेट्रोल-सिष्टम, भी कहते हैं। प्राचीन भारतीय सैनिक संगठन आश्चर्य का विषय था। पत्ति सेना की सबसे छोटी टुकड़ी थी। इसमें एक रथ, एक हाथी, पाँच पैदल सिपाही तथा तीन घोड़े होते थे। सेनामुख पत्ति से तिगुना बड़ा होता था और गुल्म सेनामुख से तिगुना बड़ा। निम्नस्थ चित्रपट भारतीय सैन्य-संगठन रीति का द्योतक सिद्ध होगा—

	रथ	गज	अश्व	पदाति	पूर्ण संख्या
(१) पत्ति—	१	१	३	५	१०
(२) सेनामुख—	३	३	९	१५	३०
(३) गुल्म—	९	९	२७	४५	९०
(४) गण—	२७	२७	८१	१३५	२७०
(५) वाहिनी—	८१	८१	२४३	४०५	८१०
(६) पृतना—	२४३	२४३	७२९	१२१५	२४३०
(७) चमू—	७२९	७२९	२१८७	३६४५	७२९०
(८) अनीकिनी-	२१८७	२१८७	६५६१	१०९३५	२१८७०
(९) अक्षौहिणी-	२१८७०	२१८७०	६५६१०	१०९३५०	२१८७००

जैसी आवश्यकता होती थी, जितने शत्रु होते थे, उनसे भिड़ने के लिए उसी के अनुरूप सेना की टुकड़ियाँ काम में लाई जाती थीं।

विश्वव्यापी युद्ध के अवसरों पर अक्षौहिणी के रूप में सेना एकत्र होती थी। अन्यथा गुल्म, वाहिनी आदि से ही काम चलता था।

इसके पश्चात् सैनिक-शिक्षालय में व्यूह-रचना की शिक्षा दी जाती थी। इस विद्या के अधिकारी वे ही होते थे, जिसे सैनिक-विज्ञान का पूरा परिचय प्राप्त होता था। अभियान (March) और आक्रमण (Attack) के समय व्यूह-रचना की आवश्यकता होती थी। शत्रु पर विजय प्राप्त करने तथा शत्रु की विचार-शक्ति को लुप्त करने में व्यूह-रचना बड़ी सहायक होती थी। व्यूह-रचना के लिए अनवरत अभ्यास तथा नैपुण्य अपेक्ष्य थे। जिस समय सेना कूच करती थी, उस समय दंड के रूप में उसकी रचना होती थी। दण्ड-व्यूह की जरूरत उस समय होती थी जिस समय चारों ओर से आक्रमण की आशंका होती थी। सेना जब शिविर में रहती थी, या विश्राम करती थी, तब उसकी रचना कमल-व्यूह में होती थी।

ग्निपुराण : —मनु० अध्या० ७। १८७

बड़े-बड़े सैनिक-विद्यालयों में छात्रों के भोजनादि पाचक बनाया करते थे। वर्त्तमान विद्यालयों में जिस प्रकार भोजन की व्यवस्था पाचक आदि करते हैं, ठीक इसी प्रकार की प्रणाली आश्रमों में होगी। महाभारत के आदिपर्व में इस प्रकार का संकेत मिलता है—

आहूय वचनं द्रोणो रहः सूदमभाषत।
अन्धकारेऽर्जुनायालं न देयं ते कदाचन॥
न चाख्येयमिदं चापि मद्वाक्यं विजये त्वया॥

—महा०, आदि०, अध्या० १४२।३

सैनिक-शिक्षा की समाप्ति के अवसर पर दीक्षान्त-समारोह होता था और छात्रों को उपाधियाँ दी जाती थीं। राज्य-सैन्य में बड़े-बड़े पद, वर्ग तथा सम्मान थे। पात्तिक, गुल्म-पति, वाहिनीपति, सेनापति, सेनानायक और बलाध्यक्ष आदि अनेक सैनिक पद थे। अर्द्धरथ, रथ, महारथ, अतिरथ आदि भी अनेक सम्मान की उपाधियाँ थीं।

प्रत्येक सैनिक-आश्रम में एक और प्रथा जारी थी। जब छात्र सैनिक-शिक्षा प्राप्त कर आश्रम छोड़ने लगता था, उस समय गुरु उनसे दक्षिणा की याचना करते थे। भारत के किसी भी विद्यालय में शिक्षा शुल्क लेकर नहीं दी जाती थी। इसलिए, विद्यार्थी खुशी से दक्षिणा गुरु को देता था या गुरु भी कभी-कभी दक्षिणा की याचना करते थे। विश्वामित्र ने राम से राक्षसों के संहारार्थ वधरूप दक्षिणा माँगी थी। द्रुपद को कैद करने तथा उन्हें नीचा दिखाने के लिए द्रोण ने अर्जुनादि शिष्यों से द्रुपद का पराभव-रूप शुल्क माँगा था। इन याचनाओं का सच्चा तात्पर्य छात्रों की बुद्धि, कुशलता, सैनिक संगठन-शक्ति, व्यूह-रचना आदि को देखना था। भारतीय शिक्षक निःस्पृह और त्यागी होते हैं। पुनः छात्र जिस समय रणक्षेत्र में शौर्य प्रदर्शित करते, उस समय उनकी पूरी जिम्मेवारी शिक्षकों पर रहती थी। विश्वामित्र के शिष्य राम और लक्ष्मण के शस्त्र-ज्ञान की परीक्षा रणांगण में हुई थी, जहाँ राक्षस सतत आर्य-सभ्यता के ध्वंस के लिए खड़े थे। पर, द्रोण के शिष्यों ने अचानक द्रुपद पर धावा बोल दिया था।

साधारणतः दीक्षान्त-समारोह आश्रम में ही हुआ करता था। वहाँ समरांगण की तैयारी की जाती थी। कृत्रिम दुर्ग बनाये जाते थे। दर्शकों के लिए प्रेक्षागार निर्मित होते थे। बड़े-बड़े मंच रखे जाते थे। राज्य के सभी संभ्रान्त मनुष्य निमंत्रित होते थे। जिस दिन यह युद्ध-कला-प्रदर्शन होता था, उस दिन भेरी बजती थी। शंख फूँके जाते थे, दुंदुभी निनादित होती थी।

वीर सैनिक छात्र सशस्त्र आचार्य के साथ उपस्थित होते थे। उनकी उँगलियों में अंगुलि-त्राण, शरीर पर कवच, सिर के ऊपर पाग, हाथों में धनुष, कंधे पर तरकस और कमर के दोनों पार्श्वों में चमकती तलवारें लटकती रहती थीं।

आचार्य केन्द्रस्थल पर पहुँच शंख फूँकते थे। सभी तरुण योद्धा पंक्ति में खड़े होकर धनुष पर प्रत्यंचा इस प्रकार सशब्द वेग से चढ़ाते थे कि दर्शकों के हृदय में आतंक छा जाता था। शस्त्रों के प्रयोग द्वारा वे सर्वप्रथम संभ्रान्त अतिथियों का सत्कार करते थे। बाणों पर योद्धाओं के नाम लिखे रहते थे। अपने-अपने बाणों से वे गुरुजनों के चरणों और कर्णों का स्पर्श कर उनके प्रति अपना सद्भाव प्रकट करते थे। शर तीव्र वेग से उनके पाँवों और कानों को चूमते हुए बिना क्षति पहुँचाये निकल जाते थे। यही सैनिक सलामी कही जाती थी।

पदाति सैनिक के रूप में छात्रों ने अस्त्र-शस्त्र कौशल प्रदर्शित किये। हय-हस्ती तथा रथ-संग्राम छिड़े। तलवार, ढाल, गदा, शक्ति आदि की निपुणता दिखाई गई। अन्त में वैज्ञानिक युद्ध का समारंभ हुआ। वीरों ने आग्नेयास्त्रों के प्रयोग से अग्नि पैदा की, जिसकी लपट से हाहाकार मच गया कि तुरत दूसरे वीर ने वरुणास्त्र से जल की सृष्टि की कि बात की बात में आग बुझा दी गई। वायव्यास्त्र को हाथ में लेकर इस प्रकार वायु का सर्जन किया गया कि घर, दुर्ग, वृक्ष सभी उन्मूलित-से होने लगे। इसी बीच पार्जन्य अस्त्र से बादलों का सर्जन कर वायु की गति अवरुद्ध कर दी। भौम अस्त्र से भूमि की सृष्टि की और पार्वत अस्त्र से पर्वत की। पुनः अन्तर्धान अस्त्र से सब को विलीन कर दिया। रथी के रूप में योद्धा एक क्षण में उन्नतकाय हो जाता तो दूसरे क्षण वामन। एक क्षण में रथ के नीचे तो दूसरे क्षण में ऊपर। एक क्षण में रथ के मध्य में तो दूसरे क्षण में जमीन पर। इस प्रकार वीर विद्यार्थियों के अस्त्रकौशल का प्रदर्शन हुआ करता था।[1]

---

१. ततो बद्धांगुलित्राणाः बद्धकक्षाः महारथाः।
बद्धतूणाः सधनुषो विविशुर्भरतर्षभाः॥—महा०, आदि १४४
इमौ बाणावनुप्राप्तौ पादयोः प्रत्युपस्थितौ।
रथस्याग्रे निखातौ मे चित्रपुंखावजिह्मगौ॥
इमौ चाप्यपरौ बाणौ अभितः कर्णमूलयोः।
संस्पृशन्तावतिक्रान्तौ पृष्ट्वेवानामयं भृशम्॥—विराट्० अ० ५४।५
आग्नेयेनासृजद् वह्निं वारुणेनासृजत् पयः।
वायव्येनासृजद् वायुं पार्जन्येनासृजद् घनान्॥
भौमेन प्रासृजद् भूमिं पार्वतेनासृजद् गिरीन्।
अन्तर्धानेन चास्त्रेण पुनरन्तर्हितोऽभवत्॥
क्षणात् प्रांशुः क्षणात् ह्रस्वः क्षणाच्च रथधूर्गतः।
क्षणेन रथमध्यस्थः क्षणेनावतरन् महीम्॥
सौष्ठवेनाभिसंयुक्तः सोऽविध्यद् विविधैः शरैः॥—महा० १४६।२०—२४

चौथा परिच्छेद

मोर्चेबन्दी की दृष्टि से पुरातन भारत का भौगोलिक अध्ययन

मोर्चेबन्दी की दृष्टि से प्राकृत भूगोल का महत्त्व—

किसी भी सैनिक और योद्धा के लिए मोर्चेबन्दी की दृष्टि से अपने देश के भूगोल का ज्ञान उपलब्ध करना अति आवश्यक है। देश में कितने प्रकार की जमीन है, उसके सुन्दर स्थल और प्रधान नगर किस ओर हैं, उस देश की नदियाँ कहाँ से निकलती हैं और किस ओर बहती हैं; उन नदियों की गहराई और प्रवाह की प्रखरता किस प्रकार की है, उसकी पर्वत-मालाएँ किन-किन देशों को उस देश से पृथक् करती हैं, उन पर्वतों की ऊँचाई कितनी है, वे पर्वत हरे-भरे वृक्षों और वनों से आच्छादित हैं या केवल चट्टानों से युक्त हैं। ये पर्वत चढ़ने योग्य हैं या दुर्लंघ्य। इन सभी बातों की जानकारी सैनिक के लिए अपेक्ष्य है।

नदी, वन, पर्वत, उपत्यका—ये सभी प्राकृत रुकावटें हैं। सेना की गति में ये बाधक और सहायक होते हैं। प्रत्येक संग्राम में दो दल होते हैं। प्रत्येक दल की संगठित सेना रहती है। प्रत्येक सेना का लक्ष्य प्रतिपक्षी की युद्धचिकीर्षु शक्ति को नष्ट-भ्रष्ट करना है। पर्वत की घाटियों, नदियों के तटों, समुद्र के किनारे तथा प्रधान शहरों पर जो सैन्य-दल अधिकार जमा लेता है, उसे हटाना विरोधी दल के लिए कठिन हो जाता है। इसलिए, एक के लिए ये प्राकृत रुकावटें सहायक प्रमाणित होती हैं और दूसरे के लिए बाधक।

विविध प्रकार की सहायता भी ऐसी सेना को नहीं मिल सकती। वह सेना ऐसी स्थिति में पड़ जाती है कि उसे भागने या हार मानने के अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय नजर नहीं आता।

इस बात का स्पष्टीकरण एक दृष्टान्त द्वारा अपेक्ष्य है। मान लीजिए कि एक सेना एक जगह पर ठहरी है। इस सेना को विजय-प्राप्ति के लिए अशन, आयुध, यान, घोड़े, लॉरी, मोटर तथा अन्य युद्ध-सामग्रियों की जरूरत है। यदि इस सेना के समीप एक बड़ा शहर हो जहाँ सभी सामान सुरक्षित रह सकते हों और वह शहर भी ऐसा हो जहाँ चारों ओर की सड़कें आकर मिली हों, तो मोर्चेबन्दी की दृष्टि से इस प्रकार की सेना को विजय-प्राप्ति की बहुत सुविधाएँ प्राप्त हैं। वह शहर भी यदि नदी के तट पर बसा हो या पर्वत शृंग पर स्थित हो या समुद्र के तट पर, तो उस सेना के लिए मणिकांचन-संयोग है। इस प्रकार के नगर को ही सांग्रामिक शहर (Military town) कहेंगे और ऐसी स्थिति में संप्राप्त सेना विजय अवश्य प्राप्त करेगी, ऐसी आशा सभी कर सकते हैं।

संग्राम में सड़कों का महत्त्व अत्यधिक है। जो सेना सब से जल्दी पहुँचनेवाली सड़क अख्तियार करेगी, वही सफलता की अधिक आशा रख सकती है। इसलिए सैनिकों को सड़कों का या विविध प्रकार के मार्गों का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। सेना के आगे बढ़ने में अथाह नदियाँ प्रत्यूह उपस्थित करती हैं। पर्वतमालाएँ भी उनकी प्रगति में रोड़े अटकाती हैं।

अतः नदियों, पर्वतों की स्थितियों की पूरी जानकारी सैनिक को प्राप्त कर लेना आवश्यक है। साथ-साथ नदी पार होने के साधनों की भी व्यवस्था के लिए अभियन्ता-दल को सावधान रखना चाहिए। प्राचीन काल में जब वैज्ञानिक आविष्कार न हुए थे, अथाह नदियों को पार करना अत्यन्त कठिन व्यापार था। पर्वत की घाटियाँ या पर्वतीय मार्ग संग्राम के लिए बहुत लाभदायक चीज हैं। आक्रमण करने में जो सैनिक-दल तेजी से दूरी तय करता है या तेजी से दूरी तय करने का साधन रखता है, उसकी पाँचों उँगलियाँ घी में रहती हैं। इसलिए, संग्राम में तेज सवारियों की आवश्यकता महसूस होती है। घोड़े, रथ, विमान प्राचीनकाल में प्रयुक्त होते थे और इन दिनों मोटर, हवाई जहाज आदि।

भारतीय सैनिक को लहलहाते शस्यश्यामल क्षेत्रों को ध्यान में रखना होगा। और, पुरातन सैनिक इस बात पर सदा नजर रखते थे। भारत के प्रत्येक पुरातन जनपद या महाजनपद को अभियन्ता-दल रखना पड़ता था। इस दल का कार्य सड़कें बनाना, पुल बाँधना, शिविर निर्मित करना, खाई खोदना तथा वन और पर्वतों के बीच राह निकालना था।

जिस स्थान पर दो या दो से अधिक सड़कें आकर मिलती हैं, वह स्थान सांग्रामिक दृष्टि-कोण से बड़े महत्त्व का है। उसपर कब्जा करनेवाली सेना लाभ में रहती है। ऐसी सेना अनेक रास्तों से अभीष्ट स्थान पर अपने सैनिकों को भेज कर अपना काम साध सकती है। विरोधी सेना को रोक सकती है या भिड़कर परास्त कर सकती है। सैनिक को ऐसे स्थलों की जानकारी रखनी चाहिए।

सैनिक को स्मरण रखना होगा कि शैल, सरिताएँ प्राकृत रुकावटें हैं और प्राकारादि कृत्रिम रुकावटें। ऐसी रुकावटों से एक सेना तो आगे बढ़ नहीं सकती और दूसरी सेना को अपनी रक्षा के लिए उपाय सोचने और साधन जुटाने का अवसर मिल जाता है।

विगत यूरोपीय महासंग्राम में सीगफ्रीड और मैजिनौट (Maginot) सैनिक-श्रेणियों ने जर्मन-शत्रुओं को किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर दिया था। पुनः जर्मनी को अपनी शक्ति बढ़ाने में ये श्रेणियाँ सहायक हुई थीं। प्राकारों से तीन प्रकार के लाभ होते हैं—(१) युद्ध-सामग्री की सुरक्षा (२) शत्रु-मार्ग का अवरोध और (३) आश्रय-स्थल का काम।

हमारे देश में पाँच प्रकार की रुकावटें हैं—

(१) शैल, (२) वन, (३) दलदल भूमि(४) नदियाँ और (५) मरुभूमि।

इन पाँचों में नदी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। पुरातन काल में नदी-मार्ग से सेना आगे बढ़ती थी। नदियाँ रुकावट उपस्थित करने के साथ-साथ यातायात का भी साधन बनती थीं।

भारतवर्ष—

जिस देश में हम रहते हैं वह अनेक नामों से प्रख्यात है। इसके अनेक नामों में सप्तसिंधव, हसहिन्दू, सिंदु, भारतवर्ष, इंडिया, हिन्दुस्तान आदि प्रमुख हैं। अविनाश बाबू अपने 'ऋग्वेदिक इंडिया' ग्रन्थ में लिखते हैं कि तत्कालीन आर्य इस देश को

सप्तसिंधव नाम से पुकारते थे। ऋग्वेद का समकालीन ग्रंथ आवेस्ता में सप्तसिंधव के स्थान में हप्तहिन्दू उल्लिखित है। चीनी यात्रियों और परिव्राजकों ने इस देश का नाम शिंडु रखा था जो हेंडु या सिंधु अथवा Tiench-chu का अपभ्रंश है। वे इसे इंडु या इन्दु भी कहते थे। यह नाम सिन्धु से संबंध रखता है। भरतों के नाम से इस देश का नाम भारत हुआ। ऋग्वेद में भरतों का वर्णन पराक्रमी वीरों के रूप में हुआ है। इनके गुरु विश्वामित्र थे। सुदास से इनका युद्ध हुआ था। ऋग्वेद के परवर्त्ती काल में भरत गंगा और यमुना की तराइयों में फैल गये। इन्हीं के नाम से यह देश भारत हुआ। पुराणों के अनुसार भी इस देश का नाम भारत ही था। यह हिमवान् और समुद्र के मध्य में स्थित था—

> उत्तरं यद् समुद्रस्य हिमवद् दक्षिणं च यत्।
> वर्षं तद् भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा ॥ —वायुपुराण, पृ०-४५-७५

समुद्र से उत्तर तथा हिमालय से दक्षिण भारतवर्ष है, जहाँ की प्रजा भारती कहलाती थी। इस बात की पुष्टि विष्णुपुराण से भी होती है—

> उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
> वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र संततिः ॥—विष्णु पु०, ११। ३। १।

भरत शब्द उपजाति (Tribe) तथा जनपद दोनों का द्योतक है। प्रख्यात उपजाति भरतों के नाम पर ही देश का नाम भारत हुआ।

हिन्दू नाम डेरियस (Darius) के पारसीपोलिस तथा नक्षी-रुस्तम शिलालेखों में मिलता है। ग्रीक-इतिहास के पिता हिरोडोटस ने इसे इंडिया संज्ञा प्रदान की थी। यह इंडिया शब्द सिन्धु का विकृत और संशोधित रूप है। सिंधु का विकृत रूप इन्दु या इण्डुज है। इण्डु से ही इंडिया संज्ञा बनी। स्काईलाक्स प्रथम ग्रीक थे जो भारत पधारे थे। इनका आगमन इस देश में ५१२ से ५१० ई० पू० के बीच हुआ था। हिकेटीयस (Hiketeus) ग्रीक भूगोल के पिता थे और मिलेटस के रहनेवाले थे और स्काईलास्क के समकालीन भी। इन्होंने इंडिया का उल्लेख अपने भूगोल में किया है। इनके ग्रंथ के अवशिष्ट पृष्ठों में भारत के आठ नाम उल्लिखित हैं—इंडज, दी इंडी, कैसपेपीरस का नगर (City of Kspapyrus), गन्दारी देश प्रभृति। मेगास्थनीज के पूर्व जितने विदेशी लेखक हैं, सब ने सिन्धु तथा उपरिगंगासिक्त उत्तर-पश्चिमी भारत का ही वर्णन दिया है। केवल मेगास्थनीज ने ही प्रायः समस्त भारत का वर्णन दिया है। पर, वह भी वर्त्तमान पटना या पालिबोथरा से और आगे नहीं बढ़ा था।

कात्यायन ने भारत के कुछ भागों का उल्लेख किया है और अशोक के प्रस्तर-लेखों में जम्बूद्वीप का नाम आया है। इस देश का सबसे पिछला नाम हिन्दुस्तान है। हिन्दू-लेखों में विजयनगर के राजा के शिलालेख में हिन्दू शब्द सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ था।

स्वर्गीय प्रो० मजुमदार शास्त्री ने राजशेखर की काव्यमीमांसा के आधार पर कुमारीद्वीप को भारत और उसके उपनिवेश के अर्थ में परिगृहीत किया था—

अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।
योजनानां सहस्रं वै द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरात्।
पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनास्तथा॥

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के दशम अध्याय में इसे कुमारीद्वीप कहा है—

कुमारीद्वीपश्चायं नवमः। अथ च कुमारीद्वीपे—

विन्ध्यश्च पारिपात्रश्च शुक्तिमानृक्षपर्वतः।
महेन्द्रसह्यमलयाः सप्तैते कुलपर्वताः॥

पुरातन भारत का विस्तार—उपर्युक्त कुलपर्वतों की स्थिति से देश के विस्तार का पता चल जाता है। आज का विन्ध्य कल का भी विन्ध्य ही था। पारिपात्र श्रीजयचन्द्र जी के अनुसार पश्चिमविन्ध्य था, और ऋक्ष पूर्वविन्ध्य। विन्ध्य भारत का मध्यभाग कहलाता था। स्वर्गीय डॉक्टर पारजिटर पारिपात्र से आधुनिक विन्ध्य-श्रेणी के पर्वत ग्रहण करते थे। अरावलि-पर्वत भी इसी के अन्तर्गत था। कूर्म तथा वायुपुराण के मतानुसार ऋक्षपर्वत से ही नर्मदा और ताप्ती नदियाँ निकलती थीं। पूर्वीघाट को महेन्द्र पर्वत कहते थे। टाल्मी का यही मियाराड्रोज था। कलिंग तक यह पर्वत फैला था। सह्याद्रि पश्चिमी घाट है। डॉ॰ पारजिटर शुक्तिमान् को ही अरावलि पर्वत कहते थे। पर, पीछे चल कर उन्होंने गारो, खासी, तिप्परा पर्वतों को इसके अन्तर्गत माना था। डॉक्टर आर॰ सी॰ मजुमदार शुक्तिमान् को सुलेमान के रूप में ग्रहण करते हैं। कनिंघम शुक्तिमान् को छत्तीसगढ़ और वत्सर का सीमान्त पर्वत बताते हैं। सी॰ वी॰ वैद्य (C. V. Baidya) की दृष्टि में शुक्तिमान् काठियावाड़ की पर्वतमाला है।

इन कुलपर्वतों के अतिरिक्त क्षुद्र-पर्वत भी थे। उनमें श्रीपर्वत पुष्पगिरि, वेंकट, अरुणाचल और ऋषभ उल्लेखयोग्य हैं। ये सभी महेन्द्र पर्वत या पूर्वीघाट के क्षुद्र पर्वत थे। दर्दुर और नीलगिरि मलय-श्रेणी के भाग थे। वैदूर्य सह्य पर्वत का उत्तर-पश्चिमी अवयव था। नासिक के गोवर्धन और दौलताबाद के देवगिरि भी उल्लेखयोग्य क्षुद्र पर्वत थे।

ऋष्यमूक अहमदनगर से नलद्रुव तक फैला था। प्रस्रवण गोदावरी तक फैला था। अर्बुद अरावलि का अवयव था। गोवर्द्धन यमुना तक फैला था। चित्रकूट विन्ध्य का भाग था। बराबर शैल पूर्वी विन्ध्य का भाग था। स्वर्गीय प्रिंसिपल जैक्सन बराबर शैल को गोरखगिरि कहते थे। राजगिरि अपने सुन्दर शृंगों—गृध्रकूट, ऋषिगिरि, वैभार, विपुल तथा पाण्डव—के साथ पूर्वी विन्ध्य का भाग था।

ये कुल और क्षुद्र पर्वत समस्त भारत में फैले हुए थे। भारतवर्ष समस्त देश को संसूचित करनेवाली संज्ञा है। अन्य नाम देश के खंडों के द्योतक हैं।

भारतवर्ष के खंडों के नाम—महाभारत, पुराण, वराहमिहिर और भास्कराचार्य के मतानुसार भारतवर्ष के नौ खंड थे—(१) इन्द्र, (२) कसेरुमत्, (३) ताम्रपर्ण, (४) गभस्तिमत्, (५) कुमारिक, (६) नाग, (७) सौम्य, (८) वरुण, (९) गान्धर्व। कनिंघम अपने पुरातन भारतीय भूगोल में लिखते हैं कि इन खंडों की पहचान के लिए कोई संकेत नहीं है। पर पौराणिक साक्ष्य के आधार पर इन भागों के संबंध में ये संकेत मिलते हैं—

(१) इन्द्र से पूर्वी भारत का बोध होता है।
(२) वरुण से पश्चिमी भारत का।
(३) कसेरु से उत्तरीभारत का।
(४) कुमारिक से मध्य या केन्द्रीय भारत का।

अलबेरुनी ने भी इस संबंध में कुछ संकेत किये हैं—

(१) कसेरुमत् से पूर्वी भारत का बोध होता है।
(२) ताम्रपर्ण से दक्षिण-पूर्वी भारत का।
(३) गभस्तिमत् से दक्षिण-भारत का।
(४) नाग से दक्षिण-पश्चिमी भारत का।
(५) सौम्य से पश्चिमी भारत का।
(६) गान्धर्व से उत्तर-पश्चिमी भारत का।
(७) वरुण के लिए कोई संकेत नहीं है।
(८) इन्द्रद्वीप से मध्य-भारत का।

अलबेरुनी का नगरसंवृत सागरसंवृत का विकृत रूप है। पर, भ्रान्तिवश वह इसे उत्तर-पूर्वी भारत समझता था।

अब यह बात सिद्ध हो गई है कि ताम्रपर्ण आधुनिक लंका था। इन्द्रद्वीप ब्रह्मदेश था। कसेरुमत् भारत के दक्षिण-पूर्व था। स्वर्गीय मजुमदार कसेरुमत् को मलयप्रायद्वीप समझते थे। गान्धर्व गान्धार का विकृत रूप है और यह सिन्धु के दोनों तटों पर फैला था।

वाल्मीकि-रामायण में भी गान्धर्व-क्षेत्र का वर्णन मिलता है—

अयं गान्धर्वविषयः फलमूलोपशोभितः।
सिन्धोरुभयतः पार्श्वे देशः परमशोभनः।
तं च रक्षन्ति गन्धर्वाः सायुधाः युद्धकोविदाः।
तक्षं तक्षशिलायां तु पुष्कलं पुष्कलावतेः।
गान्धर्वदेशे रुचिरे गान्धारविषये च सः॥ —वा० रामायण, उत्तरकांड

गान्धर्वदेश फल-मूल से सुशोभित था। सिन्धु के दोनों पार्श्वों में स्थित था। इस देश की रक्षा रणकुशल सशस्त्र गन्धर्व करते थे। इस देश की प्रधान नगरियाँ तक्षशिला और पुष्कलावती थीं।

उपर्युक्त वर्णन का तात्पर्य यह है कि पुरातन भारत हिमवान् और समुद्र के मध्य में स्थित था। विन्ध्य और अन्य कुलपर्वत इसकी सीमा के अन्तर्गत थे। इसे अनेक नदियाँ प्राप्त थीं। ये कुलपर्वतों से निकलती थीं। इसके नौ खंडों के अन्तर्गत भारत, बर्मा, लंका, मलयप्रायद्वीप थे। हिमवान् इसका वर्षपर्वत था। हिमवान् की गणना कुल और क्षुद्र पर्वतों में नहीं हुई है।

ऋग्वैदिक भारत की झाँकी—ऋग्वेद के मंत्रों में भारत की सप्त नदियों का उल्लेख है। सिन्धु की सहायक नदियाँ सरस्वती और दृषद्वती दोनों, ऋङ्मंत्रों में वर्णित हैं। गंगा-यमुना के नाम भी ऋग्मंत्रों में आये हैं, पर ये सप्त-सिन्धव के बाहर हैं; कारण ऋग्वैदिक आर्य सप्त-सिन्धव में ही रहते थे।

ऋक्मंत्रों में पंचाल, कोयल, मगध, बंग आदि जनपदों का उल्लेख नहीं मिलता। किकट नाम अवश्य आया है। विलसन और वेबर का मत है कि किकट मगध था। पर, आचार्य अविनाश इसे सप्त-सिन्धव का पर्वतीय भाग करार देते हैं।

ऋग्वैदिक भारत का विस्तार बहुत अल्प था। इसके उत्तर-पश्चिम में कंधार और काबुल था; उत्तर में बैक्ट्रिया, पूर्व में तुर्किस्तान। रायचौधरी की Indian Antiquities के अनुसार आर्य ऊपर गंगा से लेकर अफगानिस्तान तक फैले हुए थे। कुभ, सुवास्तु, कुरुभ, गुमती इसकी नदियाँ थीं। सारा पंजाब आर्यों के अधीन था। नदियों में सिन्धु, वितस्ता, असिक्नी (चेनाब), पुरुषणी (रावी), विपाशा (व्यासा), शतद्र (सतजल) तथा सरस्वती प्रमुख थीं। सप्तसिन्धव में पाँच उप-जातियाँ निवास करती थीं। यास्क ने अपने निरुक्त में इन 'पंच जनाः' की व्याख्या--'गन्धर्वाः, पितरो, देवा, असुरा और रक्षांसि' के रूप में की है।

तुर्वसु, यदु, अणु, द्रुह्यु, पुरु - ये पाँच उप-जातियाँ थीं। अन्य उप-जातियों में 'भरताः, चेदयः, गान्धाराः, किकटाः और उशीनराः' प्रमुख थे।—ऋग्वैदिक इंडिया

ऋग्वैदिक आर्य सिन्धु का महत्त्व मोर्चेबन्दी की दृष्टि से अनुभूत करते थे। दशम मंडल के ६४ वें और ७५ वें मंत्र इस बात का स्पष्टीकरण करते हैं--

सश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा
हिरण्यमयी सुकृता वाजिनीवती।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युता
धिवसे सुभगा मधुवृधम् ॥

सरस्वती और सिन्धु अपनी बृहत् तरंगों के साथ हमारी रक्षा के लिए आवें।

पंजाब को ही आर्यों ने युद्ध का प्रधान स्थल बना रखा था। कारण इसकी जमीन उपजाऊ थी, यहाँ उच्चकोटि के घोड़े पाये जाते थे, सुन्दर वस्त्र प्राप्त होते थे, भोजन का बाहुल्य था और ऊन की कमी न थी।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो हमारे सामने उपस्थित होता है, वह यह कि ऋग्वैदिक आर्य सिन्धु के मुख की ओर न बढ़ कर गंगा-यमुना की तराई की ओर क्यों बढ़े? महेंजोदाड़ो की खुदाई इस दिशा में हमारी सहायक होती है। यदि आर्य सिन्धु के निचले भाग की ओर बढ़ते तो महेंजोदाड़ो के निवासियों से भीषण लोहा लेना पड़ता। दूसरा कारण गंगा-यमुना-तराई की उर्वरता थी।

यजु और अथर्वसंहिता के युगों में आर्य गंगा-तलहटी में पूर्णतः फैल गये थे। भरतों की उपजाति यमुना तथा गंडकी के किनारे बस गई थी और इन्होंने सुदृढ़ दुर्ग भी बना लिया था।

रामायण-महाभारत-युग में भारत-भूगोल और सामामिकता की दृष्टि से उसका महत्त्व—

रामायण-युग में आर्य गोदावरी के दक्षिण तक घुस गये थे। जनस्थान में आर्य-ऋषियों का हरा-भरा उपनिवेश था। अगस्त्य का आश्रम तो उस युग में भय और आदर का विषय

हो गया था। इस आश्रम में इतने विध्वंसात्मक शस्त्र तैयार होते थे कि राक्षसराज रावण के हृदय में सदा आतंक बना रहता था और राक्षसों की एक बड़ी छावनी यहाँ कायम हुई थी।

महाभारत-युग में साधारण भारत की बात कौन पूछे, आर्य काल्ख और कम्बोज से कामरूप (आसाम) तक फैल गये थे। कश्मीर से कुमारी अन्तरीप तक इनका दबदबा था। जयद्रथ के पिता ने द्राविड़ों को परास्त कर सिंध पर कब्जा कर लिया था। वृष्णियों ने कृष्ण के नेतृत्व में द्वारका में प्रतापशाली उपनिवेश कायम कर लिया था। चेदि, निषाद, अवन्ति और कलिंग में आर्य-राज्य एक माना हुआ सत्य था।

वैदिक युग में जनपद-राज्य ही थे, महाकाव्य-काल में जनपद-राज्य से महाजनपद-राज्य-निर्माण की प्रवृत्ति बलवती हो गई थी। महाकाव्य-युग में अनेक महाजनपद उत्तरापथ में थे। उनमें गांधार, मद्र, मत्स्य, कुरु, पंचाल, काशी, कोसल और विदेह अति प्रसिद्ध थे। परवर्त्ती युग में मगध बहुत प्रसिद्ध हो गया था और अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) के आक्रमण के बाद साम्राज्य-निर्माण में यह सफलप्रयास हुआ था।

प्रत्येक जनपद और महाजनपद-राज्य की सीमा मोर्चेबन्दी की दृष्टि से निर्द्धारित होती थी। सांग्रामिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर ही भारत के जनपद-राज्य कायम होते थे। इस बात का प्रमाण कौटिल्य अर्थशास्त्र में मिलता है।

कौटिल्य कहते हैं कि प्रत्येक जनपद की सीमा पर नदी, पर्वत, वन, गुफा या कृत्रिम प्रकार का रहना आवश्यक है। सेतुबंध से भी सीमा सूचित होती है। शाल्मलि, शमी और क्षीरवृक्ष भी सीमा पर रहते हैं।

अनेक जनपद मिल कर जब महाजनपद-राज्य किसी महाप्रतापी शासक के नेतृत्व में बनता था तब उसकी सीमा का निरूपण भी मोर्चेबन्दी की दृष्टि से होता था। राज्य की सीमा के चारों ओर सुरक्षा के विचार से प्राकार बनाये जाते थे। —कौटिल्य, अध्याय २

महाजनपद के प्राकार चार प्रकार के होते थे—(१) औदक (A water fortification), (२) पार्वत (A mountainous fortification), (३) धन्वन् (A wild tract devoid of water and overgrown with thickets) और (४) वनदुर्ग (A forest-fortification)।

उपर्युक्त कथन की जाँच के लिए कतिपय महाजनपदों की सम्यक् परीक्षा—

मगध-महाजनपद्—युवनच्वांग के विवरण के अनुसार मगध के उत्तर में गंगा थी तथा पश्चिम में काशी के जिले और कर्मनाशा नदी। दामोदर का उद्गम-स्थल दक्षिण में था और पूर्व में हिरण्य पर्वत (मुँगेर)। कर्णसुवर्ण या वनसंकृत सिंहभूमि भी मगध के दक्षिण में पड़ता था। समस्त मगध महाजनपद की सीमा या तो औदक कही जा सकती है या वनदुर्गमिश्रित

वृजि-महाजनपद्—यह गंगा के उस पार स्थित था। इसका विस्तार पूर्व से पश्चिम की ओर था। उत्तर से दक्षिण ओर का विस्तार संकीर्ण था। यह गंडकी तथा महानदी के बीच था। इसकी लम्बाई ३०० मील तथा चौड़ाई १०० मील थी। मोर्चेबन्दी और सांग्रामिक दृष्टिकोण से इसकी स्थिति मगध की भाँति न थी। मगध का आधिपत्य प्रायः सभी मोर्चेवाले मार्गों पर था।

१. अजातशत्रु ने काशी-जनपद को भी मगध में मिला लिया था। —लै०

ये मार्ग उत्तरापथ के सभी नगरों से संबद्ध थे। वैशाली के लिच्छवि, मिथिला के विदेह तथा वृजि—सभी एक ही उपजाति के तीन वर्ग थे। वैशाली तथा वृजि-महाजनपद हिमवान् के चरण से दक्षिण में गंगा तक फैले हुए थे। एक ओर इसकी पार्वत सीमा थी तो दूसरी ओर औदक। इनके पश्चिम में गंडकी और पूर्व में महानदी। यह भी सीमा औदक थी।

गान्धार-राज्य—इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। ऋग्वेद, रामायण तथा महाभारत में भी इसका वर्णन मिलता है। इसके दो प्रधान नगर तक्षशिला और पुष्कलावती सांग्रामिकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करते थे। इस दृष्टिकोण से आज भी इनका मान ज्यों का त्यों बना हुआ है। तक्षशिला सिन्धु के पूर्व और पुष्कलावती इसके पश्चिम में स्थित थीं। अति पुरातन काल में ये सिन्धु के दोनों पार्श्वों में फैली थीं। इसके एक ओर काबुल तथा स्वाट और दूसरी ओर पर्वतीय दुर्ग थे। कालक्रम से इसके विस्तार में हेर-फेर होता गया। परवर्त्ती युगों में गांधार का विस्तार सिन्धु के पश्चिम तट पर सीमित हो गया था। इसकी पुरानी राजधानी पुष्कलावती थी। कनिष्ठ का नगर पुरुषपुर था और युवनच्वांग भी इसी का वर्णन देता है।

अलबेरुनी ओहिन्द का वर्णन गांधार की राजधानी के रूप में देता है। कमलों से ओतप्रोत पुष्कलावती भरतपुर-पुष्कर के नाम की स्मारक थी। ऐतिहासिक युग में भी बड़े पोरस का राज्य झेलम और चेनाब के बीच था और छोटे पोरस चेनाब तथा रावी के मध्य-स्थित भाग पर शासन करते थे।

जिस प्रकार पुरातन भारत के राज्य-जनपद और महाजनपद, मोर्चे को नजर में रख कर कायम होते थे, उसी प्रकार उसके प्रधान नगरों के निर्माण और संस्थापन में सांग्रामिक विशेषता रहती थी। प्रत्येक नगर सांग्रामिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए ही मानो बने थे।

नगरों के वर्णन देने के पूर्व वर्त्तमान भारत के प्राकृत विभागों पर थोड़ा विचार कर लेना वस्तुस्थिति के सम्यक् परिज्ञान के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। भारत के चार प्राकृत विभाग हैं—(१) गंगा-सिन्धु की तराई, (२) हिमालय-प्रदेश, (३) विन्ध्य-प्रदेश, और (४) दक्षिणापथ।

सिंधु-गंगा की तलहटी ब्रह्मपुत्र (लौहित्यनदी) तथा शर्मा के तटों से लेकर गोमल और बोलन तक फैली हुई है। इसका विस्तार १५०० मीलों का है। यह बृहत् क्षेत्र गंगा-सिन्धु तथा इनकी सहायक नदियों का वरदान है। गंगा और इसकी सहायक नदियाँ दक्षिण-पूर्व की ओर बहती हैं और सिन्धु तथा उसकी सहायक सरिताएँ दक्षिण-पश्चिम की ओर। गंगा तथा सिन्धु-परिवार के बीच एक ऊँचा भूभाग है जो सतलज और यमुना के बीच पड़ता है। इसी बृहत् टीले की स्थिति के कारण गंगा-परिवार को एक ओर बहना पड़ता है तो सिन्धु-परिवार को दूसरी ओर।

राजपुताने का थार-मरुत्स्थल और अरावलि-पर्वत भी सतलज-सिन्धु तथा यमुना के बीच है। नदियों के निचले भाग की ओर यह मरुत्स्थल और पर्वत है और उनके ऊपरि भाग की ओर कुरुक्षेत्र का उन्नत स्थल है। उत्तर-भारत की नदियों की यह कुरुक्षेत्र-विभाजक रेखा है। सिन्धु तथा इसकी सहायक नदियों से सिक्त क्षेत्र पंजाब कहलाता है, जो ऋग्वैदिक युग में सप्तसिन्धव कहलाता था। सिन्धु तथा उसकी सहायक नदियों की सम्मिलित धाराओं से सिक्त क्षेत्र सिन्धु या सिंधराज्य कहलाता है, जो अधुना पाकिस्तान का प्रधान प्रान्त है।

गंगाक्षेत्र (Gangetic plain)—गंगा की तलहटी, जो गंगा और उसकी सहायक नदियों तथा ब्रह्मपुत्र से सदा सींची जाती है, विश्व की सबसे अधिक उर्वरभूमि समझी जाती है। आर्य-सभ्यता, संस्कृति, दर्शन, शासनपद्धति, नीतिशास्त्र तथा ज्ञान-विज्ञान का आदिस्थल यही क्षेत्र है। संसार के और भी देशों की भूमि, जो इस अन्तर्वेद की समानान्तर रेखा पर पड़ती है, प्रायः गंगाक्षेत्र के समान ही सुप्रसिद्ध है। चीन की हियांग-पीली-हो नदी की तलहटी तथा मिश्रदेश की नाइल की तलहटी भी अति उर्वर हैं तथा अपनी प्राचीन सभ्यता, संस्कृति एवं ज्ञान के लिए विख्यात हैं।

ऋग्वैदिक युग में सिन्धु-तलहटी का जलवायु वर्ष भर शीतल रहता था। इसी कारण वर्ष को तत्कालीन आर्य शरद् कहा करते थे। मथुरा के चारों ओर अरण्य थे। रामायण, भागवत तथा रघुवंश में इन वनों के वर्णन मिलते हैं। यहाँ हाथी भी पाये जाते थे और इनका उपयोग समर में होता था। हस्तिनापुर का नाम ही इस बात का द्योतक है कि उत्तरापथ में प्रचुर परिमाण में हाथी मिलते थे। सिन्धु-तलहटी में घोड़े अधिक पाये जाते थे। बौद्ध-जातकों से पता चलता है कि सिन्धु के घोड़े काशी तक बिक्री के लिए आते थे।

भारतवर्ष की बनावट सांग्रामिकता के दृष्टिकोण से—

मेरी दृष्टि में भगवान् ने भारत को सांग्रामिक देश के रूप में निर्मित किया है। एशिया महादेश का यह मुकुटमणि है और इसके मध्य में स्थित है। यह विश्व के इतिहास को प्रभावित करने की क्षमता रखता है। यह भागवती प्रकृति की गोद में स्थित है। इसके उत्तर में तुषारमंडित नगराज हिमवान् अपनी भयावह ऊँचाई का अणुबम लिये प्रहरी के रूप में भारत की रक्षा के लिए सदा खड़ा रहता है। क्या सामर्थ्य किसी राष्ट्र में कि उस ओर से भारत में आक्रमणार्थ प्रवेश पा सके। इतना ही नहीं, जाड़े और गर्मी से भी इस देश का परित्राण करता है। सामयिक वायु की गति को अवरुद्ध कर भारत में असीम वृष्टिपात कराता है। इसकी हिमराशि उत्तरापथ की नदियों को सदा जल से भरे रहती है। इस पर्वत से निकली हुई नदियों की धारा में, उनके जल में औषधियाँ और उपजाऊ मृत्कण इस प्रकार मिले रहते हैं कि सभी तराइयाँ धन-धान्य से परिपूर्ण और शस्य-श्यामल बनी रहती हैं। इस देश के तीन ओर नीलसागर लहराते हैं और अपनी ऊर्मिमालाओं से भारत का पाद-प्रक्षालन प्रत्येक क्षण करते रहते हैं। देश के मध्य में विन्ध्य पर्वत विराजमान है, जो शताब्दियों तक दक्षिण की रक्षा विदेशी लुटेरों से की। पश्चिमी घाट, पूर्वी घाट तथा अन्य पर्वत देश के दुर्ग या सिंजफ्रीड लाइन हैं। ध्वंसात्मक शस्त्रों के आविष्कार के पूर्व नदियाँ भी शत्रुओं के मार्ग में रोड़े अटकाती थीं। राजपूताने के मरुस्थल, विन्ध्यारण्य और ब्रह्मपुत्र आदि ने दुश्मनों के मार्ग में काँटे बिछा रखे थे।

इन प्राकृत मोर्चे को रखते हुए भी इस देश पर एक आक्रमण के बाद दूसरे आक्रमण होते रहे। विदेशी लुटेरों ने इसे शांति से प्राकृत वैभव का उपभोग करने नहीं दिया। इस देश के शस्यश्यामल क्षेत्र, इसके विविध भाँति के फल-मूल, इसके सुन्दर जीव-जन्तु, इसके स्वर्णादि धातु तथा हीरे-मोती और जवाहर विदेशियों के हृदय में सदा लूट-खसोट के भाव पैदा करते रहे। आज भी सारे विश्व की दृष्टि इसी पर लगी रहती है।

ऐसे देश के नगरों के निर्माण में सदा सांग्रामिक भाव काम करते थे। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि महाजनपद की राजधानी के लिए आवश्यक है कि वह दो नदियों के संगमस्थल पर स्थित रहे। जहाँ संगमस्थल प्राप्त न हो सके, वहाँ राजधानी ऐसे जलाशय के तट पर स्थित हो, जहाँ का जल कभी नहीं सूखे। नगर के दुर्ग आयताकार, वृत्ताकार या समचतुर्भुजाकार हों। दुर्ग के चारों ओर कृत्रिम नहर हों, जो स्थल और जलमार्गों से संयुक्त हों। प्रत्येक दुर्ग के चारों ओर तीन खाइयाँ हों। प्रत्येक खाई एक दूसरे से छह या छह से अधिक फीट की दूरी पर हो। प्रथम खाई ८४ फीट चौड़ी और १८ से ३० फीट तक गहरी हो। तीसरी खाई ६० फीट चौड़ी और १५ से ३० फीट तक गहरी हो। खाई के तट पत्थरों तथा ईंटों के बने हों। इन खाइयों का ऐसे जलाशयों से सम्पर्क हो, जिनके जल का भांडार अक्षय हो। खाई में घड़ियाल और कमल रहें।

सबसे भीतरी खाई से २४ फीट की दूरी पर ७२ फीट चौड़ी और ३६ फीट ऊँची चहारदीवारी बनाई जाय। प्राकार के बाहर चलने-फिरने के मार्ग बंद रहें और पग-पग पर रुकावटें जानुभंजनी (Knee-breaker), काँटे तथा सर्पाकार हथियार के रूप में, स्थित हों।

—कौटिल्य अर्थशास्त्र, अध्याय ३

भारतवर्ष के प्राचीन नगर प्रायः इसी प्रकार बने थे। पुष्कलावती, हस्तिनापुर, कान्यकुब्ज, आगरा, कौशाम्बी, अयोध्या, प्रयाग, शृंगेरपुर (मिर्जापुर), काशी, बक्सर, पटना, मुँगेर, भागलपुर आदि प्राचीन नगर हैं। सभी नदियाँ तट पर अवस्थित हैं। प्रत्येक घाट और मार्ग पर रोक रहा करती थी। पुरातन युग में स्थल की अपेक्षा नदी यातायात के लिए अति सुगम थी। सामुद्रिक कप्तान डेरियस ने काबुल नदी के उद्गमस्थल से सिन्धु नदी के मुख तक जल-यात्रा ही की थी। सिकन्दर ने भी झेलम से सिन्धु के मुख तक आठ सौ नावों पर ससैन्य जल-मार्ग से ही यात्रा की थी। नदी का महत्त्व मोर्चे की नजर से बहुत बढ़ा-चढ़ा था। पुरातन काल में सड़कें नदी के तट से ही होकर जाती थीं। पहाड़ों के बीच भी मार्ग बने रहते थे। वसिष्ठ ने जो संदेशहर दशरथ की मृत्यु के पश्चात् भरत के पास भेजे थे, वे नदी-तट तक प्रसुत पर्वतों को देखते हुए जा रहे थे। भरत उस समय केकयराज्य[१] में थे। वे दूत वस्तुतः गंगा और यमुना के उपरिभाग होकर गये थे और उनके मार्ग में हस्तिनापुर पड़ा था।

—वाल्मीकि रामायण, अयो० कां०, अध्या० ६८. १६–२२

सिकन्दर जब भारत पर चढ़ आया था तो उसे इन नदियों को उस स्थल पर पार होना पड़ा था जहाँ इनका उद्गम स्थल था और धारा अति संकीर्ण थी। अकबर अपनी फौजों को आगरा से अम्बाला ले गया था। इसके पश्चात् हिमालय-मार्ग का उसे अनुसरण करना पड़ा। हिमालय-मार्ग से यहाँ तात्पर्य उस पथ से है, जो गंगा के ऊपरि भाग के किनारे-किनारे होकर जाता था।

गंगा के किनारे के मार्ग और सरयू के तटवर्त्ती पथ बड़े महत्त्वपूर्ण थे। विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण जब बक्सर, राक्षसों के विनाश के लिए, जा रहे थे, तब उन्होंने सरयू के किनारेवाले मार्ग को अपनाया था। नदियों के ऊपरि प्रवाह की अपेक्षा निम्न-प्रवाह अल्प

१. केकय—पंजाब के गुजरात, शाहपुर तथा झेलम जिलों का विस्तार केकय-राज्य का विस्तार था।

विघ्न उपस्थित करते हैं। कारण, अन्य नदियों के मिल जाने से गंगादि की निम्न धारा चौड़ी होती गई। प्रधान नगर नदी के तट पर इसलिए निर्मित होते थे कि शत्रु के अभियान को घाट पर रोकना बहुत सहज था। जो सेना घाट पार होना चाहती है, उस पर आसानी से आक्रमण करने के लिए नदी के दोनों तटों पर सैन्य छिपा लिये जाते थे।

उदभांडपुर (आधुनिक ओहीन्द) सिन्धु के तट पर बसा है। अटक से कुछ ऊपर। अटक का नाम ही इस बात को सूचित करता है कि यहाँ शत्रुओं की सेना अटक जाती थी, आगे बढ़ नहीं सकती थी। शेरशाह ने हुमायूँ की काबुल से आती हुई फौज को रोकने के लिए रोहतास-दुर्ग बनाया था। मुहम्मद गजनी सीधे गोमल होकर भारत आया और सिन्धु को डेरा-इसमाइल खाँ के नीचे, ठीक भक्खर (Bhakhar) के पास पार किया।

इन दिनों अटक-पुल से हम पेशावर जाते हैं। काबुल जाने के लिए कुशलगढ़-पुल पार होना पड़ता है। आज भी नावों का कच्चा पुल बनाना पड़ता है, जब हम कलाबाग, दरयाखाँ और गाजीघाट के पास सिन्धु पार होने लगते हैं।

सिंधु-प्रदेश में इन दिनों दो पुल हैं—एक सुक्कर के पास और दूसरा कोरही के पास। संभवतः, इधर पाकिस्तान की सरकार ने और पुलों का निर्माण किया हो। अटक तथा झेलम के बीच की भूमि संग्राम के लिए बहुत उपयुक्त है।

तक्षशिला—यह पूर्वी गांधार की राजधानी थी। यह काबुल, कम्बोज तथा कश्मीर की राह पर पड़ती है। पुरातन काल में यह तीन स्थलों पर अपना प्रभुत्व रखती थी। आज भी यह रावलपिंडी में सबसे बड़ी सेना स्थित रखने की पूरी क्षमता रखती है।

यदि उत्तर-पश्चिम से शत्रु भारत पर आक्रमण करता था, तब उसे रोकने की पहली चेष्टा अफ़गानिस्तान में होती थी। यदि सफलता वहाँ हाथ न लगती, तो सिन्धु के घाटों पर शत्रु को रोकने की चेष्टाएँ होती थीं। यदि यहाँ भी दैव प्रतिकूल हुआ, तो प्रथम युद्ध रावलपिंडी में छिड़ता। सैनिक-दृष्टिकोण से पंजाब की नदियों पर स्थित सभी नगर और सभी घाट समानरूप से महत्वपूर्ण हैं।

ऋग्वैदिक आर्य इस प्रदेश के सांग्रामिक महत्त्व को पूर्णतः महसूस करते थे। ऋग्वैदिक सुदास ने भरतों से रावी के तट पर युद्ध किया था और पौरस सिकन्दर से झेलम के तीर पर लड़ा था। शेरशाह ज्योंही भारत का सम्राट् हुआ, उसने पंजाब की नदियों का महत्त्व अनुभूत कर दक्षिण-पश्चिम पंजाब में अनेक दुर्ग और तोपखाने तैयार करवाये, छावनी कायम की। पंजाब में रोहतास-दुर्ग बनाने का उसका मुख्य अभिप्राय यही था कि जो दुश्मन उत्तर-पश्चिम से भारत पर आक्रमण करने का साहस करे, उसकी गति वहीं रोकी जाय।

जो शत्रु पंजाब की नदियों को पार होता तो स्वभावतः वह कुरुक्षेत्र आ पहुँचता। कारण, यही स्थल गंगा-सिन्धु-तराइयों को विभाजित करता है। पुरातन भारत के सभी स्थलों से कुरुक्षेत्र सैनिक दृष्टि-बिन्दु से अधिक महत्त्वपूर्ण था। कुरुक्षेत्र की मोर्चेबंदी विलक्षण है। इसके उत्तर में हिमालय, दक्षिण में मारवाड़ का धार-मरुस्थल और अरावलि का सघन वन रोमांचकारी है। यहीं से दक्षिण और पंजाब के बीच जाने का मार्ग है। कुरुक्षेत्र में पहुँचते ही आक्रमणकारी सैन्य विपक्षी सैन्य को लोहा लेने के लिए खड़े देखकर

विचारमग्न हो जाता है। वह उत्तर की ओर ताकता है तो हिमवान् को देखता है। जो उसकी राह को रोके अड़ा और खड़ा है। जब दक्षिण-मार्ग पर दृष्टिपात करता है, तब मारवाड़ के मरुस्थल और अरावलि के अरण्य दुःखद दृश्य उपस्थित करते हैं। परास्त होने पर उत्तर या दक्षिण की ओर मुड़ना मृत्यु का आलिंगन करना है या भूखों मरना है और बर्फ में गलकर समाधिस्थ होना है।

इसलिए, शत्रु साहस बटोर कर या तो खुले मैदान में जी-जान से लड़ेगा या पंजाब की नदियों के तटवर्त्ती मार्ग को पकड़ कर नौ दो ग्यारह होगा। जो युद्ध यहाँ छिड़ेगा, वह भारत के भाग्य का अन्तिम निर्णय करेगा। विजयी सैन्य गंगा-यमुना की तराइयों के मार्गों का अधिस्वामी बन बैठेगा। साथ-साथ विन्ध्य-मार्ग भी उसी के अधीन रहेगा।

इसी कुरुक्षेत्र में भीष्म के सेनापतित्व में कौरवों ने पाण्डवों से युद्ध किया था। स्वर्गीय डॉक्टर पार्जिटर का मत है कि सिंध पंजाब प्राच्य—अंग, वंग, कामरूप, और कलिंग की उपजातियों ने कौरवों का साथ दिया था। पाण्डवों के सहायक मत्स्य, पंचाल, मगध आदि राज्य थे। गुजरात, राजपूताने के निवासी तथा क्षुद्रक मालव भी कौरवों के संघाती थे। पूर्व तथा पंजाब से जब कौरव-सेना पाण्डवों से लड़ने के लिए चल पड़ी, तब मत्स्य देश की राजधानी उपप्लव से पाण्डव-सैन्य उत्तर की ओर बढ़े, जिस में कौरवों के सैन्य मिल न सके।

—एशियाटिक सोसायटी का जर्नल, १९०८ ई०, पृ० ३०६

प्रायः इसी स्थल के आस-पास में तिरौवरी की लड़ाई मुहम्मद गोरी और पृथ्वीराज में हुई। तिरौवरी से ३ मील दक्षिण पानीपत है। वहीं बाबर इब्राहीम लोदी को हराया था। सन् १७६१ ई० में मराठों ने अहमद शाह अब्दाली से यहीं संग्राम छेड़ा था। ये सभी लड़ाइयाँ युगान्तर उपस्थित करनेवाली थीं।

हस्तिनापुर के बाद कन्नौज का स्थान बड़े महत्त्व का है। उत्तरापथ का यह सांग्रामिक शहर है। कन्नौज खीष्ट की सातवीं शती से लेकर १० वीं शती तक उत्तर-भारत की राजधानी के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करता रहा। युवनच्वांग के अनुसार यह ३½ मील लंबा और ¾ मील चौड़ा शहर था। इसके चारों ओर सुदृढ़ प्राकार और गभीर खात बने थे। पूर्व पार्श्व में गंगा बहती थी और उत्तर-पश्चिम में शुष्क नदी की धार थी। उत्तर-पूर्व में छोटी गंगा और दक्षिण में गहरी खाई थी। इसी खाई से होकर सड़क शहर में प्रवेश करती थी।

प्रयाग—यह एक दूसरा महत्त्वपूर्ण नगर है। कन्नौज से सड़क सीधे गंगा के किनारे प्रयाग आती थी। प्रयाग गंगा-यमुना के संगम पर स्थित है। प्रयाग से शृंगवेरपुर (मिर्जापुर) सेना आसानी से जाती थी। गंगा पार होने का घाट शृंगबेर में ही था। रामायण-युग में ५०० नावों का गरोह यहाँ तैयार रहता था। प्रत्येक नाव पर एक-एक सौ नाविक सशस्त्र युद्ध के लिए भी बद्धपरिकर रहते थे। पुरातन भारत के प्रत्येक घाट पर सेनाएँ सुरक्षा के लिए तैयार रहती थीं।

नावः शतानां पंचानां कैवर्त्तानां शतं शतम्
सन्नद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वभ्यचोदयत् ॥

——वाल्मीकि रामा०, अयो०

काशी—शृंगवेरपुर के पश्चात् काशी प्रधान सैनिक पड़ाव थी। यह गंगा के वामतट पर स्थित है। इसके उत्तर-पूर्व में वर्णा नदी है और दक्षिण-पश्चिम में अस्सीनाला। बनारस से रामगढ़ एक सड़क इसी अस्सीनाला होकर जाती है। यहाँ भी अनेक युद्ध हुए हैं।

बक्सर—यह भी एक अपर सांग्रामिक नगर है। यहीं से गंगा-तराई की जमीन की सतह नीची होती है। बक्सर को उपरि और निम्न देश का मध्य-भाग (Upper-lower Country) कहना उचित है। बक्सर के समीप भी सेनाएँ गंगा नदी पार होती थीं। बक्सर के बाद गंगा की धारा चौड़ी होती जाती है। जिस शक्तिशाली सेनानायक के हाथ में बक्सर आ जायगा, उसी का प्रभुत्व बिहार-बंगाल-मार्ग पर रहेगा। यहाँ से सेना सीधे बंगाल उसी सड़क पर चलती हुई पहुँच जायगी। शेरशाह ने हुमाँयू को यहीं परास्त किया था। क्लाइव ने मुगलों की सेना को यहीं हराया था। बक्सर पर कब्जा करना मगध तथा बंगाल को अपने हाथ में रखना है। लंकापति रावण भी बक्सर के सैनिक-महत्त्व को समझता था। अतः, उसने इसके पार्श्व में बड़ी छावनी रखी थी। ताडका, सुबाहु, मारीच प्रभृति रावण की छावनी के प्रमुख व्यक्ति थे। रामायण-युग में कोसल का अभ्युदय इसी बक्सर युद्ध के उपरान्त हुआ।

पटना का निर्माण सैनिक-दृष्टिकोण से हुआ था। कहा जाता है कि गंगा के उस पार से वृजिलोग नावों पर ससैन्य इस पार आकर मगध को तंग करते थे। अजातशत्रु ने भगवान् बुद्ध से परामर्श लेकर पाटलिपुत्र का निर्माण ठीक गंगा-शोण के संगम पर किया और एक बड़ी फौज यहाँ रखी। इसने वृजियों का छक्का छुड़ा दिया। इस जनश्रुति में कहाँ तक तथ्य है, मैं कह नहीं सकता, पर मोर्चेबन्दी की दृष्टि से पाटलिपुत्र संस्थापित हुआ था। मेगास्थनीज के वर्णन क अनुसार इस नगर के चारों ओर ३० हाथ गहरी खाई थी। उस समय पटना सिटी के समीप शोणभद्र गंगा से मिलता था। पर, आज इन दो नदियों का संगम दीनापुर के समीप है।

मुँगेर—पटना के बाद पूर्वी भारत के शहरों में मुँगेर या हिरण्य पर्वत का स्थान बड़े मार्के का है। हिरण्यपर्वत मुँगेर से सटा था। महाभारत में यह मोदगिरि के रूप में वर्णित है। इसके सांग्रामिक महत्त्व को ध्यान में रखकर मीरकासिम मुर्शिदाबाद से बंगाल की राजधानी हटाकर मुँगेर लाया था। एक बड़ा दुर्ग भी बनवाया था। यहाँ गंगा के उस पार जाने का सुन्दर घाट भी है। गंगा का दक्षिणी तट अधिक महत्त्व का था। शेरशाह ने ग्रैण्ड्ट्रंक रोड इसी कारण बनवाई थी। प्रायः समस्त भारत पर आधिपत्य स्थापित करने में गंगा के दक्षिणी तटवर्त्ती पाटलिपुत्र ही मौर्य-शासनकाल में समर्थ हुआ था।

वैशाली और मिथिला—गंगा के उत्तरी किनारे पर वैशाली और मिथिला के स्थान भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, पर ये स्थल पाटलिपुत्रादि की समता नहीं कर सकते थे। गणतंत्र का उपभोग करते हुए ये स्थल सुख-समृद्धि से युक्त थे, पर भारत के किसी भी भाग पर प्रभुत्व स्थापित करने की क्षमता इनमें न थी।

वैशाली गंडकी के पूर्व थी और आज यह बसाढ़ गाँव में भग्नावस्था में पड़ी-पड़ी अपने दुर्भाग्य को कोस रही है। भग्न दुर्गों, प्राकारों तथा खाइयों के अवशेष आज भी नेत्रों के सामने उपस्थित होते हैं और उसके अच्छे दिनों की याद दिलाकर हृदय में टीस पैदा करते हैं। चीनी परिव्राजक युवनच्वांग के यात्रा-काल में वैशाली के वैभवपूर्ण प्रासाद आश्चर्य के विषय थे।

अयोध्या—यह सरयू-तट पर स्थित थी। रामायण-युग में यह १२ लीग लम्बी और तीन लीग चौड़ी थी। इसकी सड़कें सुविभक्त थीं। इसके चारों ओर प्राकार थे। प्राकार के चारों ओर बड़ी गहरी और बड़ी चौड़ी खाइयाँ थीं। यह धन-धान्य से पूर्ण थी और अनेक यंत्रों, आयुधों और आयुधागारों से संयुक्त थी।

कोसलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतो धनधान्यवान्॥
आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा॥
कपाटतोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणाम्।
सर्वयंत्रायुधवतीमुषितां सर्वशिल्पिभिः॥
दुर्गगंभीरपरिखां दुर्गमन्यैर्दुरासदाम्॥

—वाल्मीकि रा०, बाल०, अध्या० ५

लंकापुरी भी चौड़ी तथा बहुत ऊँची चहारदीवारी से घिरी थी। प्राकार के चारों ओर खाइयाँ थीं, जो चौड़ी और गहरी थीं। प्रत्येक खाई में भयंकर यंत्र लगे थे। खाइयाँ अथाह थीं और उनमें ग्राह और मीन निवास करते थे। नगर में दृढ़ कपाट लगे रहते थे। प्रत्येक द्वार पर ऐसे यंत्र लगे रहते थे, जिनसे विभिन्न प्रकार के शस्त्र शत्रुओं पर चलाये जाते थे।

दृढ़बद्धकपाटानि महापरिघवन्ति च।
चत्वारि विपुलान्यस्या द्वाराणि सुमहान्ति च॥
तत्रेषूपलयंत्राणि बलवन्ति महान्ति च।
आगतं प्रतिसैन्यं तैस्तत्र प्रतिनिवार्यते॥
सौवर्णस्तु महांस्तस्याः प्राकारो दुष्प्रधर्षणः।
अगाधा ग्राहवत्यश्च परिखा मीनसेविताः॥

—वाल्मीकि रा०, लंकाकांड, अध्या० २

रामायण, महाभारत, कौटिल्य, अर्थशास्त्र, पुराण तथा चीनी यात्रियों के वृत्तांत से यह बात स्पष्ट है कि भारत के सभी नगर सांग्रामिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए निर्मित हुए थे। उनकी बनावट प्रायः एक-सी थी।

देश के मार्ग—देश के मार्गों का अध्ययन सैनिक-दृष्टिकोण से भूगोल के छात्रों तथा सैनिकों के लिए अति आवश्यक है। हमारे देश के मार्गों का शृंखलाबद्ध इतिहास अभी तक देखा नहीं जाता। यत्र-तत्र मार्गों के सम्बन्ध में विद्वानों के विचार बिखरे पड़े हैं।

आर्य किस मार्ग से भारत आये, इस सम्बन्ध में नाना मुनि और नाना मत के सिद्धान्त लागू होते हैं। डॉ० पार्जिटर ने एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के जर्नल, पृ० २४७-३०० में यह मत प्रकट किया था कि आर्य भारत में गढ़वाल-कमाउँ-मार्ग से आये। आर्यों को निस्सदेह उन स्थलों में प्रवेश था जहाँ से गंगा और सिन्धु निकलती हैं। पामीर, कम्बोज के रास्ते जो

भारत में आते हैं, उनसे वे पूर्णतः परिचित थे। चीनी तुर्किस्तान में भी उनके उपनिवेश थे। भारत से तिब्बत आने-जाने के भी मार्ग थे।

(१) एक मार्ग श्रीनगर से लेहा जाता था।

(२) दूसरा काली-कमायूँ-मार्ग था।

(३) नेपाल का गंडकी-भोटिया-कोशी-मार्ग था।

आठवीं शती में भिक्षुशांतिरक्षित तथा ग्यारहवीं शती में दीपंकर श्रीज्ञान, जो भागलपुर के कहलगांव के निवासी थे, तिब्बत नेपाल-मार्ग से ही गये थे। पाण्डुपुत्रों को भी इन मार्गों में से अनेक का ज्ञान था।

अन्य मार्ग उत्तर-पश्चिमी और उत्तरी थे। बृटिश-राज्य के युग में इन दो मार्गों का बड़ा महत्त्व था। बृटिश छावनी चित्राल और गिलगिट में रहती थी। गिलगिट तथा रावलपिंडी के बीच बृटिश-सरकार के दस-बारह सैनिक-शिविर थे। सन् १९४० ई० में भारत-सरकार ने दो वायरलेस स्टेशन पंजगुर और गिलगिट में स्थापित करने का विचार स्थिर किया था। इस व्यवस्था से पंजगुर से कराची समाचार पहुँचता है और गिलगिट से दिल्ली। पर, इसीके बाद भारत का बँटवारा हुआ। आज भी गिलगिट, पंजगुर और चित्राल के महत्त्व मोर्चे के खयाल से ज्यों के त्यों हैं। पाकिस्तान, भारत तथा पश्चिमी राष्ट्र इन रास्तों का सैनिक महत्त्व खूब समझते हैं और भारत-गणतन्त्र के कश्मीर-आधिपत्य को रोकने का यथासाध्य नैतिक यत्न कर रहे हैं।

भारतीय मार्गों के संबंध में रावलिनसन ने एक ग्रंथ—Intercourse between India and the Western world—लिखा है। इस पुस्तक में तीन बड़े व्यापारी-मार्गों पर प्रकाश डाला है। इसका प्रकाशन सन् १९१६ ई० में हुआ था। इसमें अति पुरातन काल से लेकर रोम के पतन तक के समय पर विचार किया गया है। जिन तीन मार्गों का विवरण इस पुस्तक में दिया गया है, वे—(१) फारस-खाड़ी-मार्ग—Persian Gulf-route (२) भौम मार्ग—Overland route (३) घूम-घुमैयाँ सामुद्रिक मार्ग—Circuitous sea-route.

फारस-खाड़ी-मार्ग सबसे अधिक प्राचीन और सबसे अधिक सरल और सुगम है। यह सिन्धु के मुख से प्रारम्भ होता है और यूफ्रेटीज (Euphrates) तक जाता है। इस नदी के समीप इस मार्ग की अनेक शाखाएँ फूटती हैं—एक शाखा-मार्ग Autioch को जाता है और दूसरा Lavartine बंदरगाह को।

भौममार्ग का प्रारम्भ भारत की घाटियों से होता है। यह मार्ग बाल्ख (Balkh) को जाता है और बाल्ख से आक्स (Oxus) नदी होकर कास्पियन सागर को पहुँचता है। बाल्ख से भौम-मार्ग द्वारा भी यात्रा होती है।

सामुद्रिक मार्ग से एडेन, स्वेज और स्वेज से यूनान (इजिप्ट) की यात्रा की जाती थी और ये ही व्यापार के मार्ग थे।

अन्य विदेशी लेखक, जिसने भारतीय मार्गों का अध्ययन किया था, वह मेगास्थनीज है। एेरियन (Arrian) तो मेगास्थनीज को विश्वासप्रद लेखक समझते हैं, पर स्ट्राबो (Strabo)

इन्हें झूठा लेखक बताते हैं। पर, हमारे देश में मेगास्थनीज आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। इन्होंने राजकीय मार्ग (Royal Road) का वर्णन दिया है। यह राजकीय पथ सीमान्त-प्रदेश से पाटलिपुत्र तक जाता था। मौर्यशासन के पूर्व राजकीय मार्ग का कोई उल्लेख नहीं मिलता। राजकीय पथ का निर्माण सैनिक-दृष्टिकोण से हुआ था। सांग्रामिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति, साम्राज्य का सुदृढ़ीकरण और सैन्य-संचालन आदि इस मार्ग-निर्माण का लक्ष्य था।

इस मार्ग का विस्तारपूर्वक वर्णन मेगास्थनीज ने किया है—

(१) गांधार की राजधानी पुष्कलावती से इस मार्ग का प्रारम्भ होता था और तक्षशिला तक आता था।

(२) तक्षशिला से सिन्धु के बाद झेलम तक आता था।

(३) झेलम से व्यास तक। यहीं व्यास के समीप सिकन्दर ने एक स्मारक बनाया था।

(४) व्यास से चलकर यह मार्ग सतलज तक पहुँचता था।

(५) सतलज से यमुना तक।

(६) यमुना से हस्तिनापुर होते हुए गंगा तक।

(७) गंगा से अनूप शहर तक और वहाँ से कन्नौज तक।

(८) कन्नौज से प्रयाग तक और प्रयाग से पाटलिपुत्र तक।

(९) राजधानी पाटलिपुत्र से गंगा के उत्तर तामलुक तक जाता था।

पर, ऐतिहासिक प्रमाण के अनुसार मेगास्थनीज पाटलिपुत्र (पालिबोथरा) से आगे नहीं बढ़े थे। इस दीर्घ-मार्ग के प्रत्येक मील पर दूरी-निर्द्धारण के लिए एक-एक पत्थर गाड़ा गया था। यहाँ स्मरण रखना होगा कि चन्द्रगुप्त मौर्य के पूर्व भी इस देश में सड़कें थीं। चन्द्रगुप्त ने उन सड़कों को सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया था।

वाल्मीकि रामायण के अयोध्या कांड में अवध से हस्तिनापुर होते हुए गिरिव्रज के मार्ग का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह गिरिव्रज केकयराज की राजधानी था। कनिंघम ने इसे जलालपुर कहा है जो झेलम के तट पर स्थित था। तीन गिरिव्रजों के उल्लेख मिलते हैं—एक मगध में, दूसरे केकय में और तीसरे वाह्लिक में।

दत्तपथ्याशना दूता जग्मुः स्वं स्वं निवेशनम्।
केकयांस्ते गमिष्यन्तो हयानारुह्य संमतान्॥
ते हास्तिनपुरे गंगां तीर्त्वा प्रत्यङ्मुखा ययुः।
पांचालदेशमासाद्य मध्येन कुरुजांगलान्॥
विष्णोः पदं प्रेक्षमाणा विपाशां चापि शाल्मलीम्।
नदीर्वापीतटाकानि पल्वलानि सरांसि च॥
ते श्रान्तवाहना दूता विकृष्टेन सता पथा।
गिरिव्रजं पुरवरं शीघ्रमासेदुरंजसा॥

एरियन (Arrian) तथा अन्य यूनानी इतिहासकारों के ग्रंथों से पता चलता है कि सिकन्दर ने भी व्यास तक सड़कें बनवाई थीं। चन्द्रगुप्त मौर्य की सड़कों की माप सिकन्दर के कर्मचारियों के कागज-पत्रों से संप्राप्त हुई थी। मौर्य-साम्राज्य का विस्तार हेरट (Herat) तक था।

हमारे देश में शाक, हूण, तुर्क, पठान आदि ने आक्रमण कर अपना आधिपत्य जमाया था। ये सभी विदेशी थे। शाक पश्चिम मार्ग से भारत में आये थे। हूण और तुर्क उत्तरी-पश्चिमी से और पठान कंधार होकर काबुल के रास्ते भारत में आये। भारत से बाल्ख जाने का मार्ग भी चालू था। बाल्ख की राह पंजशीरी घाटी होकर जाती थी। पंजशीरी नदी के तटवर्त्ती मार्ग से काबुल नदी के किनारे-किनारे चलते हुए यात्री बाल्ख पहुँच जाते थे। राहगीर काबुल नदी के तटवर्त्ती पथ का भी अनुसरण करते हुए खैबर पहुँच जाते थे और वहाँ से पेशावर जाते थे। सेना भी इसी मार्ग का अनुसरण करती थी।

पुरातन काल में यात्री काबुल नदी पार होकर कपिशा आते थे। काबुल नदी काबुल शहर के पश्चिमवर्त्ती पर्वत से निकलती है और सिन्धु में गिरती है।

चीनी यात्रियों और परिव्राजकों के विवरणों से भी भारतीय पथों का पता चलता है। फाहियान का मार्ग उदयन-स्वाट तराई, बुनीर-तराई, गांधार, तक्षशिला, पुरुषपुर, बान्नु, भाइड तथा मथुरा होकर गुजरता था। युवनच्वांग का मार्ग भी कपी-शीह, लंपो, गांधार, पुष्कलावती, पुरुषपुर, उदभांडपुर, उदयन, तक्षशिला, उरसा, कश्मीर, राजपुरी टक्का, जलंधर, कलुट, शतद्रु तथा मथुरा होकर पड़ता था। जिस शहर में सभी ओर के रास्ते मिलते हों, सैनिक-दृष्टिकोण से अपूर्व महत्त्व रखता है। बाल्ख सांग्रामिकता के विचारविन्दु से बड़ा महत्त्वपूर्ण नगर था। विश्व के इतिहास में जो स्थान कौनष्टांटीनोपुल (कस्तुनतुनियाँ) अथवा एलेक्जैंड्रिया को प्राप्त है, वही स्थान बाल्ख को भी। स्थल-मार्ग से भारत-प्रवेश की यह कुंजी था। एशिया की सभी सड़कें आकर यहाँ मिलती थीं। बाल्ख को इसी कारण सिकन्दर ने अपने अभियानों का केन्द्र बना रखा था।

सांग्रामिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए मार्ग की कीमत अत्यधिक है। मार्ग से ही फौजें राज्य के किसी भी स्थान में अति शीघ्र भेजी जा सकती हैं। शांति, समृद्धि, संग्राम, यातायात की सुविधाएँ मार्ग ही पर अवलंबित हैं। मौर्य-साम्राज्य की सफलता का कारण पाटलिपुत्र से सीमान्त तक का मार्ग ही है। सुव्यवस्थित मार्ग-व्यवस्था के कारण ही चन्द्रगुप्त मौर्य तथा उसके वंशज भारत को अधिक सुख, शांति और समृद्धि प्रदान करने में समर्थ हुए। सुगम और सुव्यवस्थित मार्ग के ही कारण अशोक बौद्धधर्म के विश्वजनीन संदेश को इतना व्यापक थोड़े समय में बना सके। शेरशाह भी अपने अल्प शासन-काल में जो इतने व्यापक और अमर सुधार कर सके, उसका अधिक श्रेय 'ग्रैंडट्रंक रोड' को है। देश के व्यापार की वृद्धि और सफलता के लिए भी सुव्यवस्थित मार्ग अपेक्ष्य है। भारतीय मार्ग नदियों की धाराओं से जुटे रहते थे। घाटों पर नावों का जमघट रहता था। घाट का प्रभुत्व भारतीय नाविकों के हाथों में था, जो अपने शासक को किसी प्रकार का 'कर' दिया करते थे।

भारत चिरंतन काल से अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध है। प्रकृति ने भारतीयों को वीर बनने के सभी सामान दिये हैं। यदि वे इसका सदुपयोग न करें, तो प्रकृति का क्या दोष है? भारत ने किसी भी आक्रमणकारी के सामने सिर अवनत नहीं किया। पददलित होने पर भी युद्ध-चिकीर्षु प्रवृत्ति को आर्य-जाति खो न सकी थी। इस जाति के साधु-संत, महात्मा में भी लड़ने की शक्ति विद्यमान रहती है। इस देश के महात्माओं ने अन्तःशत्रु काम, क्रोध, लोभ,

मोह, मद, मात्सर्य से भीषण संग्राम छेड़ उनपर विजय पाई है। इस देश के अन्तिम महात्मा मोहनदास करमचंद गाँधी थे, जिन्होंने पाशविक शक्ति को अपनी आध्यात्मिक शक्ति से कुचल कर भारत को आजाद किया था।

किसी भी जाति के संरक्षण के लिए लड़ने-भिड़ने की प्रवृत्ति तथा प्रतिहिंसा की भावना का रहना अति आवश्यक है। जब तक जाति या राष्ट्र में अन्याय रोकने की शक्ति होगी, हिंसा के प्रतिशोध के प्रबल भाव होंगे, जब तक अपने पाँवों पर खड़े रहने की हिम्मत होगी, जब तक उस जाति की नस-नस में आत्म-सम्मान के भाव भरे होंगे, तब तक वह जाति जीवित रहेगी और विश्व के आदर का पात्र बनी रहेगी। तब तक उस जाति में राम, कृष्ण, चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त, हर्षवर्धन, राणा प्रताप, शेरशाह, और गाँधी नजर आवेंगे। राष्ट्रोत्थान के ये ही वीर मार्ग-निर्माता थे।

पाँचवाँ परिच्छेद

पुरातन भारतीय युद्ध-धर्म

जगत् के प्रारंभिक विकास के साथ ही संग्राम की भावना मानवता के साथ जुटी हुई है। विकास का ऐसा कोई भी युग नहीं मिलता, जहाँ चेतन प्राणियों के बीच संघर्ष न छिड़ा हो। पशु-पक्षी, कीट-पतंग में भी लड़ने-भिड़ने और एक दूसरे से बढ़ कर रहने की प्रवृत्ति पाई जाती है। आचार्य फीजर्ड (Fitzgerald) का वक्तव्य है कि युद्ध आँधी, भूकंप, ज्वालामुखी तथा तरंग-प्रवाह की भाँति प्राकृत दृश्य है। अतीत, वर्त्तमान तथा भविष्य सभी कालों में यह तरंग लहराती नजर आती है। युद्ध क्रूरता का ही प्रतीक न बन जाय, इसे रोकने की प्रशंसनीय चेष्टाएँ चेतन मनुष्यों ने की है। एक राष्ट्र जब दूसरे से लड़ रहा है, तब युद्ध-सम्बन्धी कतिपय नियमों का परिपालन आवश्यक हो जाता है। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच भी यदि संग्राम छिड़ा हो, वहाँ भी कुछ नियमों का पालन विश्वहित की दृष्टि से अपेक्ष्य है। उदाहरण के लिए मल्लयुद्ध लीजिए। कुश्ती में कमर के निचले भागों पर आघात करना अधर्म करार दिया गया था। महाभारत में इसीलिए जरासंध तथा दुर्योधन के भीम द्वारा निधन में अधर्म की गुंजाइश है। दो मनुष्य जब आपस में लड़ते हों, उस समय छिप कर तीसरे को उन लड़ाकू मनुष्यों में एक पर शस्त्र चलाना और उसका वध करना अधर्म समझा जाता था। रामचन्द्र जैसे आदर्श मनुष्य को भी बालिवध के लिए दोषी करार दिया जाता है।

युद्ध-धर्म का स्थिरीकरण दो परस्परविरोधी दलों की राय से होता था। लोक-कल्याण का प्रश्न ही युद्ध-धर्म के निर्णय में प्रमुख था। आपस में लड़नेवाले व्यक्तियों या राष्ट्रों के पूत आचारों से ही युद्ध-धर्म की रक्षा होती थी। जब कभी दो जातियाँ संधि-स्थल पर जमा होतीं और कोई नियम बनातीं, तब वे नियम ही उनके लिखित युद्ध-धर्म हो जाते थे।

युद्ध-धर्म का अन्तिम उद्देश्य यह है कि युद्धार्थी शक्तियों का प्रयोग करें, पर अवसर-विशेष पर क्रूरता का परिहार करें।

आक्रमण और संरक्षण में भी औचित्य का अनतिक्रमण वांछनीय था। कल्पना कीजिए कि इटली अबीसीनिया से लड़ रही है। इटली अपने शत्रु के पराभव के लिए सभी प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग कर रही है। कोई भी सभ्य राष्ट्र इटली के विरोध में तब तक आवाज नहीं उठाता जब तक वह युद्ध-धर्म का भंग नहीं करती। ज्योंही इटली के सैनिक लाल क्रॉस-शिविर पर बम बरसाने लगते हैं; जहाँ रुग्ण, आहत, असमर्थ तथा आर्त्त मनुष्य पड़े हैं; सारे विश्व के कोने-कोने से इटली के विरुद्ध आवाज उठने लगती है। उसकी सांग्रामिकता घृणास्पद बन जाती है।

महाभारत में अश्वत्थामा ने सैकड़ों पांडव-पक्षवर्त्तियों को लड़ते समय मारा था। पर, वही जब रात के समय पाण्डव-शिविर में चोरी से प्रवेश पाकर सोये हुए पाण्डवपुत्रों का वध करता है तो उसके विरुद्ध विश्व बोल उठता है, और वह पापी समझा जाता है।

घृणा की नजर से देखा जाता है। उसकी शुभ्र कीर्त्ति मलिन हो जाती है। इसका कारण यही था कि लड़नेवाली जातियों ने शिविर में सोये बच्चों, स्त्रियों और वृद्धों के वध को अधर्म करार दिया था। किसी भी युद्ध में निर्दोष बच्चे, नहीं लड़नेवाली औरतें, विदेशी-व्यापारी, साधु-संत, सक्रिय भाग नहीं लेते और सक्रिय भाग लेने की क्षमता भी नहीं रखते। उनका वध न कर, उनकी रक्षा करना ही युद्ध-धर्म है। युद्ध करते हुए मनुष्यों में कुछ ऐसी अवस्था को प्राप्त कर जायँ कि उनके सभी शस्त्र चुक गये हों, तो हिन्दू युद्ध-धर्म के अनुसार वे वधार्ह नहीं समझे जाते। जो लड़ते-लड़ते आहत हो गये हों, शरणागत हों, वे भी युद्ध के साधारण नियमों के अन्तर्गत नहीं आते।

इसलिए, लड़नेवाली जातियाँ, लड़नेवाले राष्ट्र युद्ध के समय भी कतिपय सम्यक् युद्धाचारों का अनुसरण करते हैं। संधि-स्थलों पर निश्चित नियमों का परिपालन करना ठान लेते हैं। ये ही आचार और निश्चित नियम युद्ध-धर्म हैं। वर्त्तमान युग में अन्तरराष्ट्रीय सभाओं में अनेक नियम बनते हैं, जिनके अनुसार विषैले गैसों का प्रयोग या ध्वंसात्मक बमों का व्यवहार अनुचित समझा जाता है।

राम-रावण-संग्राम में वानर, आर्य और राक्षस तीन जातियाँ सम्मिलित थीं। वानर हस्तयुद्ध में पूर्णतः कुशल थे। उनमें सुषेणादि वनौषधियों के पूरे जानकार थे। नील-नल अपने युग में अद्वितीय इंजिनियर थे। हनुमान्-सुग्रीव योद्धाओं में अग्रगण्य थे। अंगदादि राजदूत-कर्म में निष्णात थे।

असुरों को ध्वंसात्मक शस्त्र प्राप्त थे। वे पृथ्वी, आकाश तथा समुद्र पर भी युद्ध करने में समर्थ थे। युद्ध उनका व्यवसाय हो गया था। वे केवल जीना ही नहीं चाहते थे। वरन्, मरने के लिए भी इसलिए प्रस्तुत रहते थे कि वे अपनी जाति या राष्ट्र के लिए दूसरी जाति या राष्ट्र को समूल विनष्ट कर सकें। उनमें आत्म-रक्षा, भू-लिप्सा तथा अन्य राष्ट्रों के प्रति ईर्ष्या के भाव बड़े प्रबल थे। राक्षस शिक्षित थे। जातीय विस्तार की भावना उनमें प्रबल थी। उनके युद्ध का वास्तविक लक्ष्य आसुरी सभ्यता का विस्तार और आर्य-सभ्यता का अन्त करना था। वे अपने से दुर्बलों को परतंत्रता की बेड़ी में सदा जकड़ने की आकांक्षा रखते थे। कांचन, कादम्ब और कामिनी—तीनों के लिए तरस खाते थे।

आर्यों की सभ्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। इनके अगस्त्य, विश्वामित्र जैसे ऋषि सदा नये अस्त्र-शस्त्र, ज्ञान-विज्ञान के आविष्कार में लगे रहते थे। अनेक बार आर्यों को असुरों की सहिष्णुता, उनके वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्र, उनकी वाहिनी तथा यानादि के सामने झुकना पड़ा था।

आर्य, अनार्य तथा राक्षसों ने जो कतिपय युद्ध-धर्म-नियम बना रखे थे, वे उनके अनुसार ही बरतते थे, उनका ही विवरण इस लेख का लक्ष्य है।

रामायण-युद्ध के युग-धर्म के कुछ नियम अन्तरराष्ट्रीय स्वरूप को प्राप्त हो गये थे। हनुमान् के आचरण से असंतुष्ट होकर रावण जब उनके वध का आदेश प्रदान करता है, तब उसके मंत्री 'दूत अवध्य है', इस युद्ध-धर्म का याद दिलाते हैं। दूत जो कुछ करते हैं या बोलते हैं, अपने लिए नहीं। स्वामी या राष्ट्र के हित को ध्यान में रखकर ही वे कार्य करते हैं। दूत स्वतंत्र नहीं हैं। वे परवान् हैं। उनकी अपनी जिम्मेवारी नहीं है। अतः व्यक्ति के रूप में वे दंडित नहीं हो सकते। उनके व्यक्तित्व में समष्टि समाभित है।

दूता न वध्याः समयेषु राजन् सर्वेषु सर्वत्र वदन्ति सन्तः ।
न दूतवध्यां प्रवदन्ति सन्तो दूतस्य दृष्टा बहवो हि दंडाः ।
साधुर्वा यदि वासाधुः परैरेष समर्पितः ।
ब्रुवन् परार्थं परवान्न दूतो वधमर्हति ॥

प्रत्येक भारतीय इतिहास के विद्यार्थी का कर्त्तव्य है कि वह युग की विशेषताओं को समझने की चेष्टा करे। आर्यों और राक्षसों के युद्ध-नियम या धर्म में बहुत कम अन्तर था। महाभारत-युग में असुर या राक्षस आर्य-सभ्यता के ही अनुवर्त्ती हो गये थे। जरासंध, शिशुपाल और कंस मेरी दृष्टि में क्षत्रिय थे। क्षत्रियों के साथ उनका वैवाहिक संबंध था। महाभारत-युग में कुरु, पांचाल, काशी, कोसल, विदेह, मगध, अंग, चेदि, विराट्, शौरसेन, सिन्धु प्रभृति जनपद-राष्ट्र थे। रामायण और महाभारत-युगों के सभी राज्य यूरोप के छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों के सदृश थे। आपस में द्वेष रखते थे। एक राष्ट्र कभी अन्य राष्ट्रों या राज्यों पर आधिपत्य स्थापित करने की चेष्टा भी करता था। इंगलैंड की प्रथम एलिजाबेथ के पूर्व स्पेन का स्थान यूरोप में महत्त्वपूर्ण था। अनेक राज्य का यह भाग्य-विधाता बन गया था। उन्नीसवीं शती के पूर्व फ्रांस की स्थिति यूरोप में सबसे बढ़ी-चढ़ी थी। यूरोपीय युद्ध के पश्चात् इंगलैंड प्रतापी प्रमाणित हुआ। पर, यूरोप में कोई ऐसा राज्य न हुआ जो समग्र यूरोपीय राज्यों पर आधिपत्य स्थापित कर सके।

इसी प्रकार भारत में भी छोटे-छोटे अनेक स्वतन्त्र राज्य थे। कभी एक राज्य प्रमुख स्थान प्राप्त करता तो कभी दूसरा। मौर्यों और गुप्तों के शासन-काल में भी साम्राज्य-संस्थापन की भावना कुछ अंशों में ही फलीभूत हो सकी थी। पश्चिमी देशों में विशेष कर यूरोप में युद्ध-धर्म की भावना बहुत पीछे विकसित हुई। सन् १८६४ ई० में प्रथम जेनेवा-सभा हुई थी। उसमें युद्ध-धर्म-निरूपण का प्रश्न सर्वप्रथम कार्यान्वित हुआ था। इसके पश्चात् सन् १८६८ ई० में सेंट पिटसबर्ग में, सन् १८७४ ई० में ब्रुसेल-कान्फरेन्स में, सन् १९०६ ई० में द्वितीय जेनेवा-सभा में तथा सन् १९०७ ई० में हेग-अधिवेशन में इस संबंध में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य हुए।

यूरोप का युद्ध-धर्म भारतीय युद्ध-धर्म की अपेक्षा अधिक आधुनिक है। प्राचीनता में भारतीय युद्ध-धर्म विश्व के इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है

प्रत्येक प्राचीन भारतीय राज्य को विग्रह-शांति-परिषद् थी। पिता के श्राद्ध-कर्म के संपादन के पश्चात् भरत ने इस परिषद् का आह्वान किया था।

—वाल्मीकि रा०, अयो० कांड, अ० ७९

रावण की विग्रह-शांति-परिषद् का वर्णन वाल्मीकि रामायण के लंकाकांड के त्रयोदश अध्याय में हुआ है।

इन परिषदों में भिन्न-भिन्न विषयों पर विचार किये जाते थे—

(१) शस्त्रों के प्रयोग।

(२) पड़ोसी, उदासीन तथा विग्रहकारी राज्यों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए।

(३) राजदूत के साथ व्यवहारादि।

(४) स्त्री, क्लीब, आहत, निश्शस्त्र, शरणागत आदि के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए।

(५) सैन्य-सज्जा, युद्ध का समय तथा प्रयाती का विचार-निर्णय, मित्र-शत्रु आदि का वर्गीकरण।

इन विग्रह-शांति की परिषदों के अतिरिक्त मनुस्मृति, शुक्रनीति सार, कामन्दकीय नीतिसार, कौटिल्य अर्थशास्त्र, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि ग्रंथों में भी युद्ध-धर्म पर विचार किया गया है।

मनु सप्तम अध्याय में युद्ध-धर्म पर अपना विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं—

(१) युद्ध के समय भी शत्रु को कूट आयुध से नहीं मारना चाहिए।
(२) विषाक्त, दिग्ध तथा जलते हुए शस्त्रों का प्रयोग निषिद्ध है।
(३) स्थल-आरूढ पर प्रहार नहीं करना चाहिए।
(४) क्लीब तथा कृतांजलि का वध ठीक नहीं।
(५) मुक्तकेश, आसीन, तथा ऐसे आदमी पर प्रहार नहीं करना चाहिए, जो यह कहे—'मैं आपका हूँ।'
(६) सोये हुए, नग्न, निःशस्त्र तथा ऐसा आदमी जिसने लड़ना बन्द कर दिया हो, उन पर आघात विवर्जित है।
(७) ऐसे व्यक्तियों का वध उचित नहीं, जिसके शस्त्र नष्ट हो गये हों, जो शोक-विदग्ध हों, जिन्हें चोट बहुत लग गई हो, जो बहुत डर गये हों और जो युद्ध से परावृत्त हो गये हों।

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून्।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥ ९० ॥
न हन्यात् स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम्।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥ ९१ ॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ९२ ॥
नायुधव्यसनप्राप्तं नार्त्तं नातिपरिक्षतम्।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥ —मनु०, अ० ७

किसी युग और किसी देश में जब नये शस्त्र आविष्कृत होते हैं और नया सिद्धान्त चालू होता है तो जन-साधारण उन्हें स्वीकृत करने में संकोच करता है। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है—इस बात को आज सभी मानते हैं। पर, जिस समय गैलिलियो ने इसका प्रचार शुरू किया था, उस समय इस सिद्धांत-प्रचार के लिए उसे यंत्रणाएँ सहनी पड़ी थीं। पोप ने नाक-भौं सिकोड़ी थी। ऋषि दयानन्द को अपने धार्मिक सिद्धांतों के प्रचार के लिए जीवन का बलिदान करना पड़ा था। आग्नेयास्त्र, टारपीडो, बम, पाशुपतास्त्र आदि के प्रयोग में भी ऐसी ही बातें लागू होती थीं। पर नये शस्त्रों का जब सम्यक् प्रयोग होने लगता है, तब ऐसे आयुधों का प्रयोक्ता भूरि प्रशंसा का पात्र बन जाता है। वैदिक युग में जब वृत्र के हनन में सभी शस्त्र व्यर्थ प्रमाणित हुए, तब इन्द्र ने वज्र का प्रयोग किया और आर्य-मंडली में उनकी प्रशंसा हुई, पर आर्येतर उनकी निन्दा करते थे। विश्वामित्र तथा अगस्त्य के आविष्कृत आयुधों का सफल प्रयोग राम ने ताड़का तथा रावण-वध में किया था। परवर्ती युगों में ऐसे अमोघ शस्त्रों के युद्ध में प्रयोग करने का निर्देश आचार्य शुक्र ने किया है।

"युद्ध में न्याय और अन्याय का प्रश्न बेकार है। पराक्रमी शत्रु के विनाश के लिए कूट-युद्ध से बढ़कर कोई दूसरा युद्ध नहीं है। इन्द्र, राम, कृष्ण तथा अन्य देवगण भी कूटनीति के द्वारा ही विजयश्री प्राप्त कर सके हैं। छल-कपट, छद्म-वेश, चाटूक्ति, शरण-ग्रहण तथा अपमान-सहन आदि विजय-प्राप्ति के लिए अमोघ साधन हैं। अभीष्ट को हाथ से जाने देना मूर्खता है। अभीष्ट की प्राप्ति के लिए मानापमान पर थोड़ा भी ध्यान नहीं देना चाहिए। युद्ध में शत्रु का ध्वंस ही परम ध्येय है। इसलिए, यह कोई आवश्यक नहीं कि युद्ध न्यायसंगत हो। शत्रु पर अकस्मात् आक्रमण करना चाहिए और बात की बात में हट जाना चाहिए। दूर से डाकू की भाँति दुश्मन पर टूट पड़ना चाहिए।" —शुक्रनीति, अध्या० ७

मराठे न्यूनाधिक शुक्र की नीति का ही अनुसरण करते थे। भारतीय नीति के अन्य आचार्य शुक्रनीति को पसंद नहीं करते। अर्थशास्त्र ही अर्थशास्त्र और राजनीति के विज्ञान हैं। अर्थशास्त्रों में व्यक्ति और व्यष्टि के कल्याण पर सुन्दर विवेचन मिलते हैं।

कामन्दक शुक्र की कूटनीति का समर्थन करते हैं—

"यदि दुर्बल राजा को सबल शत्रु हो, तो उसे कूट-युद्ध अपनाना चाहिए। अभीष्ट-सिद्धि के लिए गाढ़ी निद्रा में पड़े शत्रु के वध करने में कभी छह-पाँच नहीं करना चाहिए।

महाभारत में अश्वत्थामा ने पांडवी सेना के विनाश के लिए इसी नीति का अनुसरण किया था। पर मनु, याज्ञवल्क्य आदि नीति के आचार्यों की दृष्टि में कूटनीति हेय समझी जाती है।

याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"भूमि के लिए जो संग्राम छेड़ते हैं, उन्हें रणक्षेत्र से पीठ नहीं दिखाना चाहिए और उन्हें चाहिए कि वे प्रतिषिद्ध आयुधों का व्यवहार न करें। ऐसे योद्धा योगी और संतों की भाँति स्वर्ग उपलब्ध करते हैं।" —याज्ञवल्क्य स्मृति, १·३२२,३२३

मनु कहते हैं—"किसी भी शत्रु से युद्ध करते समय चाहे वह शत्रु समबल हो, या निर्बल हो या अतिबल हो, योद्धा को युद्धक्षेत्र से विचलित नहीं होना चाहिए। युद्धांगण से पीठ नहीं दिखाने में, रक्षा करने तथा ब्राह्मणों के सत्कार करने में ही सच्चे आनन्द की प्राप्ति होती है।"

शुक्र का कहना है—"संसार में दो ही मनुष्य सूर्यलोक को पार होकर स्वर्ग पहुँचते हैं। योगी तथा रण में लड़ते हुए व्यापादित योद्धा। युद्ध में यदि विद्वान् गुरु भी सामना करे तो उसे मार कर अपनी रक्षा करनी चाहिए। वह अधम, पामर और मृतक समान है जो अपने परित्राण के लिए रणभूमि से भागता है। ऐसा मनुष्य जीते हुए सारे राष्ट्र का पापभार ग्रहण करता है। जो अपने स्वामी या राज्य के पक्ष का परित्याग करता है और रणक्षेत्र से पलायन करता है, वह नरक का अधिकारी है। जीवित रहने पर भी वह उपहास्य लक्ष्य बन जाता है।"

—शुक्रनीति, ४-३१७—३१८

शुक्र के मत से शिक्षित ब्राह्मणों को भी रण में भाग लेना चाहिए, यदि स्त्री, पुरोहित और निर्दोष बच्चों की जान संकटापन्न हो, अथवा उनके प्रति अन्याय होता हो। शय्या पर सोये हुए क्षत्रिय की मृत्यु पाप है। बहादुरों की मृत्यु किसी भी हालत में शोच्य नहीं।

मित्रों की संरक्षा तथा शत्रुओं के दमन के लिए सदा साम, दाम, भेद और दंडनीति से काम लेना चाहिए। मनु की दृष्टि में दंडनीति का प्रयोग उस समय करना चाहिए, जब साम,

दाम, और भेद में से किसी भी नीति से कार्य सध न सके। विजय अनिश्चित है और पराभव निश्चित। इसलिए साम, दाम और भेद-नीतियों से ही शासकों को अपना काम साधना चाहिए। शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए छह साधनों का उपयोग श्रेयस्कर है। संधि, विग्रह, यान,[1] आसन,[2] द्वैधीभाव और समाश्रय। भारतीय युद्ध-धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उदासीन राष्ट्रों को कोई क्षति न पहुँचाई जाती थी। साधारण प्रजाओं की संपत्ति भी नष्ट नहीं की जाती थी। महाभारत में भारत के सभी राज्य लड़ रहे थे। पर, यह बड़ी लड़ाई जनपद से अति दूर कुरुक्षेत्र के विस्तृत मैदान में हुई थी। जरासंध ने १७ बार मथुरा पर चढ़ाई की थी। भरत एक अक्षौहिणी सेना के साथ श्रीरामजी को मनाने चित्रकूट गये थे। पर, कहीं भी हिन्दू-ग्रन्थों में उल्लेख नहीं मिलता कि उदासीन राज्य और प्रजाओं को सेना ने तकलीफ पहुँचाई।

मनु इस बात पर अवश्य जोर देते हैं कि युद्ध का उद्देश्य शत्रु को असमर्थ बनाता है।

—मनु०, अ० ७, १९५–९६

जब नगर को शत्रु घेर ले, तो विजयार्थी योद्धा उसके राज्य को तबाहहाल कर दे, खाद्य-पदार्थ, जलावन, जल और घास को नष्ट कर दे। तालाब या अन्य जलाशय के पानी को खराब कर दे, प्राकार तथा खाई नष्ट कर दे। विना सूचना दिये शत्रु पर आक्रमण करे। रात के समय उसे आतंकित करे।

शुक्राचार्य भी कुछ ऐसी ही बातें करते हैं। सबल दल को चाहिए कि वह शत्रुपक्ष को ऐसी स्थिति में कर दे कि उसे न जल मिल सके, न खाद्य, न घास और न जलावन। ऐसी परिस्थिति की सृष्टि कर शत्रु पर आक्रमण करना चाहिए। —शुक्र०, अध्या० ४

पर कुएँ को विषाक्त करने तथा जनपद को ध्वस्त करने का आदेश नीतिशास्त्रों में नहीं मिलता।

रूसो के विचार भी भारतीय नीतिकारों के विचारों स सादृश्य रखते हैं। रूसो लिखते हैं—"युद्ध मनुष्य और मनुष्य के बीच का संबंध नहीं है, वरन् राज्य और राज्य के बीच का संबंध है। इसलिए, व्यक्तिगत शत्रु और व्यक्तिगत संपत्ति पर धक्का नहीं पहुँचना चाहिए।" आधुनिक पश्चिमी नीतिकारों में से अधिकांश को रूसो के विचार मान्य नहीं हैं।

प्राचीन भारतीय सैनिकों और योद्धाओं के आचार ही युद्ध-धर्म के गहन तत्त्व थे—

(१) जिस किसी ने पहले अपकार किया हो, उसके हनन में अधर्म की गुंजाइश नहीं; इसलिए पूर्वापकारी के वध में योद्धा अधर्म का अनुभव नहीं करता था। इस प्रकार का योद्धा पूर्वापकारी राष्ट्र, जाति या जन-साधारण को अत्यधिक कष्ट पहुँचानेवाला व्यक्ति होता था।

पूर्वापकारिणं हत्वा न ह्यधर्मेण युज्यते। —रामा०, अयो०, सर्ग ९६

(२) शूर की शूरता पीड़ितों के संरक्षण में निहित थी। योद्धा शस्त्रों का ग्रहण इसलिए करता था कि कहीं आर्त्तनाद न सुन पड़े।

क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्त्तशब्दो भवेदिति। —रामा० वा०, अरण्य०, अ० १०

१. यान—धावा बोलना।

२. आसन—शिविर में बैठा रहना।

(३) प्राचीन भारतीय योद्धा मृत्यु का आलिंगन कर सकता था, पर अपमान का सहन नहीं। चुनौती पाने पर पीठ दिखाना उसके लिए असंभव था। मरना और मारना—यही उसके जीवन का व्रत था।

अधर्षितानां शूराणां समरेष्वतिवर्त्तिनाम्।
धर्षणामर्षणां भीरु मरणादतिरिच्यते॥—वाल्मी० रा०, किष्किं०, अ० १६

(४) मनु भी अपनी स्मृति के सप्तम अध्याय में प्रायः ऐसी ही बातें करते हैं। राजा का काम प्रजाओं का सम्यक् पालन तथा संरक्षण था। वह सदा क्षात्र-धर्म का अनुसरण करता था। शत्रु से आह्वान पाते ही वह भिड़ जाता था। संग्राम-भूमि से एक पद भी हटना उसकी प्रकृति के विरुद्ध बात थी।

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः।
न निवर्त्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्॥

(५) महाभारत-काल में प्रत्येक उपजाति (Tribes) को अपना सांग्रामिक धर्म था। यह उपजातीय सांग्रामिक धर्म काल-क्रम से अन्य उपजातियों के बीच भी व्यापक रूप में प्रसृत हो जाता था। कृष्ण की अनुपस्थिति में द्वारका पर एक प्रबल शत्रु चढ़ आया। यादवी सेना के साथ प्रद्युम्न ने उसका सामना किया। उन्हें बड़ी चोट विपक्षी ने पहुँचाई और वे संज्ञा-विहीन हो गये। सारथि दारुक उन्हें रणक्षेत्र से हटाकर बाहर ले गया। संज्ञा प्राप्त करते ही वह सारथि पर झल्ला उठे और कहने लगे—

(क) "दारुक! तुम सारथिकुल में उत्पन्न हुए हो। सारथि-कर्म के पूरे जानकार हो। रथ की सभी गतियों के ज्ञाता हो। रणांगण से मुझे हटाकर तुमने यह क्या किया? वृष्णिवीरों की स्त्रियाँ मेरे संबंध में क्या कहेंगी? सात्यकि, बलदेव सुनकर क्या कहेंगे और मैं क्या बखान करूँगा।"

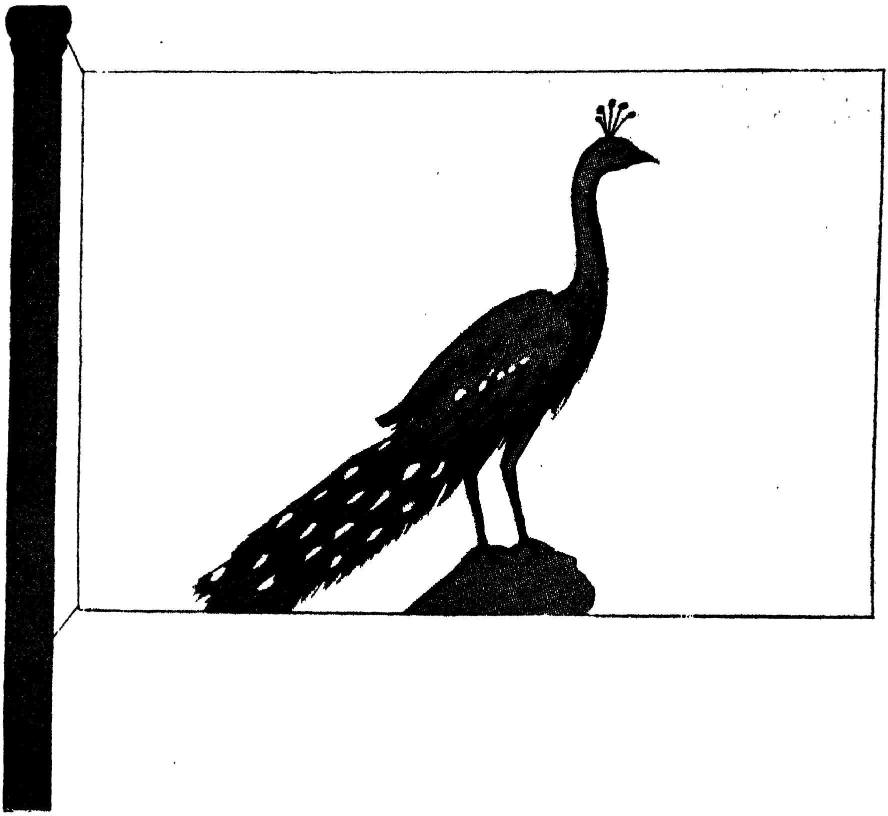
(ख) "वृष्णि-कुल में उत्पन्न कोई भी योद्धा रणक्षेत्र को नहीं छोड़ता।"

(ग) "निपतित योद्धा को वह नहीं मारता और न वह उस सैनिक पर आघात करता है, जो यह कहता है—'मैं आपका हूँ।"

(घ) "वह नारी, बाल, वृद्ध, विरथ, मुक्तकेश और भग्नशस्त्रायुध पर भी आघात नहीं करता।"

न स वृष्णिकुले जातो यो वै भजति संगरम्।
यो वा निपतितं हन्ति तवास्मीति च वादिनम्॥
तथा स्त्रियं च यो हन्ति बालं वृद्धं तथैव च।
विरथं मुक्तकेशं च भग्नशस्त्रायुधं तथा॥
त्वं च सूतकुले जातो विदितः सूतकर्मणि।
धर्मज्ञश्चापि वृष्णीनामाहवेष्वपि दारुके॥
स्त्रियश्च वृष्णिवीराणां किं मां वक्ष्यति सारथे।
सात्यकिं बलदेवं च ये चान्येऽन्धकवृष्णयः।
मया स्पर्द्धन्ते सततं किं नु वक्ष्यामि तानहम्।

—महा०, वनपर्व, अ० १८–१९



मयूरध्वजभङ्गस्ते यदा बाण भविष्यति

(बाणासुर भी मयूरध्वज थे ।)

(६) प्राचीन भारतीय योद्धा में आत्मसम्मान का रहना अनिवार्य था। वह भोजन, वस्त्र तथा अपने आराम के लिए किसी दूसरे का मुँह जोहना अधर्म समझता था। यदि कोई अपने बाहुबल से अर्जित पृथ्वी भी भारतीय वीर को देता, तो उसे वह लात मारता था।

असंशयं माधव सत्यमेतद् गृह्णीम ते वाक्यमदीनसत्त्व।
स्वाभ्यां भुजाभ्यां भजितां तु भूमिं नेच्छेत् कुरूणामृषभः कथंचित्॥

—महा०, वन०, अध्याय १२२

(७) भारतीय वीर सैनिक भीख कभी नहीं माँगता। वह क्षात्र-धर्म का परिहार कभी नहीं करता। गंधमादनसार में कुबेर के सैनिकों ने भीम से अनुरोध किया कि वे पुष्प न तोड़ें। स्वयं वे सैनिक पुष्प लाकर उन्हें देते हैं। तब भीम ने कहा--

न हि याचन्ते राजानः एष धर्मः सनातनः।

—महा०, वनपर्व, अ० १५५

यूरोप की वीर जातियाँ प्रायः इसी सिद्धान्त का अनुसरण करती हैं। हिटलर के नेतृत्व में जर्मन तथा मुसोलिनी के नेतृत्व में इटलीवासी कभी दूसरों के सामने हाथ नहीं पसारते थे और न बृटेन-निवासी ही।

(८) भारत की जातियों और उप-जातियों में यद्यपि संघर्ष छिड़ा ही रहता था, तथापि अपनी उपजाति की रक्षा के लिए वे पारस्परिक भिन्नताओं को परित्यक्त कर देते थे। अपनी उपजाति की संरक्षा के लिए वे एकता के सूत्र में गुँथ जाते थे और शत्रु पर सम्मिलित आक्रमण करते थे। यदि किसी उपजाति की महिला का कोई अपमान करता, तो सारी जाति उस अपमान का बदला लेने के लिए कटिबद्ध हो जाती थी।

गन्धर्वराज ने दुर्योधन को गिरफ्तार कर लिया और उनके घर की स्त्रियों को भी अपने यहाँ ले जाने लगा। उस समय युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ जंगल में दिन काट रहे थे। युधिष्ठिर को यह बात ज्ञात हुई और अपने भाइयों से कौरवों की सहायता के लिए अनुरोध किया। इस पर भीम ने कहा—"महाराज! इन्हीं कौरवों ने हमारा राज्य छीन लिया है। द्रौपदी को तिरस्कृत किया है। हमें वनवास दिया है।" इस पर धर्मराज ने कहा—"जातिधर्म की रक्षा तो भी आवश्यक है। जब शत्रु हमें दबाना चाहें तब हम १०५ हैं। अन्यथा आपस के विरोध में हम पाँच और वे सौ।"

शरणं च प्रपन्नानां त्राणार्थं च कुलस्य च।
उत्तिष्ठध्वं नरव्याघ्राः सज्जीभवत मा चिरम्॥
परैः परिभवे प्राप्ते वयं पंचोत्तरं शतम्।
परस्परविरोधे तु वयं पंचैव ते शताः। —महा०, वनपर्व

(९) आर्यों का युद्ध-धर्म उच्च कोटि का था। उसकी समता विश्व की कोई जाति नहीं कर सकती थी। शरणागत की रक्षा के लिए भारतीय वीर प्राणों का परित्याग करता था। किसी का आर्त्तनाद उसे कर्त्तव्याभिमुख करता था। शत्रु भी रो पड़े या शरण में आवे तो उसे मुक्ति प्रदान करने में उतना आनन्द मिलता था जितना राज्यप्राप्ति और पुत्रजन्मोत्सव में।

कभी-कभी भारतीय योद्धा भीषण शपथ लेता था। वीर कर्ण तथा राणा प्रताप की प्रतिज्ञाएँ और शपथ लोकप्रसिद्ध हैं। पर, यह व्यक्तिगत युद्ध-धर्म था। इसका राष्ट्रीय, जातीय महत्त्व न था।

कर्ण ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक अर्जुन का वध न करूँगा, तब तक किसी दूसरे से पाँव न धुलाऊँगा, मद्यपान न करूँगा, किसी भी याचक की माँग पूरी करूँगा।

राणा साँगा के साथ भीषण संग्राम छेड़ते हुए बाबर ने भी शपथ ली थी कि वह शराब नहीं ग्रहण करेगा।

(१०) भारतीय योद्धा अपने अनुवर्त्तियों को कभी संकट में नहीं छोड़ता था। वह सत्य का संसेवक था। भीतों को अभय प्रदान करना, जीवितार्थी की रक्षा करना ; वृद्ध, बाल, द्विजाति को संकट से निर्मुक्त करना उसके जीवन का व्रत था। उसे मृत्यु का भय नहीं था। असत्य से ही वह अधिक भीत होता था।

हत्वा शरीरं संग्रामे कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।
विजित्य च परानाजौ यशः प्राप्स्यामि केवलम्॥
भीतानामभयं दत्वा संग्रामे जीवितार्थिनाम्।
वृद्धान् बालान् द्विजातींश्च मोक्षयित्वा महाभयात्॥
बिभेमि न तथा मृत्योर्यथा बिभ्येऽनृतादहम्॥—महा०, वनपर्व, ३०

(११) संग्राम में देश और काल पर भारतीय सैनिक का ध्यान सदा रहता था।

देशकालेन संयुक्तं युद्धं विजयदं भवेत्।
हीनकालं तदेवेह अनर्थायोपकल्पते॥

(१२) दुर्बल की भी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। युद्ध-धर्म का यह प्रथम सिद्धांत था। वीर नेपोलियन भी इसका महत्त्व घोषित करता था।

न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा।—महा०, उद्योग पर्व, ८२

(१३) (क) भारतीय ललनाएँ भी युद्ध-धर्म के महत्त्व को समझती थीं। गांधारी ने दुर्योधन की भेद-नीति का विरोध किया था। क्योंकि, आपस की फूट विनाश का कारण है।

कथं हि स्वजने भेदमुपेक्षेत महीपतिः।

(ख) कुन्ती ने अपने पुत्र युधिष्ठिर को स्वावलंबन का पाठ पढ़ाया था और उन्हें अपने पाँवों पर खड़े होने का आदेश दिया था। स्वावलंबन और आत्म-विश्वास भारतीय युद्ध-धर्म का प्रधान अवयव था।

स्वबाहुबलमाश्रित्य यो हि जीवति मानवः।
स लोके लभते कीर्त्तिं परत्र च शुभां गतिम्॥

(ग) भारतीय माताएँ समय-समय पर अपने पुत्रों को उत्तेजित करती थीं। और, उनके कथन का वीर पुत्रों पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। कुन्ती ने युधिष्ठिर के युद्ध-संबंधी विचारों को सुन कर कृष्ण द्वारा यह संदेश भेजा था—"पुत्र! क्षत्राणी बच्चों को इसलिए जनती है कि वे शत्रु के किये अपमानों का बदला लेंगे। जीते-जी शत्रु के सामने नतमस्तक नहीं होंगे। मातृस्तन्य की लाज वेद के प्रतिश्लोक में है।"

यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ।
नहि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरुषर्षभाः ॥

(१४) शूरता पुरातन हिन्दू-जाति की नस-नस में मिली हुई थी। क्या पुरुष, क्या स्त्री क्या बाल, क्या वृद्ध, सभी शूरता की बातें करते थे। सोलह वर्षों का अभिमन्यु सात महा-रथियों से लोहा लेने के लिए कमर कस लेता है और सारथि से मोर्चा लेने के उद्देश्य से रथ बढ़ाने को कहता है। सारथि आनाकानी करता है, तब वह विश्वविश्रुत योद्धा मुस्कुरा कर सारथि को याद दिलाता है—'सारथि! रथ आगे बढ़ाओ।'

भला कृष्ण जिस अभिमन्यु के मामा और अर्जुन जिसके पिता हैं, उसे भला किसका भय हो सकता है। —महा०, द्रोण०, ३६

विश्व के प्रसिद्ध वीर ऐसे ही अपने व्यक्तित्व पर निष्ठा रखते हैं। इटली का वीर पौम्पे कहा करता था—'यदि मैं यहाँ पदाघात करूँ, तो एक बड़ी सेना खड़ी हो जाय।'

डूबते हुए जलपोत को देखकर जुलियस सीजर ने नाविकों को स्मरण दिलाया था—'तुम्हारे जलपोत से जुलियस को पार करना है। यह डूब नहीं सकता।'

नेपोलियन ने आल्प्स पर्वत को मार्ग से हटने की आज्ञा दी थी।

अभिमन्यु के ये वचन वीरों के लिए सदा ब्रह्मवाक्य बन गये हैं।—

अपि विश्वजितं विष्णुं मातुलं प्राप्य सूतज ।
पितरं चार्जुनं युद्धे भीर्मामुपयास्यति ॥
एतच्च सर्ववीराणां कांक्षितं भरतर्षभ ।
संग्रामेऽभिमुखो मृत्युं प्राप्नुयामिति मानद ॥

रणक्षेत्र में शत्रु पर टूट पड़ना और मृत्यु का आलिंगन करना ही वीरों का कर्त्तव्य है।

छठा परिच्छेद

प्राचीन भारतीय सैन्य संगठन

प्राचीन भारतीय लेखकों पर प्रायः यह दोष मढ़ा जाता है कि उनमें इतिहास-प्रणयन-ज्ञान की कमी थी। यह आक्षेप सर्वथा निराधार है। प्राचीन भारतीयों में यह बड़ा गुण था कि वे सत्य के प्रतिपादन में अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते थे। 'राजतरंगिणी' का लेखक 'कल्हण' इस भारतीय इतिहास-प्रणयन-प्रणाली पर बड़ा बल देता है—

श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृतः।
भूतार्थे कथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती ॥'

वही गुणी इतिहास-लेखक प्रशंसा का पात्र है जिसने अतीत की घटनाओं के वर्णन में रागद्वेष और पक्षपात से काम न लिया हो।

सैन्य-संगठन के कथन में प्रायः इसी प्रणाली का अनुसरण होगा। भारतीय सेना-संगठन का क्रमबद्ध इतिहास अबतक देखने में नहीं आया। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में सेना-संबंधी सामग्रियाँ जिन ग्रंथों में मिली हैं, उनके नाम हैं—

(१) ऋग्-वेद, (२) अथर्व-वेद, (३) रामायण-वाल्मीकि, (४) महाभारत, (५) मनुसंहिता (स्मृति), (६) इनसाइक्लोपीडिया बृटेनिका, सैनिक-खंड (७) बसाढ़-मुद्राएँ, (८) सिकन्दर की भारत पर चढ़ाई—(Alexendar's Indian invasion) प्लिनी, डायडोरस, जष्टीन प्रभृति, (९) इंडियन एंटीक्वेरी, (१०) राजतरंगिणी, (११) खारोस्त्री शिलालेख-संख्या ३६।

ऋग्वेद वीर आर्य-जाति का आदि ग्रंथ है। इसमें सेना का स्पष्ट उल्लेख है। ऋग् वैदिक आर्य-सैन्य-संगठन की पूरी जानकारी रखते थे। सेना के अवयवों से परिचित थे।

(१) अनेक स्थलों में पृतना का प्रयोग ऋग् की ऋचाओं में हुआ है।

युवन्तमिन्द्रापर्वता पुरो युधा यो नः
पृतन्यादयतन्तमिद्धतं वज्रेण तं तमिद्धतम् ॥

—ऋग्०, मं० १, सू० १३२, मंत्र ६

हे पर्वत के अभिमानी देव इन्द्र! जो शत्रु हमारे विरोध में सेना-संग्रह करते हैं, उन्हें नष्ट करो।

पृतना सेना की एक टुकड़ी है और इसका विशद वर्णन आगे किया जायगा।

(२) अथर्व-वेद में भी पृतना शब्द आया है—

विन इन्द्रो मृधा जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
अधमं गमया तमो यो अस्मां अभिदासति।

—अथर्व०, अ० १, क० ४, सू० २१

हे इन्द्र ! मेरे शत्रुओं और उनकी सेनाओं को युद्ध में मार डालो। जो शत्रु हमें पीड़ित करते हैं, उन्हें अंधकार में ले जाओ।

(३) ऋग्-वैदिक युग में रथ, चक्रनेमि, घोड़े, लगाम, हाथी, ऊँट आदि सभी सांग्रामिक संभारों का साक्षात्कार होता है। साथ-साथ आयुधों और रण-वाद्यों की भी चर्चा हुई है।

(क) युद्ध में सफलता के लिए रथ और नेमि का दृढ़ होना, घोड़े का दृढ़ होना तथा सारथी के शरीर तथा लगाम पकड़नेवाली उसकी अंगुलियों का दृढ़ होना, नितांत आवश्यक है। युद्ध में विजयलिप्सु वीर निम्नस्थ मंत्र में यही कामना करता है—

स्थिरा वः सं तु नेमयो रथा अश्वास एषाम् ।
सुसंस्कृता अभीषवः ।। —ऋग्०, मं० १, सू० ३७, म० १२

तुम्हारे रथ-चक्र दृढ़ हों। रथ और घोड़े दृढ़ हों, लगाम और पगहे दृढ़ हों, अंगुलियाँ सावधान हों।

(ख) संग्राम, संहार तथा मुठभेड़ का उल्लेख निम्नलिखित रूप में किया गया है—

अर्वद्भिरने अर्वतो नृभिर्नृन्
वीरैर्वीरान् वनुयामा त्वोताः ।।

—ऋग्०, मंडल १, सू० ७४, मंत्र ६

हम अपने अश्वों से शत्रु के अश्वों का वध करें, अपने योद्धाओं और वीरों के द्वारा शत्रु के योद्धाओं और वीरों का संहार करें।

इस मंत्र से अश्वारोही सेना तथा पदाति का निस्संदेह भान होता है।

(४) ऋग्वेद में सांग्रामिक दलों तथा दुर्गों के ध्वंसीकरण के स्पष्ट संकेत हैं—

(क) त्वमाविश नर्यं तुर्वशं यदुं त्वं तुर्वीतिं वय्यं शतक्रतो ।
त्वं रथमेतशं कृत्वे धने त्वं पुरो नवतिं दम्भयो नव ।।

—ऋग्०, मं० १, सू० ५४, मंत्र ६

हे इन्द्र। तुमने नर्य, तुर्वश, यदुनाम के राजाओं की रक्षा की। तुमने वय्य-कुलोत्पन तुर्वीति की रक्षा की। तुमने रथ तथा एतश ऋषि की संग्राम में रक्षा की। तुमने शंवर के ९९ नगरों का ध्वंस किया। स्पष्टतः इस मंत्र से सांग्रामिक दलों और दुर्गों का पता चलता है।

(५) ऋग्-वेद में रथी, शिल्पी, संग्राम-चिकित्सक आदि के भी उल्लेख हैं।

प्रत्येक सेना-संगठन में शिल्पी की सेवाएँ अपेक्ष्य हैं। वे ही यान (सवारी), आयुध, सड़क, पुल नाव आदि बनाते हैं। आहत सैनिकों की सेवा के लिए तथा रोगग्रस्त सैनिकों की चिकित्सा के लिए चिकित्सक-मंडली सेना में रहती है। स्थान-स्थान पर ऋग् के मंत्रों में शिल्पी तथा संग्राम-चिकित्सक वर्णित हैं। रथी सेना के सभी भागों से लड़ने में समर्थ होता था। ऋग्-वैदिक आर्य-सैनिकों में रथी की कमी न थी। ऋषि ईश्वर की कल्पना भी रथी के रूप में करते थे।

(क) निकिष्टवद्रथीतरो हरी यदिन्द्र यच्छसे।—ऋग्०, मं० १, सू० ८४, मंत्र ६

हे इन्द्र तुमसे बढ़कर कोई रथी नहीं है।
तुम अपने घोड़े को रथ में जोतते हो।

(ख) वैदिक ऋभुएँ शिल्पी थीं। इन्होंने अश्विनीकुमारों के लिए रथ बनाया था।

तक्षन्रथं सुवृतं विद्मनापसस्तक्षन् हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू।

—ऋग्०, मं० १, सू० १११, मंत्र १

शिल्पी ऋभुओं ने अश्विनीकुमारों के लिए सुनिर्मित रथ प्रस्तुत किया था। हरिनाम के दो घोड़ों का निर्माण किया था।

(ग) त्वष्टा अन्य शिल्पी थे, जिनसे बढ़ई नामक जाति व्यवस्थित हुई। इन्होंने इन्द्र का वज्र बनाया था।

अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद्वज्रं स्वपस्तमं स्वर्यं रणाय।

—ऋग्०, मं० १, सू० ६१, मंत्र ६

इन्द्र के लिए त्वष्टा ने युद्धार्थ सुप्रेरणीय वज्र बनाया था। वज्र लोहे का बना होता था और हड्डी का भी। वज्र एकधार और सहस्रधार भी होता था।

अभ्येनं वज्र आयसः सहस्र भृष्टिरायतार्चन्नु स्वराज्यम्।

इस मंत्र में सहस्रधारवाले लौहनिर्मित वज्र का उल्लेख है।

(घ) इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।
जघान नवतीर्नव॥ —ऋग्० मं० १, सू० ८४, मंत्र १३

इन्द्र ने दधीचि की हड्डियों से बने वज्र द्वारा वृत्र तथा असुरों को नवगुण नवति (९०×९=८१०) बार मारा था।

(ङ) अश्विनीकुमार बड़े भारी चिकित्सक थे। ऋग् में 'दस्र' और 'नासत्य' इनके नाम हैं। —ऋग्०, १।३

(६) ऋग्-वैदिक आर्य नौ-शक्ति की उपादेयता भली-भाँति समझते थे। कारण यह था कि उन्हें सप्तसैन्धव में सिन्धु, शतद्रु, विपाशा आदि नदियों को पार होकर शत्रुओं का सामना करना पड़ता था। नावें उनके लिए ऐसी प्रसिद्ध वस्तु थी, कि वे मंत्रों में रूपक बनकर आई हैं—

(क) आ नो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे।
युञ्जाथामश्विना रथम्। —ऋग्०, म० १, सू० ४६, मंत्र० ७

हे अश्विन्! तुम नौका रूप होकर स्तुति-समुद्र को पार होने के लिए आओ। हमारे सामने रथ में घोड़ा जोतो।

(ख) विश्वानि नो दुर्गहा जातवेदः सिन्धुं न नावा दुरितातिपर्षि।

—ऋग्० म० ५ सू० ४ मंत्र ९।

नाविक नाव द्वारा जिस प्रकार नदी पार करता है, उसी प्रकार हमें दुरितों से पार करो।

आर्य-सैनिकों के पास नदी तथा सागर-संतरण करनेवाली नौकाएँ होंगी, तभी तो इस प्रकार का वर्णन है।

ऋग्-वैदिक युग में संवहन-आयात (Transport) के साधन रथ, नाव, घोड़े, हाथी, ऊँट प्रभृति थे।

रण में अपनी उपादेयता के कारण अश्व की वंदना ऋग् के अनेक मंत्रों में की गई है। ऋग्०, मंडल १, सूक्त १६२ के प्रायः सभी मंत्रों में अश्वमेधीय घोड़े की प्रशंसा है। अश्वमेध ऋग्-वैदिक युग में प्रचलित था—ऐसा लगता है। जहाँ अश्व गया था, बैठा था, लेटा था, जिससे उसके पाँव बँधे थे; उसने जो जल पीया था, जो घास खाई थी, सब देवों के पास जायँ।

निक्रमणं निषदनं विवर्त्तनं यच्च पड्वीशमर्वतः।
यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु॥

—ऋग्०, मं० १, सू० १६२, मंत्र १४

ऋग्-वैदिक ऋषि घोड़े, ऊँट, रथ के बड़े प्रेमी थे। वीर जाति के लिए इनमें प्रत्येक जरूरी है।

वश ने पृथुश्रवा राजा से ७० हजार घोड़े, दो हजार ऊँट, काले रंग की एक हजार गायें और सोने के रथ प्राप्त किये थे।

षष्टिं सहस्राश्व्यस्यायुतासनमुष्ट्राणां विंशतिं शता।
दश श्यावीनां शता दश त्र्यरुषीणां दश गवां सहस्रा॥

मैंने साठ हजार और अयुत (दस हजार) अश्वों, बीस सौ ऊँटों, दस सौ घोड़ियों और दस सहस्र गायों को प्राप्त किया है। —ऋग्०, मंडल ८, सू० ४६, मंत्र २२

वैदिक-युग में घोड़ियाँ भी रथ में जोती जाती थीं।

ईशान इमा भुवनानि वीयसे युजान इन्दोहरितः सुपर्ण्यः।

—ऋग्०, मंडल ६ सू० ८६ मंच ३७

घोड़ियों को रथ में जोतनेवाले तुम इन सारे भुवनों में गतिविधि करते हो।

ऋग्वैदिक युग में घोड़े के बाद रथ की उपादेयता स्वीकृत थी। इसका खूब प्रयोग था। रथ के अवयव खैर (खदिर) तथा शीशम (शिंशपा) के बने होते थे। एक ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करता है कि वह रथ के खैर काठ के सार को दृढ़ करे और रथ के शीशम काठ को दृढ़ करे। अक्ष को दृढ़ करे। गमनशील रथ से वह गिरने न पावे।

अभिव्ययस्व खदिरस्य सारमोजे धेहि स्यन्दने शिंशपायाम्।
अक्षकीलो कीलित कीलयस्व मा यामादस्मादवजीहियो नः॥

—ऋग्०, मं० ३, सू० ५३, मंत्र १६

रथ में १०० घोड़े तक जोते जाते थे—कभी-कभी तो एक हजार तक घोड़े जोते जाते थे। रथों की गति-वृद्धि पर उनका विशेष ध्यान रहता था।

वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम्।
उत वा ते सहस्रिणो रथा आयातु पाजसा॥

—ऋग्०, मं० ४, सू० ४८, मं० ५

हाथी भी संवहन के काम में आता था। सैनिक राजा उस पर चलता था।

राजेवामवां इभेन।—ऋग्०, मं० ४, सू० ४, मंत्र ७

राजा जैसे हाथी पर गमन करता है।

ऊँट का उल्लेख—यथा मृध उष्ट्रो न पीपरो मृधाः। —ऋग्वेद, १।१३८।२

ऊँट की तरह तुम हमें युद्ध में पार करते हो।

ऋग्वैदिक युग में नगरों तथा दुर्गों की कमी न थी। अनेक मंत्रों में उनके वर्णन मिलते हैं।

(क) भिनत् पुरो नवतिमिन्द्र पूरवे दिवोदासाय महिदाशुषे नृतो वज्रेणदाशुषे नृतो ॥

—ऋग्वेद, मं० १, सू० ११०, मं० ७

हे नृत्यशील इन्द्र! दिवोदास के लिए तुमने नब्बे नगरों को वज्र द्वारा नष्ट किया।

(ख) विदुर्गा विद्विषः पुरो घ्नन्ति राजानः।
एषां नयन्ति दुरितातिरः ॥

—ऋग्वेद, मं० १, सू० ४१, मंत्र ३

राजा शत्रुओं के दुर्ग नष्ट करते हैं। साथ ही साथ शत्रुओं का विनाश भी करते हैं।

(ग) इन्द्र तथा विष्णु ने शम्बर की ९९ पुरियों को ध्वस्त किया।

इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्लथिष्टम् ॥

—ऋग्वेद, मं० ७, सू० ९९, मं० ५

ऋग्वैदिक युग में संगठित युद्ध भी हुआ करते थे। ऋग्वेद के मंडल ७, सू० ८३, मंत्र ६–७ से स्पष्ट है कि दस यज्ञहीन राजाओं ने परस्पर मिल कर सुदास से संग्राम छेड़ा था। पर उन्हें विजय हाथ न आई।

युवां हवन्त उभयास आजिष्वन्द्रं च वस्वो वरुणं च सातये।
यत्र राजभिर्दशभि निर्बाधितं प्र सुदासमावतं तृत्सुभिः सहः।
दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः ॥

युद्ध इतना प्रिय विषय था कि इसके लिए आजि, संग्राम, रण, वाज, मृध आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

समर और महासमर दोनों उस युग में छिड़ते थे। ऋग्वेद, मंडल ४, सू० ६, मंत्र १३ में महासमर की ओर संकेत है।

पञ्चाशत् कृष्णा निवपः सहस्राकं न पुरो जरिमा विददः ॥

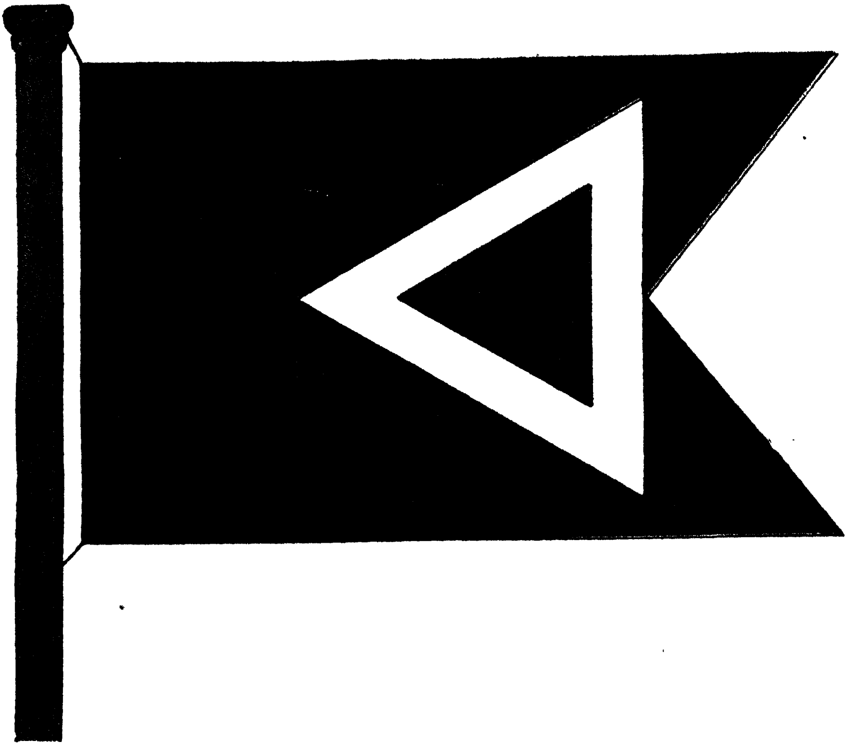
तुमने पचास हजार कृष्णवर्णवाले राक्षसों को मारा था।

वैदिक युग में नौकरों को वेतन दिया जाता था।

प्रपुनानाय वेधसे सोमाय वच उद्यतम्।
भृतिं न भरा मतिभि र्जुजोषते ॥

—ऋग्वेद, मं० ९, सू० १०३, मं० १

हे मित्र! तुम सोम के लिए वैसे ही सुचारु वचन कहो, जैसे वेतन भोगी नौकर कहते हैं।



जाम्बूनदमयी वेदी ध्वजाग्रे यस्य दृश्यते।
शोणाश्चाश्वा रथे युक्ता द्रोण एष प्रकाशते ॥

—महा० विराट पर्व।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह पता चलता है कि ऋग्वैदिक युग में राजा सैनिक, आर्य, आर्येतर (राक्षस, दस्यु) प्रभृति थे। आर्यों तथा आर्येतर जातियों में संघर्ष चलता था। अतः इस युग में सैनिक-संगठन की आवश्यकता हुई। इसी संगठन के परिणाम थे कि आर्यों ने पद-सेना, अश्व-सेना, रथ-सेना, हस्ति-सेना, उष्ट्र-सेना तथा नौ-सेना का संगठन किया। युद्ध में दुर्गों का ध्वंस, नगरों का विनाश, वस्तुओं का अपहरण और शत्रुओं का वध होता था। आर्यों के पास रण-वाद्य, अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र तथा परित्राणप्रद कवचादि भी थे। युद्ध में प्रस्थान करने के समय वे किस प्रकार अपने को सुसज्जित करते थे, इसका बड़ा ही मनोरम चित्र ऋग्वेद, मंडल ६, सूक्त ७५ में उपस्थित किया गया है—

जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे।
अनाविद्धया तन्वाजयत्वं स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु॥

—ऋग्वेद, मंडल ६, सू० ७५, मं० १

लौहमय कवच धारण किये राजा मेघ-सा प्रतीत होता है। कवच की महिमा राजा की रक्षा करे।

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशा जयेम॥

—ऋग्वेद, मंडल ६, सू० ७५, मंत्र २

हम धनुष द्वारा शत्रुओं की गायें जीतें, युद्ध जीतें, शत्रु का वध करें। धनुष शत्रु की अभिलाषा नष्ट करे। धनुष के द्वारा सभी दिशाओं में स्थित शत्रु को जीत लें।

सातवें मंत्र में सांग्रामिक घोड़े का बड़ा ही ओजस्वी चित्र उपस्थित किया गया है—

तीव्रान् घोषान् कृण्वते वृषपाणयोश्वा रथेभिः सह वाजयन्तः।
अवक्रामन्तः प्रपदैरमित्रान् क्षिणन्ति शत्रूंरनपव्ययन्तः॥

घोड़े अपनी टापों से धूलि उड़ाते हुए और रथ के साथ वेग से जाते हुए हिनहिनाते हैं और हिंसक शत्रुओं को टापों से रौंद देते हैं।

रथ के रक्षकों का फोटो खींच दिया गया है। ये रथ-रक्षक शक्तिमान्, गंभीर, विचित्र सेना से युक्त, बाण-बल-संपन्न, वीर, महान् तथा अनेक शत्रुओं के जीतने में समर्थ थे।

स्वादुषंसदः पितरोवयोधाः कृच्छ्रेश्रिताः शक्तिवन्तो गभीराः।
चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतो वीरा उरवो व्रातसाहाः॥

—मंडल ६, सू० ७५, मंत्र ९

वीर जाति ही वीर देवों की कल्पना कर सकती है। ऋग्वेद के मंडल ५, सू० ५४, मंत्र ११ में मरुतों की कल्पना योद्धा के रूप में की गई है। मरुतों के स्कन्ध देश में आयुध, पाँवों में कटक, वक्षःस्थल पर हार, हाथ में अग्निदीप-रश्मियाँ तथा मस्तक पर शिरस्त्राण हैं। वे रथ पर आरूढ़ हैं।

अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे शुभः।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः शीर्षसु वितताः हिरण्ययीः॥

—ऋग्०, मं० ५, सू० ५४, मंत्र ११

जब वीर मरुत् पथ संचालित करते हैं, तब अप्रतिहत दीप्तिशाली स्वर्ग और समुज्ज्वल वारिराशि विचलित हो जाती है। —ऋग्०, मं० ५, ५४। १२

ऋग्वैदिक युग में समग्र आर्य-जाति संग्राम के लिए बद्धपरिकर रहती थी। वह चिन्तन भी सांग्रामिक शब्दों में करती थी। प्रार्थना भी सांग्रामिक भाषा में।

रामायण-साक्ष्य—रामायण-युग में सेना का उत्तरोत्तर विकास हुआ। सेना के सभी अंग पदाति, हय, हस्ती और रथ के प्रयोग इस युग में सम्यक् रूप से होते थे। सेना की सबसे बड़ी इकाई अक्षौहिणी काम में लाई जाती थी। रामायण में स्पष्टतः अक्षौहिणी उल्लिखित है।

इयमक्षौहिणी सेना यस्याहं पतिरीश्वरः।
अनया सहितो गत्वा योद्धाहं तैर्निशाचरः॥

—बालरामायण, बालकांड, २०। ३७

रामायण-युग में आर्यावर्त्त अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। प्रत्येक स्वतंत्र थे और प्रत्येक को स्वतंत्र सेना थी। काशी, कोसल, विदेह, कैकय, गांधार प्रभृति अनेक विश्रुत राज्य थे। महर्षि होने के पूर्व विश्वामित्र के पास भी चतुरंगिणी अक्षौहिणी थी।

इयमक्षौहिणी पूर्णा गजवाजिरथाकुला।
हस्तिध्वजसमाकीर्णा तेनासौ बलवत्तमः॥

—रामा० बालकांड, सर्ग ५५

हाथी, घोड़े, रथ, ध्वज से परिव्याप्त यह सेना थी।

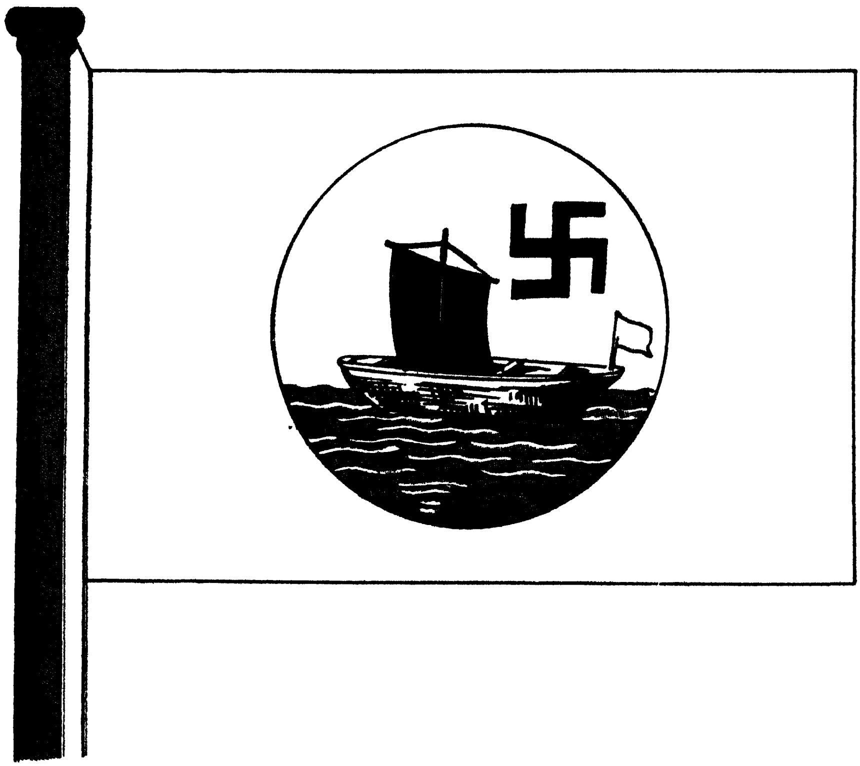
रामायणकालीन सेना का विस्तारपूर्वक वर्णन भरत की चित्रकूट-यात्रा में दिया गया है। भरत की अक्षौहिणी सेना में ९००० हाथी ६०००० रथ, विविध आयुध-धारी असंख्य धनुर्धर तथा एक लाख अश्वारोही सैनिक थे।

नवनाग-सहस्राणि कल्पितानि यथाविधि।
अन्वयुर्भरतं यान्तमिक्ष्वाकुकुलनन्दनम्॥
षष्ठीरथसहस्राणि धन्विनो विविधायुधाः।
... .
शतं सहस्राण्यश्वानां समारूढानि राघवम्।

—रामा०, अयोध्या०, सर्ग ८३, श्लोक २—४

हय, हस्ती, रथ तथा पदाति के अतिरिक्त सेना की सहायता के लिए अनेक दल थे—

(१) भूमिप्रदेशज्ञ दल।
(२) सूत्रकर्मविशारद दल।
(३) नाव-आदि यंत्र प्रस्तुत करनेवालों का दल।
(४) श्रमजीवी, यंत्रकोविद, मार्गरक्षक तथा वृक्ष-तक्षक दल।
(५) सूपकार दल।
(६) बाँस का बोकला छीलनेवाले तथा मार्गज्ञाता का दल।
(७) कुम्भकार दल, पक्षी पकड़नेवालों का दल।
(८) क्राकचिक, विशोचक, सुधाकार, कम्बलकार, स्नापक, उष्णोदक तैयार करनेवाला, धूपक, मद्यकार, धोबी, दर्जी, नट, कैवर्त्तक भी सेना के साथ थे।



स्वस्तिक झंडा

ततः स्वस्तिकविज्ञेयां पाण्डुकंबलसंवृताम् ।
सनन्दिघोषां कल्याणीं गुहो नावमुपाहरत् ॥
(रामा०, अयोध्या०, सर्ग—८९-१२)

शान्तिकालीन सेना के साथ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इन सब की अपेक्षा थी—

अथभूमिप्रदेशज्ञाः सूत्रकर्मविशारदाः ।
स्वकर्माभिरताः शूराः खनका यन्त्रकास्तदा ।।
कर्मान्तिकाः स्थपतयः पुरुषा यंत्रकोविदाः ।
तथा वार्द्धकयश्चैव मार्गिणो वृक्षतक्षकाः ।।
सूपकाराः सुधाकाराः वंशचर्मकृतस्तथा ।
समर्था ये च द्रष्टारः पुरतश्च प्रतस्थिरे ।।

—रामा०, अयोध्या०, सर्ग ८०, श्लो० १–३

सेना-प्रस्थान के पूर्व मार्ग ठीक करने के लिए, शिविर स्थापित करने के लिए, नदी पर पुल बाँधने के लिए दुर्ग निर्मित करने के लिए, मार्ग में अवरोध करनेवाले कूप-वापी को भरने के लिए, तथा निर्जल स्थलों में कूप-वापी तैयार करने के लिए उपर्युक्त सभी व्यक्ति भेजे गये थे। रथ के चलने योग्य बनाने के लिए इस दल ने विषम-स्थान को सम किया, गड्ढों को भर दिया, नदियों में पुल बाँध दिये, निर्जल स्थानों में कूप-वापी तैयार कर घाट बना दिये। कहीं-कहीं युक्ति से फूलदार पौधा लगा दिये। स्थान-स्थान पर पताकाएँ बाँध दीं। पड़ाव पर शिविर स्थापित कर दिये, शिविर के चारों ओर खाइयों से परिवेष्टित दुर्ग तैयार किये। उनपर झंडे फहराये गये। —अयोध्याकांड, सर्ग ८०, श्लो० ५–२०

रामायण-युग में तीन प्रकार की सभ्यताएँ देखने में आतीं थीं—आर्य-सभ्यता, राक्षसी सभ्यता तथा आर्येतर वानरी सभ्यता। राम, भरत, विश्वामित्र, अगस्त्य आदि आर्य-सभ्यता के प्रतिनिधि थे। उसी तरह रावण, खरदूषण राक्षसी सभ्यता के और सुग्रीव, बालि, जाम्बवान् वानरी सभ्यता के प्रतीक। प्रत्येक सभ्यता, संस्कृति के संरक्षक प्रतिनिधियों के पास संगठित सेनाएँ थीं।

राक्षसी सभ्यता दोनों सभ्यताओं से अस्त्र-शस्त्रादि के प्रयोग में बढ़ी-चढ़ी थी। अन्य दोनों सभ्यताओं को इसका लोहा मानना पड़ता था। आर्य-सभ्यता को समूल नष्ट करने के उद्देश्य से रावण ने मलद-करुष तथा जन-स्थान में दो बड़ी छावनियाँ रखी थीं। इन दोनों स्थलों में आर्य ऋषि, महर्षियों के बड़े-बड़े आश्रम थे, जहाँ रहकर विद्यार्थी सभी प्रकार की विद्याओं को प्राप्त करते थे। विश्वामित्र तथा अगस्त के आश्रमों में जब कभी अध्ययन, मनन-चिंतन, अनुसंधान यज्ञादि क्रियाओं के कार्य होने लगते थे, तब यह राक्षसी सेना विघ्न उपस्थित करती थी। इन राक्षसों का अधिक सम्बन्ध लंका के राजा रावण से था।

मलद-करुष देश में मारीच, सुबाहु तथा ताडका के अधीन रावणी सेना बक्सर से दक्षिण के वनों में स्थापित थी। इसी सेना की ओर विश्वामित्र का संकेत दशरथ के प्रति निम्नस्थ वाक्यों में हुआ था—

मारीचश्च सुबाहुश्च वीर्यवन्तौ सुशिक्षितौ। —रामा०, बालकांड, २०।५

युद्ध-कला में निपुण वीर्यवान् मारीच और सुबाहु के अधीन राक्षसी सेना मेरे यज्ञकर्म में बाधा पहुँचाती है।

मारीचश्च सुबाहुश्च च यज्ञविघ्नं करिष्यतः। —बालकांड, २१। १९

अक्षौहिण्याः प्रसंख्याता रथानां द्विजसत्तमाः ।
संख्यागणिततत्त्वज्ञः सहस्राण्येकविंशतिः ॥
शतान्युपरि चैवाष्टौ तथा भूयश्च सप्ततिः ॥५॥
गणानां च परिमाणमेतदेव विनिर्दिशेत् ।
ज्ञेयं शतसहस्रं तु सहस्राणि नवैव तु ॥
नराणामपि पञ्चाशच्छतानि त्रीणि चानघ ॥६॥

—महाभारत, आदि पर्व, अ० १।१६—२७

सेनामुख—पत्ति से सेनामुख में तिगुनी सेना होती थी, सेनामुख में गुल्म से तिगुनी, गुल्म से गण में तिगुनी, गण से वाहिनी में तिगुनी, वाहिनी से पृतना में तिगुनी, पृतना से चमू में तिगुनी, चमू से अनीकिनी में तिगुनी और अनीकिनी से अक्षौहिणी में दसगुनी सेना होती थी। उपर्युक्त तालिका से प्रत्येक टुकड़ी की संख्या का पता स्पष्ट रूप से चल गया होगा।

गुल्म—पुलिस का काम करता था। दो या तीन या पाँच गाँवों के संरक्षण का भार गुल्म पर रहता था। मनु के टीकाकार कुल्लूक भट्ट के अनुसार गुल्म दो, तीन या पाँच गाँवों की शांति और शासन में अपना योग प्रदान करता था। किसी-किसी का मत है कि तीन सौ से पाँच सौ गाँव गुल्म के संरक्षण में रहा करते थे—

द्वयोस्त्रयाणां पंचानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् । — मनु०, अ० ७, श्लोक ११४

राज्य की सारी सेना का दायित्व एक अमात्य पर रहता था—

अमात्ये दण्ड आयातः दण्डे वेनायिकी क्रिया ।
नृपतौ कोषराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ ॥—मनु०, अ० ७, श्लोक० ६५

साधारण शासन की सुविधा को ध्यान में रखते हुए मनु ने सेना के गुल्म-भाग के महत्त्व पर बड़ा बल दिया है।

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान् समन्ततः ।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥

—मनु०, अध्या० ७, श्लोक १६०

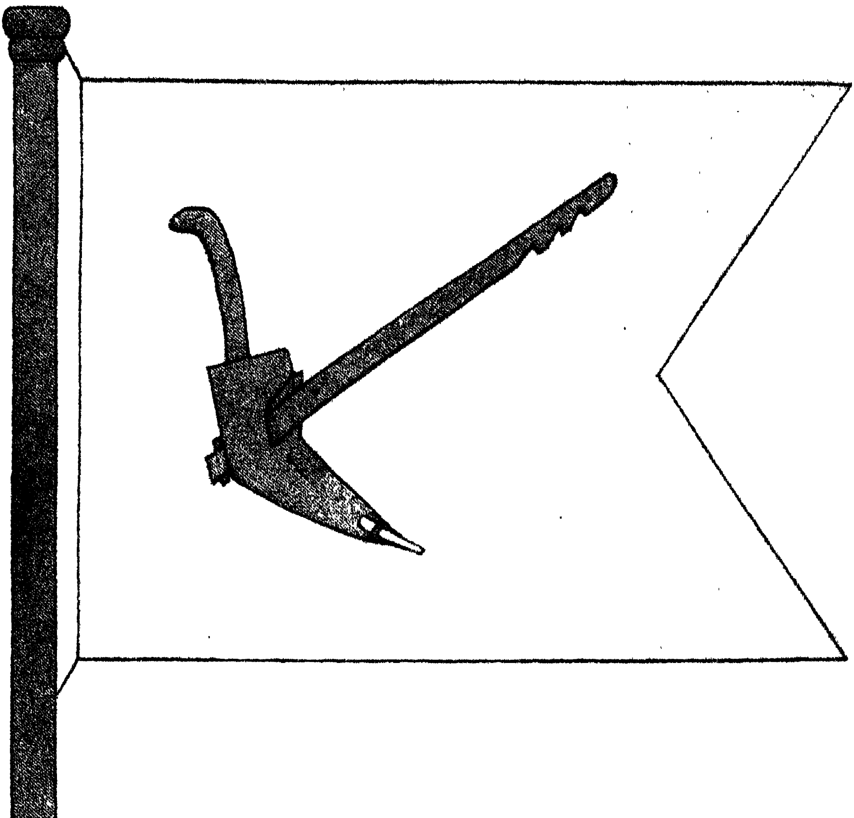
गुल्म विश्वासी अधिनायक की संरक्षा में रहता था। वह अधिनायक युद्ध के संकेतों का ज्ञाता, अपने स्थान पर स्थिर तथा युद्ध-कला में प्रवीण होता था। भागना और विश्वासघात उसकी प्रकृति के विरुद्ध बात थी।

गुल्म का प्रत्येक सैनिक युद्ध के संकेतों से परिचित था। लड़ना, अपसरण करना, अपने स्थान पर डटे रहना और प्रति इंच जमीन के लिए मर मिटना जानते थे। प्रत्येक गुल्म में धन्वन्तरि, तक्षक, और रणवादक होते थे।

पुरातन काल में प्रत्येक राज्य में छह प्रकार के दुर्ग बने रहते थे। वे इस प्रकार होते थे—
(१) धन्व-दुर्ग, (२) मही-दुर्ग, (३) जल-दुर्ग, (४) वृक्ष-दुर्ग, (५) नृ-दुर्ग और (६) गिरि दुर्ग।

—मनु० ७, श्लोक ७०

धन्व-दुर्ग रेगिस्तान के मध्य निर्मित होता था। मही-दुर्ग धरती के भीतरी भाग में बना रहता था। जल-दुर्ग पानी के बीच में बनता था। वृक्ष-दुर्ग तथा नृ-दुर्ग वृक्षों और मनुष्यों



मद्रराजस्य शल्यस्य ध्वजाग्रेऽग्नि शिखामिव।
सौवर्णीं प्रतिपश्याम सीतामप्रतिमां शुभाम्॥
—महा० द्रोण १०५,१८

के बीच में होता था और गिरि-दुर्ग पर्वत पर बने रहते थे। इन दुर्गों में अस्त्र-शस्त्र, धान्य, सवारी, कारीगर, घास तथा जल का रहना परमावश्यक था। —मनु० श्लोक० ७४, ७५

प्रत्येक दुर्ग खाई तथा प्राकार से परिवेष्टित रहता था। प्रत्येक दुर्ग में सेना की टुकड़ी आवश्यकतानुसार स्थापित रहती थी।

राजा का राज्य गाँवों में विभक्त था। प्रत्येक गाँव में एक मुखिया रहता था। वह ग्रामाधिपति कहलाता था। दस-गाँवों का मुखिया 'दशेश' कहलाता था बीस गाँवों का मुखिया 'विंशतीश' सौ गाँवों का 'शतेश' तथा सहस्र गाँवों का मुखिया 'सहस्रपति' नाम से सम्बोधित होता था। —मनु० अ०, ७ श्लोक ११५

यदि किसी गाँव में चोरी आदि कुकर्म होते थे और यदि उस गाँव का मुखिया प्रतिकार करने में अपने को असमर्थ पाता, तो वह अपने से ऊपर 'दशग्रामाधिपति' से अपील करता। एवं एक संस्था दूसरे से संबद्ध होती थी। प्रत्येक संस्था की सहायता के लिए सेना के गुल्मादि थे। —मनु० अ० ७, श्लोक ११५, ११७, ११६

पुरातन काल में कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल तथा शूरसेन के युवक सैनिक पद के लिए योग्य समझे जाते थे। --मनु० अ० ७, श्लोक १६७

मालव, मगध और अंग भी वीरप्रसू भूमिवाले थे।

सेना के लिए लम्बे और नाटे दोनों प्रकार के सैनिक अपेक्ष्य थे।

—मनु०, अ० ७, श्लोक १६३

गांधार, सिन्धु-सौवीर, प्राच्य (मागध) बड़े शूरवीर होते हैं। मागधों की विशेषता मातंग-युद्ध में थी। यवन, काम्भोज, मथुरावासी अश्वयुद्ध में निपुण होते थे। दाक्षिणात्य ढाल तलवार में कुशल होते थे। आवन्तिक तथा मालव भी बड़े योद्धा होते थे।

—महाभारत, शांतिपर्व, अ० १०१

सैनिक के लिए कहा गया है कि जिस सैनिक के नेत्र सिंह या व्याघ्र के सदृश हों, गति भी उन्हीं पशुओं की-सी हो, गर्जन भी उन्हीं के समान हों और पारावत तथा सर्प की-सी आँखें हों, वे प्रामाणिक शूर होते हैं। जिन वीरों के निनाद मृगया-किंकिणी की ध्वनि-से हों, नेत्र हाथी तथा वृषभ-से हों, वे बड़े कोपशील तथा मन्द्र होते हैं। क्रूरमुख, मेघस्वन, टेढ़ी नाक तथा जीभवाले आक्रमण करने में बड़े तेज होते हैं। विडाल के ऐसे कुब्ज, छोटे केशवाले, स्तब्धाक्ष, शीघ्रगामी और चपलचित्त सैनिक दुरासद होते हैं। सुसंहत, प्रतनु, व्यूढोरस्क, और सुसंस्थित सैनिक कलहप्रिय होते हैं। गंभीराक्ष, निसृष्टाक्ष, पिंगाक्ष, शरीर की परवा नहीं करनेवाले तथा मर मिटनेवाले सैनिक योद्धा होते हैं। ऊँचे कंधेवाले, लम्बी गर्दनवाले और स्थूल-पिण्डक सैनिक विकट और वीर होते हैं। —महाभारत, शांतिपर्व, अ० १०१

पुरातन भारत में सेना में भर्ती होनेवाले व्यक्ति की ऊँचाई, छाती की चौड़ाई, आँखों की बनावट, कंधे, दाँत, गर्दन आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता था। सेनापति की नियुक्ति विशेष गुणों के कारण होती थी।

विमुक्तक विजयोगी मतः सेनापतिमम।

महाभारत के उद्योग-पर्व अध्याय १५१ में सेनापति में अनेक गुणों का होना आवश्यक समझा गया है। वह शस्त्र-संचालन में फुर्तीला, विविध प्रकार के संग्राम-कौशल में निपुण, सिंह के सदृश पराक्रमवाला, महाद्युति-सम्पन्न, सुदंष्ट्र, (दाँत सुन्दर, स्वच्छ और दृढ़ हों), सुहनु, सुबाहु, सुमुख, अकृश, (हृष्ट-पुष्ट), विशालाक्ष, सुपाद, सभी शास्त्रों तथा शस्त्र-विज्ञान का पंडित, सत्यवादी और जितेन्द्रिय हो। —महाभारत, उद्योग-पर्व १५१

प्रत्येक समृद्ध राष्ट्र का इतिहास यही बताता है कि सफल सेनापति में शारीरिक शक्ति की अपेक्षा नैतिक बल का आधिक्य रहता है। उदाहरण के तौर पर—कुब्ज विश्वविश्रुत लक्सेमबर्ग (Luxemburg), क्षुद्रकाय तथा दुर्बल यूजीन (Eugene), पंगु तैमूर, एकाक्ष रणजीत सिंह, नाटे शिवाजी और नेपोलियन पाशविक शक्ति की अपेक्षा अपरिमेय नैतिक बल रखते थे। आजकल वैज्ञानिक शस्त्रों के विकास के साथ युद्ध-कला का नैतिक पहलू और भी प्रवृद्ध हो गया है। वीर नेपोलियन सदैव कहा करता था—रणक्षेत्र में एक मन शारीरिक बल और तीन मन नैतिक बल अपेक्ष्य हैं। महाभारत में सैनिक तथा सेनापति के लिए नैतिक बल अति आवश्यक समझा गया है। प्रायः सभी भारतीय वाङ्मय इसपर जोर देते हैं। गत यूरोपीय महायुद्ध में जर्मनी की हार नैतिक बल के अभाव के कारण हुई। जर्मनों की दृष्टि में राष्ट्रीय जीवन का अर्थ ही जीवन-संग्राम था। वे संग्राम इसलिए छेड़े हुए थे कि दूसरे राष्ट्र के ध्वंस पर उनका राष्ट्र निर्मित हो।

प्राचीन तथा अर्वाचीन युगों में दोनों प्रकार के युद्ध हुए हैं—धर्मयुद्ध और अधर्मयुद्ध। पर, प्रत्येक युद्ध के अन्तराल में आत्म-रक्षा, भूलिप्सा, स्वार्थपरता, कष्टसहिष्णुता और घृणा की भावनाएँ काम करती हैं।

डाक्टर 'फिट्ज़लर्ड' का कहना है कि प्राकृत झंझावात, भूकंप, ज्वालामुखी तथा प्रलयंकर तूफ़ान की भाँति युद्ध प्राकृतिक घटना है। विश्व में संभवतः कोई ऐसा राष्ट्र नहीं है, जिसमें आत्म-संरक्षण की प्रवृत्ति न हो। कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जो स्वभावतः प्रतिहिंसात्मक वृत्ति वन्य पशुओं की भाँति रखती हैं और दूसरे राष्ट्रों पर हमला करने में ही उन्हें आनन्द मिलता है। जहाँ इस प्रकार के दो राज्य होंगे, वहाँ संग्राम छिड़ने में देर न होगी। युद्ध करनेवाले स्वयं नहीं कह सकते कि वे क्यों युद्ध ठान रहे हैं। वस्तुतः जनता ही युद्ध छेड़ती है। यदि जन-वर्ग युद्ध नहीं करना चाहे; तो उसे कोई भी शासन-यंत्र युद्ध करने के लिए विवश नहीं कर सकता। किन्तु, कोई-कोई शासन-यंत्र युद्धोन्मुख कराने के लिए जन-वर्ग में धीरे-धीरे युद्धाग्नि सुलगाते हैं तथा भड़काते हैं।

राम-रावण-युद्ध, कौरव-पाण्डव-युद्ध, गत यूरोपीय युद्ध सभी जनता की प्रतिहिंसात्मक वृत्तियों की अभिव्यक्ति हैं। सैनिक और सेनापति समरीकरण में निमित्त कारण हैं। युद्ध में सफलता के लिए सैनिकों के और सेनापतियों के गुणों पर अधिक जोर भारतीय प्राचीन ग्रंथों में दिया गया है। नाविक के बिना नाव और सारथि के बिना रथ जैसे व्यर्थ हैं, वैसे ही सेनापति के बिना सेना व्यर्थ है—

यथा ह्यकर्णधारा नौ रथश्चासारथिर्यथा।
द्रवेद् यथेष्टं तद्वत् स्याद्दते सेनापतिं बलम्॥

—महा०, द्रोण०, अ० ५।२८

सेनापति को शस्त्रों में श्रेष्ठ, बुद्धि में बृहस्पति-सा, क्षमा में पृथ्वी-सा, गांभीर्य में समुद्र-सा, स्थिरता में हिमवान्-सा, उदारता में प्रजापति-सा और तेज में भास्कर के सदृश होना चाहिए। इसके अतिरिक्त सेनापति में विविध प्रकार के व्यूह-निर्माण की योग्यता, यात्रा, यान-चालन, युद्ध और प्रशमन की पूर्ण निपुणता होनी चाहिए।

यात्रा याने च युद्धे च तथा प्रशमनेषु च।
भृशं वेद महाराज यथा वेद बृहस्पतिः॥

—महा०, भीष्म०, अ० १६५-८६

महाभारतकालीन सेनाएँ—महाभारत-युग में भारत अनेक स्वतंत्र राज्यों में विभक्त था। उनमें मगध, काशी, विदेह, अंग, कोसल, पांचाल, गांधार, काम्बोज, अवन्ति (मालव), चेदी, सिंधु, द्वारका, कुरु आदि प्रसिद्ध थे। इनमें मगध, कुरु आदि साम्राज्य के रूप में परिणत हो गये थे। प्रत्येक राज्य को आधुनिक यूरोपीय राष्ट्रों की भाँति अपनी सेना थी। इस युग में कौरव, यादव, पांचाल, जरासंध, शिशुपाल और मत्स्यराज की सेनाओं का पूरा विवरण मिलता है। महाभारत छिड़ने के समय कुरुक्षेत्र में अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ इकट्ठी हुई थीं—सात पांडवों की ओर से और ग्यारह कौरवों की ओर से लड़ी थीं।

पांडवों की सातो अक्षौहिणी-सेना के सेनापति द्रुपद, विराट्, धृष्टद्युम्न, शिखंडी, सात्यकि, चेकितान और भीमसेन थे। प्रत्येक सेनापति अक्षौहिणीपति कहलाता था। अर्जुन सेनापति-पति थे।

प्रत्येक सेना में घोड़े, हाथी, रथ तथा पैदल सैनिक थे। मनु के अनुसार रथों तथा घोड़ों से समतलभूमि पर युद्ध किया जाना विशेष फलप्रद है। जलपोत तथा हाथी द्वारा जल में युद्ध करना श्रेयस्कर माना गया है। 'मेधातिथि' का मत है कि अथाह जल में केवल जलपोत ही से लड़ाई करनी चाहिए और अल्पोदक में हाथियों से एवं जहाँ वृक्ष तथा लताओं से घिरी भूमि हो, वहाँ तीर-धनुष से ही युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिए। तलवार, ढाल तथा इस प्रकार के अन्य आयुधों से वहीं लड़ना श्रेयस्कर है, जहाँ किसी प्रकार के प्राकृत प्रत्यूह न हों अर्थात् जगह खुली हो।

स्यन्दनाश्वैः समे युद्ध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले॥

—मनु०, अ० ७, श्लोक १६२

अल्पोदके हस्तिभिः अगाधोदके च नौभिः। —मेधातिथि

कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी हस्ती के सांग्रामिक प्रयोग के संबंध में निर्देश है। उष्ण देश में हस्तिदल से काम नहीं लेना चाहिए। हाथी के लिए जल अति आवश्यक है। वह जल अधिक पीता है तथा स्नान पसंद करता है। जल के अभाव में उसकी फुर्ती और तेजी जाती रहती है। जिस देश में पानी की प्रचुरता हो या पावस ऋतु में संग्राम छेड़ना हो, तो संग्राम में हाथी से काम लेना चाहिए। —कौटिल्य अर्थशास्त्र, खंड ६, अ० १, संख्या ४०

समतलभूमि में घोड़े तथा रथ से काम लेने को कहा गया है। इनसे भागना और खदेड़ना ये दो कार्य आसानी से होते हैं। पराभूत शत्रु को खदेड़ मारना विजय का वास्तविक रूप है। सेना का सर्वोत्कृष्ट प्रयत्न हारे हुए शत्रु को दूर तक भगा देना ही है। यह काम अश्वारोही

सेना या रथारूढ सेना ही कर सकती है। शाही सेना यदि संकटापन्न स्थिति में हो, तो अश्वारोही सेना ही शत्रु-दल को छिन्न-भिन्न कर देती है।

युद्ध में सफलता सांग्रामिक कौशल पर ही निर्भर करती है। लड़ाकू दल को युद्ध-स्थल के ऊँचे भाग को अधीन करना चाहिए। यदि युद्ध समतलभूमि पर हो, तो भी हाथी, रथ तथा घोड़े पर सवार हो शत्रु-दल का निरीक्षण करना चाहिए। ऊँचे स्थल से आसानी से शत्रु पर अस्त्र चला कर उसकी गति अवरुद्ध कर दी जा सकती है। पुनः ऊँची जगह पर जो सेना स्थित है, वह यदि नीचे आक्रमण करना चाहे तो वेगवती गति से वह आक्रमण करती है। नीचे से ऊपर चढ़ने में नाक में दम आ जाता है। युद्ध के इसी सिद्धांत पर हवाई जहाज की उपयोगिता अवलंबित है।

युद्ध का दूसरा कौशल अधिक संख्या में सैनिक उपस्थित करना है। रामायण-काल में राम ने दस करोड़ की वानरी सेना संगठित की और कौरवों ने ग्यारह अक्षौहिणी की। इसका एकमात्र उद्देश्य शत्रु के हृदय को प्रकंपित करना और उसके नैतिक बल को कम करना है; पर अनुभव और इतिहास साक्षी है कि अधिक संख्या में सेना का एकत्रीकरण विजय का प्रधान कारण नहीं समझा जा सकता। ऋग्वैदिक युग में दस राजाओं ने 'सुदास' पर आक्रमण किया, कौरवों ने ग्यारह अक्षौहिणी लेकर संग्राम किया, सिराजुद्दौला ने अस्सी हजार की सेना से पलासी के युद्ध में केवल तीन हजार ब्रिटिश तथा ग्यारह हजार देशी सैनिकों के सेनापति क्लाइव से लड़ा; पर अधिक सेनावाले ही पराजित हुए। गत यूरोपीय युद्ध में सेनानी बेवेल के चुने हुए कतिपय सैनिकों ने चार हजार इटालियनों को कैद कर लिया। विराट् राजा के राज्य में अकेले महारथी अर्जुन ने चुने हुए कौरव वीरों को परास्त कर उनके तन पर से वस्त्र और दुर्योधन का मुकुट तक उतरवा लिये। दंडकारण्य में एकाकी धनुर्धर राम ने खर-दूषण के चौदह-सहस्र सैनिकों को मारकर विजयश्री प्राप्त की थी। अतः विजय के प्रधान साधन नीतिपूर्ण युद्ध-कौशल, अनुशासन, सैनिकों का मर-मिटने वाला अमित-साहस, नवीन और अमोघ अस्त्र-शस्त्र, उद्देश्य की पवित्रता आदि हैं। शत्रु से छिपा रहना और सहसा उस पर धावा बोल देना विजय की कुंजी है। गत यूरोपियन युद्ध में डेनमार्क पर जर्मनों ने इसी युद्ध-कुशलता से सफलता प्राप्त की थी। औरंगजेब के सेनापति शाइस्ता खाँ पर शिवाजी का आकस्मिक आक्रमण तथा मत्स्यराज्य में विशाल कौरवी पृतना पर धनंजय की चढ़ाई ऐसी ही युद्ध-कुशलता के उदाहरण हैं।

संग्राम पाशविक शक्ति का निरा प्रदर्शन नहीं है, वरन् नैतिक शक्ति की अभिव्यक्ति है। संग्राम वीरता, पराक्रम, सहिष्णुता, धीरता, सत्यवादिता, अध्यवसाय, आत्मत्याग आदि का इतिहास है। अपरिमेय शक्तिशाली तथा दिव्यास्त्रों से युक्त ब्रिटिश-शक्ति पर महात्मा गांधी का विजय प्राप्त करना भी सांग्रामिक नैतिक बल का बेजोड़ निदर्शन है।

भारतीय संग्राम-शास्त्र के पंडितों का आदेश है कि पदाति-दल किसी भी रणभूमि पर लड़ सकता है। मेरी दृष्टि में पदाति-सेना भारतीय-सेना का मेरुदंड थी। अश्व-सेना को भी तीर की मार से वह बेकाम कर देती थी। पद-सैनिक का निशाना अचूक होता है। वह घोड़े की शरीर-संधियों पर तीव्र प्रहार कर उन्हें बेकाम कर देता है। आज के वैज्ञानिक युद्ध में भी Anti-air-craft gun पदाति के द्वारा ही संचालित होता है। राम की पद-सेना ने ही

रावण की दिव्यास्त्रों से सुसज्जित सेना को परास्त किया था। स्पेन का गत गृह-युद्ध में तथा जर्मनी का पोलैंड-संग्राम में पदाति-दल के सहारे ही आधिपत्य स्थापित हुआ था।

अँगरेज तथा फ्रांसीसी बायोनेट का दंभ भरते हैं। पर, सन् १८०१ ई० में मिस्र देश में जब बारूद शेष हो गई, गोले चूक गये, तब पत्थरों के द्वारा ही संग्राम हुआ। रूसी तथा जापानी युद्ध में भी, बीसवीं शती के प्रारंभ में, पत्थरों का ही प्रयोग हुआ। सर्वत्र पद-सेना ही सफलता का कारण हुई।

सेना की परिभाषा—संग्राम के लिए अधिक मनुष्यों की सशस्त्र संगठित जमात को सेना कहते हैं। सेना के संबंध में अँगरेजी दृष्टिकोण यही है। सेना का जर्मन दृष्टिकोण इससे भिन्न है। किसी राज्य के अधीन समग्र सशस्त्र प्रशिक्षित सैनिकों की जमात सेना है।

ऋग्वैदिक युग में समग्र आर्य-जाति संग्राम के लिए सन्नद्ध रहती थी। परवर्त्ती युगों में युद्ध के लिए मनुष्यों का एक वर्ग तैयार किया जाता था। वह वर्ग राजन्य तथा ब्राह्मण-वर्ग से अधिक संबंध रखता था। आर्येतर जातियों में भी (राक्षसों तथा अनार्यों में) सेनाएँ थीं, पर राक्षसी सेना में वर्ग-भेद का प्रश्न नहीं था।

प्राचीन भारतीय सेना पुरातन पारस, ग्रीस, तथा रोम-साम्राज्य की सेनाओं से अधिक विकसित थी। उदाहरण के लिए पारसिक साईरस की सेना लीजिए। यह सेना दो भागों में विभक्त थी। एक भाग दुर्ग में रहता था और दूसरा सारे राज्य में बिखरा रहता था। प्रत्येक प्रांत में प्रांतीय सेना पर एक अधिनायक रहता था। वह प्रांत के प्रत्येक भाग में स्थित सेना की संख्या तथा योग्यता पर ध्यान रखता था। प्रांतपाल ही सेना का वेतन और भोजनादि चलाता था। —इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, सैनिक खंड

प्राचीन रोम-वासियों की सेना लिजन (Legion) कहलाती थी। एक लिजन में ३०० घोड़े, ३०००० गुरु-पदाति (Heavy infantry) तथा १२०० लघु-पदाति सैनिक रहते थे। भारतीय अश्व-दल की भाँति रोमन अश्व-दल शत्रुओं में आतंक पैदा करता था। पदाति तथा अश्वारोही सैन्य ही रोमन-सेना के प्रमुख अवयव थे। —इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका

भारतीय सैन्य-संगठन की विशेषता—(१) भारतीय सैन्य का वैज्ञानिक ढंग पर विकास ऊपर वर्णित हो चुका है। भारतीय सैन्य-संगठन में युद्ध-कौशल तथा सैनिक अनुशासन का दृष्टिकोण प्रधान था। राम-रावण-संग्राम में जब रक्षोराज रावण रथारूढ होकर राम के सैनिकों पर दिव्यास्त्रों का प्रयोग करने लगा, तब राम की सेना के पाँव उखड़ गये। राम की चिन्ताजनक अवस्था देखकर इन्द्र ने रथ के साथ युद्धकुशल अपने सारथि मातलि को राम की सहायता के लिए भेजा था। कुरुक्षेत्र के रणांगण में द्रोण के पराक्रम के सामने पाण्डवी सेना विकल हो गई। उस समय कृष्ण के संकेत पर—'अश्वत्थामा मारा गया' ऐसा मिथ्या प्रचार किया गया, जिससे शत्रु पर विजय प्राप्त करने में कामयाबी मिली।

(२) पारस्परिक सैनिक सहायता से तथा सम्मिलित रूप में अनेक राज्यों के शत्रु के विरुद्ध लड़ने की भावना यूरोप में १९ वीं शती में सजग हुई। पर, भारत में इस भावना की प्रबलता ऋग्वैदिक काल में ही दीख पड़ती है। महाकाव्य-युग में तो यह भावना पराकाष्ठा पर पहुँच

गई थी। विराट्, द्रुपद, मगध आदि का पाण्डवों से मिलकर कौरव-राज के विरुद्ध खड़ा होना, इस भावना का ज्वलन्त उदाहरण है। सुदास के विरुद्ध दस राजाओं का संग्राम छेड़ना तथा वानरों का राम से मिलकर रावण से लोहा लेना, इसी सांग्रामिक कौशल के प्रतीक हैं।

(३) भारतीय सैन्य-कर्म कला के रूप में परिगृहीत हुआ था और भारतीयों का एक सुदृढ़ और संगठित वर्ग इसी व्यवसाय में अपना जीवन-यापन करने लगा।

(४) भारत के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों ने प्रत्येक राज्य में संगठित सेना का उद्रेक किया।

(५) सेना में Corps (कोर) और Colour (कलर) का सूत्रपात यूरोप में सम्राट् Maximiliar ने किया। कोर और कलर सेना-विभाजन की निश्चित प्रणाली पर स्थिर हुई थीं। कलर में ४०० सैनिक रहते थे, पर कोर की संख्या विभिन्न होती थी। किसी-किसी कोर में १२००० सैनिक होते थे। पर, महाभारत-युग में पत्ति, सेनामुख, गुल्म आदि संग्राम में प्रयुक्त हो रहे थे।

पश्चिमी देशों में सैन्य-विभाजन-प्रणाली ने ही आधुनिक सैनिक-आचार का जन्म दिया था। पर, सैनिक-आचार के संबंध में मनु, कौटिल्य, शुक्र, कामन्दक, रामायणकार और महाभारतकार ने इतना लिखा है कि एक बृहत् पुस्तक तैयार हो सकती है। भारतीय सैनिकों के आचार के संबंध में एक पृथक् अध्याय इस संग्रह में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ यह कहना अलम् है कि समाज में सैनिकों को मर्यादा का स्थान प्राप्त था। कृष्ण, भीष्म, द्रोण एकलव्य, हनुमान् सभी समादर की दृष्टि से देखे जाते हैं। ऐतिहासिक काल के भी चन्द्रगुप्त मौर्य, समुद्रगुप्त, हर्षवर्द्धन, पृथ्वीराज, राणा प्रताप, शिवाजी, गोविन्दसिंह आदि सभी आदरणीय हैं।

सैन्य-संगठन की पृष्ठभूमि—

सुदृढ़ सेना के संगठन के लिए निम्नस्थ बातें अपेक्ष्य हैं—

(१) देश की आर्थिक स्थिति का सुदृढ़ होना।

(२) देश की मानसिक शक्ति का पूर्ण विकसित होना।

(३) देश में मानव-शक्ति (Man-power) का पर्याप्त होना। जिस राज्य की आबादी कम होगी, वह सुदृढ़ सेना संगठित नहीं कर सकता। यदि करे भी, तो चिरकाल तक टिक नहीं सकता।

(४) आयुधादि के निर्माण के लिए लोहा, ताँबा, सोना, आदि धातुओं की सुलभता।

हमारी धारणा है कि ऋग्वैदिक युग में भी भारत को अनेक सांग्रामिक सुविधाएँ उपलब्ध थीं। तभी रथ, घोड़े, हाथी से समन्वित सेना की स्पष्ट झाँकी हमें ऋचाओं में मिलती है।

सेना का अनेक टुकड़ियों में बँटा रहना आधुनिक सैन्य-संगठन है। यूरोप में १८वीं शती के पूर्व सेना का वैज्ञानिक विभाजन न था। सन् १८०५–६ ई० में नेपोलियन की सेना तीन भागों में विभक्त थी। ब्रिगेड, डिवीजन तथा कोर। प्रत्येक में पदाति-दल, अश्वदल और Artillery दल रहता था। बीसवीं शती में वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों के संचालन तथा प्रयोग के लिए इंजीनियरों का दल भी सेना का एक भाग बन गया।

प्रत्येक देश में सेना संगठित करने के ढंग भिन्न-भिन्न होते हैं। ग्रेट-ब्रिटेन में स्वेच्छ सेना (Voluntary) रखी जाती है। जर्मनी में कांसक्रिप्ट (Conscript) तथा स्वीटजरलैंड

में मिलिशिया (Militia) कहलाती है। जब युद्ध छिड़ जाता है या छिड़ने पर होता है, तब सैनिक-अवस्था के सभी मनुष्य भर्ती होने के लिए बाध्य होते हैं। वे थोड़े समय तक प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं और युद्ध-काल भर सहायता पहुँचाते हैं। कांसक्रिप्ट के द्वारा देश के समर्थ जन-समुदाय में से चुनकर सैनिक नियुक्त होते हैं। यदि समृद्ध व्यक्ति युद्ध के लिए सैनिक नहीं बनना चाहता, तो वह अपने बदले में असमृद्ध परिवार में से एक बलवान् आदमी को खरीदकर प्रदान करता है। जर्मनी में स्थायी सेना तैयार की जाती थी। स्वीटजरलैंड में सारा राष्ट्र ही सैनिक शिक्षा प्राप्त करता है, और मौके पर सारा राष्ट्र ही सैनिक बन जाता है।

प्राचीन भारत में संग्राम-शास्त्र में बताये सैनिक-लक्षणों के आधार पर सैनिक लिये जाते थे और उनकी शिक्षा की पूरी व्यवस्था की जाती थी। भारतीय सैनिक शरीर से बलवान् और प्रौढ़ होते थे। उनके पाँव सुदृढ़ होते थे जिससे बड़ी तीव्रता से युद्ध-प्रयाण करते थे। उनकी आँखें तीव्र और पैनी होती थीं, जिनसे बात-की-बात में परिस्थति की जानकारी प्राप्त कर लेते थे। इस दिशा में पर्याप्त प्रकाश ऊपर डाला गया है।

भारतीय सैन्य में छह प्रकार के सैनिक होते थे—

(१) मौल—वंश-परंपरागत सैनिक।

(२) भृत्य—वेतन पर नियुक्त किये गये सैनिक।

(३) सुहृद्—मित्रराज्य के सैनिक।

(४) श्रेणी—सैनिकों की श्रेणी स्वीटजरलैंड के सदृश तैयार की जाती थी।

(५) द्विषत्—शत्रुदल के आये हुए सैनिक, जिनपर विश्वास किया जाता था।

(६) आटविक—जंगलों में निवास करनेवाले या जंगली भूमि के जानकार सैनिक।

बसाढ़-मुद्रा-साक्ष्य—बसाढ़-मुद्राओं में अनेक पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है। जिनके नाम इस प्रकार है—

(१) उपरिक, (२) महाप्रतिहार, (३) महादंडनायक, (४) विनयस्थिति-स्थापक, (५) भट्टाश्वपति, (६) रणभाण्डागाराधिकरण—(युद्ध-कोषाध्यक्ष का कार्यालय) (७) बलाधिकरण—(प्रधान सैन्य-कार्यालय) और (८) चंडपाशाधिकरण—(पुलिस प्रमुख का कार्यालय)।

रथ-सेना के पदाधिकारी—जिस प्रकार पदाति-दल, हय-दल और अश्व-दल में सैनिक पद थे, उसी प्रकार रथयुद्ध में कुशलता की मात्रा से रथ-सेना में भी अनेक निम्नलिखित पद थे—रथोदार, रथ, अतिरथ, अर्द्धरथ, महारथ, रथयूथपयूथप।

कौरव-दल में भीष्म अतिरथ थे; कर्ण अर्द्धरथ; अश्वत्थामा महारथ, कृप, भूरिश्रवा और द्रोण रथयूथपयूथप; वाह्लीक, मत्स्यराज शल्य अतिरथ। पाण्डव-सेना में युधिष्ठिर रथोदार, उत्तर रथोदार; अभिमन्यु, सात्यकि और अर्जुन रथयूथपयूथप; विराट् और द्रुपद महारथ तथा धृष्टद्युम्न अतिरथ कहलाते थे। रथयूथपयूथप सबसे बड़ा पद था। उसके बाद महारथ, उससे थोड़ा कम या उसी के समकक्ष अतिरथ, उसके बाद अर्द्धरथ, और सबसे छोटा पद रथोदार था।

प्राचीन भारतीय सैन्य का संक्षिप्त विवरण—

(१) डाइडोरस (Diodoros), जिसने सिकन्दर की भारतीय चढ़ाई का वर्णन किया है, पोरस की सेना का लेखा ५० हजार पदाति दल, तीन हजार घोड़े, एक हजार रथ तथा १३० हाथी के रूप में देता है।

(२) शिबियों की सेना-शक्ति के सम्बन्ध में Vogel के शिलालेख में, (Shorkot-inscription) उल्लेख है। इसे शिविपुर कहते हैं। सिकन्दर की चढ़ाई के समय इस जन-जाति को ४० हजार पदाति-दल प्राप्त थे।

(३) Agalassoi के पास ४० हजार पदाति-दल तथा तीन हजार घोड़े थे।

(४) मालव (Malloi) के पास ६० हजार पदाति-दल, १० हजार घोड़े तथा ६०० रथ थे।

श्री भांडारकर इंडियन ऐण्टीक्वीटी (Indian Antiquity) सन् १६१३ ई०, पृ० २०० में लिखते हैं कि पाणिनि के लेखानुसार युद्ध ही मालवों की जीविका था।

(५) अम्बष्ठों (Ambasthas) के पास ६० हजार पदाति-दल, ६ हजार घोड़े और ५०० रथ थे।

सिकन्दर की चढ़ाई के समय भारत बीस राज्यों में बँटा था। मगध के नन्दों ने इन राज्यों को वश में करने की चेष्टा की थी।

(६) प्लुटार्क (Plutarch) के अनुसार नन्द-सम्राट् ने सिकंदर से लड़ने के लिए ८० हजार घोड़े, २ लाख पदाति, ८ हजार रथ तथा ६ हजार हाथी तैयार कर रखा था।

(७) जष्टिन (Justin) कहता है कि चन्द्रगुप्त ने मैसिडोनियन शासन-यंत्र के अधीन असंतुष्ट भारतीय सैनिकों का संगठन कर सिकन्दर के सेनानी सेल्युकस को भारत से मार भगाया। —जष्टिन-वाटसन-संस्करण—Watson's Edition

प्लुटार्क के कथनानुसार चन्द्रगुप्त की सेना ६ लाख सैनिकों की थी।

—Invasion of Alexander by Diodoros

(८) प्लिनी (Pliny) का कथन है कि कलिंगराज के ६० हजार पदाति, एक हजार अश्वारोही सैनिक तथा ७०० हाथी सदा युद्ध के लिए सन्नद्ध रहते थे। अशोक से युद्ध करने के कारण उनकी २५०००० सेना शेष हो गई थी।—इंडियन ऐंटीक्वीटी, १८७७ ई०, पृ० ३३६

(९) प्लिनी के कथनानुसार आन्ध्रों के ३० नगर ऐसे थे जो दीवारों से परिवेष्टित थे। उनके पास एक लाख पैदल, दो हजार अश्वारोही और एक हजार हाथी थे।

—इंडियन ऐंटीक्वटी, १८७७ ई० पृ० ३३६

(१०) रीज डेविड (Rhys Davids) के अनुसार मौर्य-सेना की शक्ति साठ हजार पदातियों, तीस हजार अश्वारोहियों और आठ हजार हाथियों की थी। प्लिनी ने पदाति की संख्या ६ लाख बताई है और हाथियों की संख्या ९ हजार। रीज डेविड छह लाख को साठ हजार बताते हैं।

राजतरंगिणी-साक्ष्य—राजतरंगिणी-युग तक भारतीय-सेना की संगठन-परंपरा प्रायः ज्यों-की-त्यों बनी हुई थी। पृतना, वाहिनी, पत्ति का व्यवहार युद्ध में होता रहा।

तत्सेना नरनाथानां पृतनाभिः पदे पदे।

—राजतरंगिणी, तरंग ५, श्लोक १४०

इसी तरंग के १४१ वें श्लोक में वाहिनी और १४३ वें में पत्ति का उल्लेख हुआ है। अवन्तिवर्मा के पुत्र शंकरवर्मा के पदाति-दल में ९ लाख सैनिक, ३०० हाथी तथा अश्व-दल में एक लाख अश्व थे।

लक्षाणि नव पत्तीनां वारणानां शतत्रयी।
लक्षं च वाजिनामासीद् यस्य सेना पुरःसरम् ॥
—राजतरंगिणी, तरंग ५, श्लोक १४३

खारोष्ट्री-शिलालेख-संख्या ३६ के अनुसार सिथियन-युग में सेना के अधिकारियों के भिन्न-भिन्न ओहदे थे—(१) महासेनापति, (२) दंडनायक, (३) महादंडनायक, (४) सेनागोप, (५) गौल्मिक, (६) आरक्षाधिकृत्, (८) अश्ववारक। 'असवार' इसी अश्ववारक का अपभ्रंश है।

भारतीय-सैन्य के ह्रास या पतन पर एक विहंगम-दृष्टि—ऋग्वैदिक युग से लेकर राज-तरंगिणी-काल तक भारत में चतुरंगिणी सेना का अस्तित्व संगठित रूप में था। भारतीय सैनिकों का उल्लेख देशी और विदेशी इतिहास-पृष्ठों में मिलते हैं। मुसलमानी राज्य के प्रतिष्ठित हो जाने पर भारतीय सैन्य का पता पाना बहुत कठिन हो गया। यत्र-तत्र देशी राजाओं की छत्रच्छाया में यदा-कदा सेनाएँ इकट्ठी होती थीं और मुसलमानों के अत्याचार बढ़ जाने पर अपने पराक्रम का प्रदर्शन कर तिरोहित हो जाती थीं। राणा प्रताप की सेना तथा शिवाजी की सेना का विधिवत् उल्लेख मिलता है; पर ये सेनाएँ उन पुरुषसिंहों की चेष्टाओं के परिणामस्वरूप थीं।

सन् १७६३ ई० में सिराजुद्दौला के पलासी-युद्ध के बाद कंपनी के राज्य में १५०० विदेशी सैनिक थे और भारतीय सैनिकों की ११५०० सिपाही की बारह बैटेलियन थीं। सन् १७७२ ई० में मद्रास-स्थित भारतीय सैनिक १६००० की संख्या में थे। सन् १७६४ ई० में जब कंपनी मराठों से लड़ रही थी, तब भारतीय सैनिकों की संख्या ३४००० कर दी गई थी। सन् १७७२ ई० में बम्बई-स्थित २५०० विदेशी सैनिक थे और ३५०० देशी। बंगाल फौज में पदाति-दल सैनिक अधिक थे। इनमें सभी गंगा-तलहटी के निवासी थे। पदाति अधिकांश हिन्दू और अश्वारोही रोहिलखंड के मुसलमान थे।

सन् १८५७ ई० में जब भारतीय स्वतंत्रता का प्रथम संग्राम छिड़ा, उसके पूर्व देशी सैनिकों की संख्या ३४८००० थी। इनके पास २४८ अग्नि-वर्षक बन्दूकें थीं।

सन् १८५६ ई० में बंगाल, मद्रास, तथा बम्बई की सैनिक-शक्ति निम्नलिखित रूप में थी—

	बंगाल	मद्रास	बम्बई
(१) बृटिश अश्वारोही रेजीमेंट	२	१	१
(२) बृटिश पदाति बैटेलियन	१५	३	४
(३) कंपनी की यूरोपियन ,,	३	३	३
(४) यूरोपियन देशी आर्टिलरी	१२	७	५
(५) देशी पदाति रेजीमेंट	७४	५२	२६
(६) देशी अश्वारोही रेजीमेंट	२८	८	३

प्रथम सैनिक-स्वातंत्र्य-संग्राम के पश्चात् आर्टिलरी पूर्णतः अँगरेजी हो गई। बृटिश सेना की संख्या बढ़ाई गई तथा देशी सेना संख्या में बहुत कम कर दी गई।

देशी Artillery, Sappers और Minors अँगरेज-पदाधिकारियों तथा इंजीनियरों के अधीन रखे गये। सन् १८५७ ई० के बाद भारतीय सेना का स्थान बहुत ही हीन हो गया।

—इनसाइक्लोपीडिया बृटैनिका

सन् १६३७ ई० में भारत की बृटिश-सेनाओं की संख्या इस प्रकार थी —

(१) अश्वारोही सेना—५ रेजीमेंट (प्रत्येक रेजिमेंट में ५६१ सैनिक थे)।
(२) फील्ड-आर्टिलरी—१० ब्रिगेड।
(३) लाइट ,, १ ,,।
(४) मिडियम ,, २ ब्रिगेड।
(५) हेवी (गुरु) आर्टिलरी—२ बैटरी।
(६) एँटी एयरक्राफ्ट—१ बैटरी
(७) इंजीनियर—१४०
(८) सिंगनलर—५४६
(९) पदाति—४३, बैटेलियन—३८३१६
(१०) टैंक—८, लाइट कोर—११६१
(११) मेडिकल कोर—६५३
(१२) आर्डनेन्स कोर—४१
(१३) वेटिरिनरी कोर—२३१
(१४) शिक्षा-संबंधी कोर—१४६
(१५) डेंटल (दन्त-कोर)—७०

आधुनिक सेना के १५ अवयव हैं। उपर्युक्त वर्णनों से पता चल गया होगा कि पराधीन राष्ट्र की सैनिक शक्ति किस प्रकार कुंठित हो जाती है और लुप्त हो जाती है। विदेशी सेना देशी सेना का कर्त्तव्य-भार ग्रहण कर देशी सैनिक-शक्ति का ह्रास कर देती है।

सैनिक अनुशासन —

अनुशासन सैनिक-जीवन की पृष्ठभूमि है। अनुशासन में आत्म-समर्पण तथा आत्म-त्याग की भावना प्रबल रहती है। इस गुण का विकास तभी संभव है, जब व्यक्ति आत्म-संयम तथा आत्म-त्याग का प्रशिक्षण अपने लिए नहीं, वरन् एक संगठित गिरोह, जाति या राष्ट्र के कल्याण के लिए प्राप्त करे। कुछ सैन्य-शास्त्र के पंडितों का मत है कि अनुशासन मनुष्य को यंत्रवत् बना देता है। उदाहरण में वे अनुशासित सैनिक का जीवन ही उपस्थित करते हैं। सैनिक रात-दिन कूच करता है। निश्चित समय पर भोजन करता है। जाड़े, गर्मी और वृष्टि में काम करता है। अपनी कठिनाइयों की कुछ परवा नहीं करता। रणक्षेत्र में जो धैर्य प्रकट करता है, वह हृदय से नहीं। वैसा करने के लिए बाध्य किया जाता है। विद्रोही जनता भले ही उस पर पत्थर फेंके। उसे तिरस्कृत करे, पर जब तक उसके नायक का आदेश नहीं होता, वह यंत्रवत् आघात सहता रहता है। अतः वह यंत्र या मशीन बन जाता है; पर इस तर्क में सार नहीं है। जो अनुशासन भय पर अवलंबित है, उसमें दृढ़ता नहीं पाई जा सकती।

वही समाज का रक्षक होता है। किसी भी समुदाय में जहाँ अनुशासन का प्रश्न है, यही भावना काम करती है।

सफल सेनापति युद्ध की प्रत्येक भीषणता तथा चंडत्व का उद्वहन सैनिकों के साथ करता है। हानीवाल (Hannibal) अपने सैनिकों के साथ जमीन पर बहुधा सोया करते थे। शेरशाह अपने सैनिकों के साथ कुदाल लेकर खाई खोदता था। वही सेनापति सफल समझा जाता है जो अपने प्रत्येक सैनिक को संसार के सभी सम्बन्धियों से बढ़कर समझता है। नीति-दुर्बल तथा स्वार्थपरक सेना-नायक को न कोई सैनिक प्यार करता है और न आदर। आश्रित सैनिकों की आवश्यकताओं तथा भलाई पर ध्यान रखनेवाला पदाधिकारी ही उनका प्रेम-भाजन और विश्वास-पात्र बन जाता है।

सेना में स्वयं नियमानुवर्त्ती होने की भावना पैदा होती है। सेनापति से लेकर रणवाद्य-वादक (बजनिया) तक सेना के लिए हैं और सेना की प्रतिष्ठा के सामने संसार की कोई वस्तु उनके लिए बड़ी नहीं हो सकती है।

विश्व के इतिहास में सैनिक-अनुशासन अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। नेपोलियन, सिजर, लेनिन, गांधी सभी सेनापति थे, जो स्वयं अनुशासन के कायल थे। उनकी आवाज पर राष्ट्र नाचता था। सेनानायकों को स्वयं अनुशासन में रहना पड़ता है और वे युद्ध की प्रचंडता, भीषणता या भयंकरता को कुछ नहीं समझते।

वीर अर्जुन से जब उत्तर कहता है कि आप अकेले किस प्रकार कौरवी सेना का मुकाबला करेंगे, तब अर्जुन सैनिक-धर्म और अनुशासन का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए कहते हैं—

उपजीव्य गुरुं द्रोणं शुक्रं वैश्रवणं यमम्।
वरुणं पावकं चैव कृपं कृष्णं च माधवम्॥
पिनाकपाणिनं चैव कथमेतान्न योधये॥

—महा०, विराट् पर्व, ४४।५६

मैं गुरुद्रोण, शुक्र, वैश्रव, यम, कृपाचार्य, कृष्ण और पिनाकपाणि के अनुशासन में रह चुका हूँ। मैं किस प्रकार इन कौरव-वीरों से नहीं लड़ सकता!

सच्चा योद्धा तो अपने मार्ग में पर्वत और सागर की बाधा को भी कुछ नहीं समझता। अर्जुन कहते हैं यदि मेरे रास्ते में पहाड़ भी खड़ा होगा तो फाड़ दूँगा—

असंभ्रान्तो रथे तिष्ठन् समेषु विषमेषु च।
मार्गमावृत्य तिष्ठन्तमपि भेत्स्यामि पर्वतम्॥ —महा०, विराट्०, ६५

जुलियस सिजर के नाविकों ने जब उससे कहा—'जहाज डूबने पर है।' इसपर सिजर ने कहा—'कप्तान, तुम्हें मालूम नहीं कि तुम्हारे जहाज पर जुलियस सिजर है? समुद्र की क्या हस्ती है कि वह इस जहाज को डुबो दे।' उसके शब्द से अनुप्राणित होकर सभी नाविक इस प्रकार जहाज खेने लगे कि उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ।

सैनिक जीवन साहस, सहिष्णुता, त्याग, धर्म और अध्यवसाय का जीवन है। कर्त्तव्य-पालन की प्रबल भावना ही इस जीवन का संबल है।

सैन्य-प्रकरण में सारथि का योग भी महत्त्वपूर्ण है। विश्व में जितने वीर हुए हैं, उनकी ख्याति का कारण सारथियों का महत्त्वपूर्ण योग-दान था। भगवान् राम को रावण के वध करने में सारथि मातलि बड़े सहायक हुए। धनुर्धर अर्जुन की अमर वीरता सारथि कृष्ण के कारण ही त्रिभुवन-विख्यात हुई। इसलिए, सारथि के संबंध में दो-चार बातों का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है।

(१) सारथि के लिए आवश्यक है कि वह सम और विषम भूमि का ज्ञान रखे। देश-विदेश के भूगोल का अध्ययन उसके लिए जरूरी था। वर्त्तमान युग के लड़ाकू हवाई-जहाज के उड़ाके और जलपोत के नाविक आकाश तथा समुद्र के मार्गों का पूर्णतः ज्ञान रखते हैं।

(२) सारथि को चाहिए कि वह रथी के बलाबल से पूर्णतः परिचित हो।

(३) रथी के साथ घोड़ों को दौड़ाते हुए उन घोड़ों की थकावट पर वह ध्यान दे और रणक्षेत्र के भीतर भी उनकी सेवा-शुश्रूषा करे। रथी की स्थिति पर दृष्टि रखे। जयद्रथवध-प्रसंग में कृष्ण के घोड़े जब थक गये, तब भगवान् ने अर्जुन से शरगृह निर्मित करने के लिए कहा। अर्जुन ने बात-की-बात में शरगृह निर्मित कर दिया। वहीं पर बाणों के द्वारा छोटी वापी तैयार कर दी। दिव्यास्त्रों से शत्रु की गति अवरुद्ध कर दी। कृष्ण ने घोड़ों को वापी में मल-मल कर धोया। मरहम-पट्टी लगाई। उन्हें खिलाया और पुनः रथ में जोतकर अर्जुन से काम लिया।

(४) प्रत्येक अस्त्र-शस्त्र का ज्ञान सारथि अवश्य रखे।

(५) उसमें मृग-पक्षियों की बोली पहचानने की क्षमता हो।

(६) रथ को चलाना, हटाना, शल्यों की प्रतिक्रिया, अस्त्रयोग, युद्ध, निमित्त (शकुनादि का ज्ञान) आदि जाने।

समं च विषमं चैव रथिनश्च बलाबलम्।
श्रमः खेदश्च सततं हयानां रथिना सह॥
आयुधस्य परिज्ञानं स्वनं च मृगपक्षिणाम्।
सारं चैवाप्यसारं च शल्यानां च प्रतिक्रिया॥
अस्त्रयोगं च युद्धं च निमित्तानि तथैव च।
सर्वमेतत् सदा ज्ञयं रथस्यास्य कुटुम्बिना॥

—महा०, कर्ण-पर्व, ३५।७-९

सातवाँ परिच्छेद

आयुध-खंड

विश्व के सभी जीव-जन्तुओं में (मनुष्यों से लेकर कीट-पतंगों तक) संरक्षणात्मक और आक्रमणात्मक प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। शरीर के एक अंग से वे अपने को बचाते हैं, तो दूसरे अंग से अपने विपक्षी पर प्रहार करते हैं। प्रत्येक प्राणी के अवयव भी इस प्रकार निर्मित हुए हैं जिनमें कुछ आक्रमणात्मक हैं और कुछ संरक्षणात्मक। हाथ, नेत्र, पलक, कान, नाक और त्वचा -सभी परित्राण के उद्देश्य से ही निर्मित हुए हैं। दाँत, नख, थप्पड़, सिर पैर— सभी आक्रमण के लिए बने हैं।

मनुष्य अपने विकास के उषाकाल में अंगों से ही आयुधों का काम लेता था। पशुओं तथा अन्य जीव-जन्तुओं के अवयव ही आज भी आक्रमण और संरक्षण के प्रधान साधन हैं। सभी प्राणियों में मनुष्य ही चिन्तन और विवेक का विकास कर पाया। वह भी पशुओं की भाँति दाँत, नख, लात, हाथ से प्रहार करता था और अपने अंगों से ही अपने शत्रुओं के आघातों को रोकता था। विवेक-बुद्धि के विकास होने पर उसने लड़ने का नया ढंग अपनाया। शत्रु पर दूर से वार करना तथा उसके चलाये अस्त्र-शस्त्रों को कुंठित कर उसे परास्त करना युद्ध का दूसरा विकसित रूप था। अपने विकास के इस युग में वह गिरोह के साथ रहने लगा था। वैरी के संग अकेला ही नहीं भिड़ता, वरन् अपने गिरोह के चुने हुए हृष्ट-पुष्ट व्यक्तियों को लेकर भिड़ता है। लड़ने के आयुध लाठी, पत्थर, मुद्गर, मुसल प्रयुक्त होने लगे। ये सभी साधन उसे जंगली ही अवस्था में प्राप्त थे। वृक्षों को उखाड़ने की भी शक्ति उसमें थी। कभी-कभी एक गिरोह दूसरे गिरोह पर वृक्षादि गिराकर उसे ध्वस्त कर देता था।

रामायण के हनुमान् ने वृक्ष ही उखाड़कर मेघनाद के रथ को चकनाचूर कर दिया था। महाभारत के आदि-पर्व में भीम जबतक राक्षस के साथ लड़ रहा था, तब एक हाथ से शत्रु का प्रहार रोकता और दूसरे से उसके भोजन को खाता जाता था। सभ्यता की दौड़ में जब मनुष्य आगे बढ़ा और लोहे-ताँबे आदि धातुओं का उसे ज्ञान हो गया, तब इसने लोहे और काठ के योग से बने शस्त्रों को प्रयुक्त किया। तीर-धनुष, त्रिशूल, भाला, बर्च्छा, तलवार, कटार, कटारी परशु, कुदाल आदि आक्रमणकारी आयुध इसी युग की देन हैं।

अपने अंगों के परित्राण के लिए उसने चर्म (ढाल), वर्म, कवच तथा अन्य अंगत्राण निर्मित किये, जिनमें शिरस्त्राण, वक्षस्त्राण, अंगुलित्राण, पदत्राण आदि उल्लेखनीय हैं। ढिकबाँस पर पत्थर रख शत्रु पर दूर से आक्रमण करना और उसके अंगों को क्षत-विक्षत कर देना भी आदि-कालीन मानव जानता था। निशाना अचूक होता था और ढिकबाँस के पत्थर से शत्रु की आँखें वह बात की बात में फोड़ देता।

आज भी छोटानागपुर के उराँव, मुंडा और चेरो-खरवार, ढिकवाँस के द्वारा चिड़ियाँ मारते हैं। पलामू और राँची के चालीस या पचास व्यक्तियों का एक गिरोह थैली में पत्थर रखकर एकबार शत्रु पर प्रहार करना प्रारंभ करता है तो और उसे खदेड़ मारता है।

परवर्त्ती युग में, विशेषतः महाभारत-युग में तो ऐसे यंत्रों का विकास हुआ, जिनके सहारे शाल्व ने बड़ी-बड़ी चट्टानें द्वारकानिवासियों पर गिराकर उन्हें तबाह कर दिया। इस युग में ऐसा भी सांग्रामिक यंत्र था, जिसमें वृक्ष तथा प्रस्तरखंड बाँध दिये जाते थे और शत्रुओं पर निक्षिप्त किये जाते थे। शतघ्नी, गुडा (गोलक), तैलगुडवालुयंत्र, आशीविषधरयंत्र, शालभिन्दिपाल आदि उल्लेखनीय हैं।

महाभारत के टीकाकार नीलकंठ ने भृंगिका की व्याख्या–'गोलकानां उत्क्षेपक-यंत्राणि'–गोले गिराने की मशीन के रूप में की है।

महाभारत-युग में विषैले गैस का भी प्रयोग चल पड़ा था; पर यह कम लोग जानते थे। अर्जुन ने 'सम्मोहनं नाम अस्त्रं' के प्रयोग से विराट् राज्य में कौरव-सैनिकों को निश्चेष्ट कर दिया था। उनके धनुष-वाण हाथ से गिर पड़े। अर्जुन के आदेश से 'उत्तर' ने रथ से उतर कर कौरव-महारथियों के शरीर के वस्त्र तक खोल लिये। और, दुर्योधन के सिर से रत्न-जडित मुकुट उतार लिया।—महाभारत, विराट् पर्व

अनेक दिव्यास्त्र—जिनके द्वारा आग, पानी और हवा की सृष्टि होती थी—भारतीय संग्राम में प्रयुक्त होते थे। आयुधों के दो प्रकार थे—(१) चोट पहुँचानवाले तथा (२) चोटों से रक्षा करनेवाले। चोट पहुँचानेवाले आयुधों का वर्गीकरण उनके आकार, आघात करने की शक्ति और प्रयोग करने के ढंग पर निर्भर करता था। चोट पहुँचानेवाले शस्त्र अनेक प्रकार के होते थे—

(१) काटनेवाले शस्त्र—परशु, कुदाल, तलवार।
(२) चूर करनेवाले शस्त्र—मुद्गर, मुसल, घन।
(३) चुभनेवाले शस्त्र—कटार, छुरा।
(४) दूर से शरीर में प्रविष्ट होनेवाले अस्त्र—परिघ, भाला, शूल, शक्ति आदि।
(५) दूर से फेंककर शत्रु को वध करनेवाले शस्त्र धनुष-वाण, ध्वंसकारी यंत्र, दिव्यास्त्र आदि।

आर्य-जाति को इस देश में आते ही प्रति इंच भूमि के लिए लड़ना पड़ा था। अतः वैदिक काल में ही दोनों प्रकारों के आयुधों का प्रयोग देखने में आता है। ग्रीक-सभ्यता भी अति प्राचीन समझी जाती है। उस देश के होमर-युग में योद्धा वर्म, शिरस्त्राण, मेखला, वक्षस्त्राण, तलवार, पदत्राण आदि धारण करते थे। पदत्राण चमड़े का बना होता था और तागे से घुटने तक बँधा रहता था। शिरस्त्राण सिर और मुँह को ठुड्डी तक रक्षित करता था। ग्रीक अश्वारोही सैनिक अधिकतर सशस्त्र रहते थे। उनके ढाल छोटे होते थे।

—इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका

भारतीय आयुधों का सविस्तर वर्णन —

ऋग्वैदिक साक्ष्य—ऋग्वेद की ऋचाओं में संरक्षणात्मक और आक्रमणात्मक—दोनों प्रकार के आयुधों का वर्णन मिलता है। ऋग्, मंडल ५, सूक्त ५४, मंत्र ११ में मरुतों का चित्रण वीर सैनिक के रूप में हुआ है —

अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु
रुक्मा मरुतो रथे शुभः।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः
शीर्षसु वितताः हिरण्मयीः ॥

"सिर पर शिरस्त्राण, कन्धे पर चर्म (ढाल), वक्षःस्थल पर वक्षस्त्राण, पावों में कटक, हाथों में चमकते शस्त्र—परशु, बर्छी, तीर-धनुष, सुनहरे रथ पर आसीन, जिसमें घोड़े जोते जाते हैं।"

सात मरुतों के सात प्रकार के आयुध हैं। सात प्रकार के आभरण हैं और सात प्रकार की दीप्तियाँ हैं—

सप्तानां सप्तऋष्टयः सप्तद्युम्नान्येषाम्।
सप्तो अधिश्रियो धिरे॥ —८।२८।५

त्वष्टा हाथों में लोहमय कुठार धारण करते हैं। —ऋग्०, ८।२९।३

इन्द्र वज्र-धारण करते हैं। —८।२९।५

उग्र रुद्र हाथों में तीखा आयुध रखते हैं। ऋग्०, ८।२९।५

ऋग्वेद, मंडल ६, सूक्त ७५ आयुध-प्रकरण ही है। इस सूक्त में लौह-कवच, धनुष-ज्या, धनुष्कोटि, वाण, लगाम, चाबुक, हस्तघ्न (हस्त-रक्षा-चर्म) आदि का वर्णन है।

जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे। —ऋग्०, मंडल ६, सू० ७५, मंत्र ७

युद्ध छिड़ जाने पर यह राजा जिस समय लौहमय कवच पहनकर जाता है, उस समय साक्षात् मेघ-सा प्रतीत होता है।

धन्वना गा धन्वनाजि जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशा जयेम॥

अर्थात्, 'हम धनुष के द्वारा शत्रुओं की गायों को जीतेंगे, युद्ध जीतेंगे। मदोन्मत्त शत्रु-सेना का वध करेंगे। शत्रु की अभिलाषा नष्ट करेंगे, धनुष से समस्त दिशाओं को जीतेंगे।' इसी सूक्त के तीसरे मंत्र में ज्या की प्रशंसा की गई है। चौथे मंत्र में धनुष की कोटियों का उल्लेख है। पांचवें मंत्र में तूणीर की अद्भुत प्रशंसा है।

तूणीर! तू अनेक वाणों का पिता है। योद्धा के पृष्ठ-देश में निबद्ध रहकर भी युद्ध-काल में वाणों का प्रसव करता हुआ सारी सेना को जीत डालता है।

छठे मंत्र में सारथि और घोड़े का उल्लेख है। सातवें में रथ का वर्णन है। आठवें में रथ पर स्थित राजा के अस्त्र, कवचादि का उल्लेख है।

ग्यारहवें मंत्र में वाण का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है—"वाण शोभन पंख धारण करता है। इसका दाँत मृग-शृंग है। यह ज्या से अच्छी तरह आबद्ध है। तेरहवें में कशा (चाबुक) तथा चौदहवें में हस्तघ्न का वर्णन है।

पन्द्रहवें मंत्र में विषाक्त वाण का उल्लेख है, जिसका मुँह लौहमय है और अग्रभाग हिंसक है। इन समस्त सूक्तों के द्रष्टा भरद्वाज-पुत्र पायु ऋषि हैं। किसी राजा को ऋषि लौहमय कवच पहना कर, अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करते हैं और रणक्षेत्र में भेजते हुए उनकी शुभकामना करते हैं।

इन्द्रो यातुनामभवत् पराशरोहविर्मथीनामभ्याविवासताम् ।
अभिदुः शक्रः परशुर्यथा वने पात्रेव भिन्दन्त सत एति रक्षसः ॥

—ऋग्०, मंडल ७।१०४।२१

फरसा और मुद्‌गर के वर्णन में कहा गया है कि जैसे कुठार वन को काटता है, मुद्‌गर बर्त्तनों को फोड़ता है, वैसे ही इन्द्र राक्षसों का विनाश करता हुआ आ रहा है।

सन्नः शिशीह भुरिजोरिव क्षुरं रास्व रायो विमोचन ।—ऋग्०, ८।४।१६

नाई की बाँह में रहनेवाले छुरे की तरह हमारी बुद्धि तीक्ष्ण करो।

इन्द्र का सुवर्णमय वज्र का वर्णन ऋग् १०।२३।३ में है।

विचिद् वृत्रस्य दीधतो वज्रेण शतपर्वणा ।
शिरो विभेद वृष्णिना ॥ —ऋग्०, ८।६।६

इन्द्र ने काँपते हुए वृत्र के मस्तक को सौ धारवाले वज्र से छेद डाला।

लोहे के वज्र का उल्लेख भी ऋग्० १०।९६ में है। उस समय वज्र सोने, लोहे तथा हड्डी के बने होते थे।—ऋग्वेद में अश्विनों का वर्णन संग्राम-चिकित्सक के रूप में हुआ है और विश्वकर्मा का उल्लेख सामरिक इंजीनियर के रूप में।

ऋग्वेद में दो-दो योद्धा एक-एक साथ वर्णित हुए हैं —इन्द्रावरुणौ, इन्द्रामित्रौ, अश्विनौ। अश्विन घोड़े पर आरूढ वर्णित हुए हैं। इन्होंने वृद्धच्यवन को भी जवान कर दिया था।

—ऋग्०, मं० ७, सू० ६८, मंत्र ६

सोने और लोहे के कवच के लिए कहा गया—

येन शुष्णं मायिनमायसो मदे ।
दुध्र आभुषु रामयन्ति दामिनी ॥

लौह कवच-धारी इन्द्र ने सोमपान द्वारा हृष्ट होकर मायावी शुष्ण को हथकड़ी डालकर राजगृह में बंद रखा था।

रथ के रास का वर्णन—ऋग् ८।७४।७ में है।

ऊँट पर चढ़ कर युद्ध करने का उल्लेख ऋग् १।१३८।२ में है।

ऋग्वैदिक सैनिकों की वेश-भूषा तथा मरहट्ठा वीरों की वेश-भूषा में कम अंतर दीख पड़ता है।

अथर्व-वेद का साक्ष्य—वज्र तथा वाण का उल्लेख देखिए—

इन्द्रस्य वज्रो अपहन्तु राक्षस आराद् ।
विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥ —अथर्व०, सू० ४, कां० २

इन्द्र का वज्र राक्षसों का संहार करे। शत्रुओं से विसृष्ट वाण हमसे दूर गिरे। अथर्ववेद में दिव्यास्त्रों का भी उल्लेख है—

विष्वञ्चो अस्मच्छरव पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः ।
दैवी मनुष्येषवो ममामित्रान् विविध्यत ॥

सभी दिशाओं में गतिशील वाण जो हमारी ओर से चलाये गये हैं या चलाये जायेंगे—वे दिव्यास्त्र तथा मनुष्यों के वाण शत्रुओं का वध करें।

अथर्ववेद के समय सेना के प्रत्येक अवयव संगठित हो चुके थे, ऐसा आभास निम्नस्थ मंत्र से ज्ञात होता है—

> विन इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
> अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥
>
> —अथर्व॰, कां॰ १, अनु॰ ४, सू॰ २१

हे इन्द्र! हमारे लिए संग्राम में शत्रु को तथा उसकी पृतना (सेना) को मारें। उन शत्रुओं को अंधकार में ले जाँय, जो हमें सताते हैं।

अथर्ववेद में पिनाक का भी उल्लेख मिलता है—

> विषूच्येतु कृतन्ती पिनाकमिव बिभ्रती।
> विष्वक् पुनर्भवा मनोसमृद्धाः अधायवः ॥ —अथर्व॰ ५, सू॰ २७

शात्रवी सेना पिनाक के सदृश दिव्यास्त्र धारण करती हुई छिन्न-भिन्न हो जाय। उनके मन किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जायँ।

रामायण-साक्ष्य—वाल्मीकि रामायण, बाल कांड, सर्ग २१ में अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन विस्तारपूर्वक हुआ है। भारतीय वाङ्मय में सभी कलाओं, विद्याओं तथा विभूतियों की जननी देवियाँ मानी गई हैं। ज्ञान, विज्ञान, कला, संगीत की माता सरस्वती हैं। ह्री, श्री और संपत्ति की जनयित्री लक्ष्मी हैं। पाशविक शक्ति की प्रसविनी दुर्गा और अस्त्र-शस्त्रों की माताएँ जया और सुप्रभा कही गई हैं। जया और सुप्रभा दक्ष-प्रजापति की पुत्रियाँ थीं। अस्त्र-शस्त्रों को प्रकाश में लानेवाली जया हैं और संहारकारी दुर्द्धर्ष यंत्रों की माता सुप्रभा मानी गई हैं।

मेरी धारणा है कि मनुष्य की प्राणिमात्र पर प्रभुत्व जमाने की आकांक्षा (जया) ने विजय प्राप्त करने के साधन अस्त्र-शस्त्रों को बनाने के लिए प्रेरित किया। जयोल्लास ही आयुधों के आविष्कार का आदि कारण है। जब मनुष्य विकसितावस्था को प्राप्त हुआ और साधारण शस्त्रों से वह विपक्षी पर पूरा अधिकार न प्राप्त कर सका, तब उसकी आविष्कारिणी शक्ति ने दिव्यास्त्रों और ध्वंसकारी यंत्रों के निर्माण में हाथ लगाया। अग्नि, वायु, जल और विद्युत् से संबंध रखनेवाले आयुध आविष्कृत हुए। चमकते हुए आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र, पर्जन्यास्त्र, शैलास्त्र, आभा से ओतप्रोत थे। दिव्यास्त्र आविष्कृत करने की मानवी प्रतिभा सुप्रभा थी। ऋषि वसिष्ठ विश्वामित्र के अस्त्र-शस्त्र-ज्ञान के सम्बन्ध में दशरथ से कहते हैं—

> जया च सुप्रभा चैव दक्षकन्ये सुमध्यमे।
> ते सुतेऽस्त्राणि शस्त्राणि शतं परमभास्वरम् ॥
> सुप्रभाऽजनयच्चापि पुत्रान् पंचाशतं पुनः।
> संहारान्नाम दुर्द्धर्षान् दुराक्रमान् बलीयसः ॥
> तानि चास्त्राणि वेत्त्येष यथावत् कुशिकात्मजः।
> अपूर्वाणां च जनने शक्तो भूयश्च धर्मवित् ॥
>
> —वाल्मीकि रा॰, बा॰, सर्ग २१

विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण को अपने आश्रम (बक्सर) में लाकर दिव्यास्त्रों का ज्ञान दिया। कतिपय दिव्यास्त्र अंगार के सदृश थे, कुछ धूम के सदृश और कुछ सूर्य के सदृश। उन अस्त्र-शस्त्रों का विवरण इस प्रकार है—

(१) **चक्र**—दण्ड-चक्र, धर्म-चक्र, काल-चक्र, विष्णु-चक्र और इन्द्र-चक्र।

(२) **अस्त्र**—शैवास्त्र, ब्रह्मशिर, ऐषीक , नारायण, आग्नेय, वायव्य, हयशिरोनाम और क्रौंच।

(३) **गदा**—मोदकी और शिखरी।

(४) **पाश**—धर्मपाश, कालपाश और वरुणपाश।

(५) **अशनी**—शुष्क तथा आर्द्र।

(६) **शक्ति**—कंकाल और कापाल।

(७) **वैद्याधरअस्त्र**।

(८) **गान्धर्व**—दमित, मोहन, प्रस्वापन, प्रशमन, सौम्य, वर्षण, शोषण, संताप, विलापन, मादन, दुर्द्धर्ष और कन्दर्पदमित।

(९) **पैशाच**—तापन, सौमन, संवर्त्त, तामस, महाबल, मौसल, सोम, दारुण और मानद।

—रामायण, बाल कां०, सर्ग २१

भगवान् राम ने विश्वामित्र के आश्रम पर आक्रमण करनेवाले मारीच पर मानवास्त्र का प्रयोग किया था। यह बड़ा ही देदीप्यमान था। इस परमास्त्र के प्रयोग से वह चार सौ कोसों की दूरी पर गिरा।

मानवं परमोदारमस्त्रं परमभास्वरम्।
चिक्षेप परमः क्रुद्धः मारीचोरसि राघवः॥
स तेन परमास्त्रेण मानवेन समाहतः।
संपूर्णयोजनशतं क्षिप्तः सागरसंप्लवे॥ —रामायण, सर्ग ३४

रामायण, बाल-कांड, सर्ग ५६ में वसिष्ठ-विश्वामित्र-द्वन्द्व का बड़ा ही लोमहर्षण वर्णन है। वसिष्ठ ने विश्वामित्र के सारे अस्त्र-शस्त्रों, दिव्यायुधों—वारुण, रौद्र, पाशुपत, ऐन्द्र, ऐषीक मानव, मोहन, गान्धर्व, स्वापन, जृंभण, संताप, विलापन आदि—को अपने ब्रह्मास्त्र के प्रयोग से कुंठित कर दिया था।

इसी प्रकार रामायण, बाल-कांड, अध्या० ७५ में परशुराम के दो श्रेष्ठ धनुष वर्णित हैं। दोनों को स्वयं विश्वकर्मा ने बनाया था। एक का नाम पिनाक था और दूसरे का वैष्णव। वैष्णव धनुष को परशुराम अपने साथ रखते थे। इस पर प्रत्यंचा चढ़ा कर जब शर-संधान करते थे तब त्रैलोक्य काँप उठता था।

शब्दवेधी बाण शब्द को लक्ष्य कर चलाया जाता था। शब्द ही लक्ष्य बन जाता था। रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ६३ में आया है कि दशरथ ने श्रवण कुमार पर इसी बाण का प्रयोग किया था।

इसके सुन्दर कांड, सर्ग ५ में धन्वी, खड्गी, शतघ्नीमुसलधर, परिघधर, अशनिधारी, क्षेपण-पाशहस्त और तीक्ष्णशस्त्रधर वर्णित हैं। इसी कांड के षष्ठ सर्ग में राक्षसियाँ भी शूल, मुद्गर,

तोमर लिये प्रहरी के रूप में वर्णित हैं। संवहनों में रथ, यान, विमान, अश्व और हस्ती वर्णित हैं। हाथियों में कुछ को तीन दाँत, कुछ को चार और कुछ को दो दाँत थे। उस समय संग्राम-क्षेत्र में नारा भी लगाये जाते थे।

जयति अतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥ —रामा०, सुन्दरकांड

रावण ने ध्वंसकारी यंत्रों का भी प्रयोग राम तथा उनकी सेना पर किया था। ये यंत्र श्वानकुक्कुटमुख, मकरमुख, आशीविषमुख (सर्पाकार), खरमुख, और वराहमुख थे। कुछ अग्निदीप्तमुख, सूर्यमुख, ग्रहनक्षत्रवर्ण, महोल्कामुख, तथा विद्युज्जिह्वोपम थे।

—रामा०, लंकाकांड, सर्ग १००

कांचनमालिनी शक्ति सोने के हार के सदृश थी। महोल्का की भाँति इससे अग्नि की चिनगारियाँ निकलती थीं। लक्ष्मण के उपर जो शक्ति प्रयुक्त की गई थी, उससे आठ घंटों की आवाज निकलती थी। —रा०, लंका०, सर्ग १०१

राम ने रावण का वध पैतामह अस्त्र से किया था। अगस्त्य ने अपने आश्रम में रावण-वध के लिए ही इसका आविष्कार किया था। भगवान् राम को उन्होंने इसी उद्देश्य से इसे भेंट में दी। पैतामह अस्त्र में पहाड़ों को भी भेदने की शक्ति थी।

तद्धनुस्तौ च तूणी च शरं खड्गं च मानद।
जयाय प्रतिगृह्णीष्व वज्रं वज्रधरो यथा।

—रामा०, अरण्य कां०, सर्ग १२

ध्वंसकारी यंत्रों का प्रयोग वज्जियों से युद्ध करते समय अजातशत्रु ने भी किया था। ये यंत्र महाशिला-कंटक तथा रथमुसल कहलाते थे। महाशिलाकंटक के द्वारा बड़ी-बड़ी चट्टानें शत्रुओं पर या उनके दुर्ग पर गिराई जाती थीं। रथमुसल रथ की शक्ल का था। उसमें मुसल बँधे रहते थे। यह दौड़ते हुए अनेक मनुष्यों का संहार करता था।[1]

महाभारत-साक्ष्य—अर्जुन ने शिव की प्रयोग-शाला तथा इन्द्र के अस्त्रागार से अनेक वर्षों के कठिन परिश्रम के बाद सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया था। पाशुपतास्त्र शिव का बड़ा प्यारा आयुध था। इसके धारण, मोक्ष और संहार का ज्ञान शिव ने अर्जुन को दिया था। यह सहसा प्रयुक्त नहीं किया जाता था। इसके द्वारा सारा संसार प्रदिग्ध किया जा सकता था। द्वीपनिवासी कालकेयों के विनाश के लिए अर्जुन ने इसे प्रयुक्त किया था। प्रयुक्त होने पर यह अस्त्र हरिण, सिंह, व्याघ्र, वृक, सर्प, साँड, हाथी, गरुड, उलूक और मत्स्य के रूपों में आग उगलता हुआ शत्रुओं पर गिरने लगता था, जिससे क्षणमात्र में जलकर सब खाक हो जाते थे। अर्क तथा अग्नि-सी ज्योति उसमें से निकलती थी और वज्र-सी प्रभा थी। —महा०, वन-पर्व, १७५।५०, ६४

इन्द्रालय से वापस आने पर अर्जुन से युधिष्ठिर ने दिव्यास्त्रों के प्रयोग-प्रदर्शन की इच्छा प्रकट की। अर्जुन ज्योंही पाशुपतास्त्र प्रयोग के लिए तैयार हुए, पृथ्वी काँपने लगी, नदियाँ

१. हेमचन्द्र राय चौधरी द्वारा लिखित 'पुरातन भारत का राजनैतिक इतिहास'—(Political History of Ancient India)

जल-प्लावित हो गईं, समुद्र में तरंगें उछाल मारने लगीं, पर्वत हिलने लगे, आँधी उठ गई, सूर्य की ज्योति लुप्त होने लगी, जिससे द्विज मंत्रों के उच्चारण में असमर्थ हो गये। नारद दौड़ते हुए आये और मर्त्यलोक में इस शस्त्र का प्रयोग न करने का अनुरोध किया।

इन्द्र के निवेशन में अर्जुन को पाँच वर्ष ठहरना पड़ा था और वहीं आग्नेय, वारुण, ब्राह्म, पारमेष्ठ्य, याम्य तथा कौबेर महास्त्र प्राप्त किये थे। अर्जुन ने सुघोष दिव्य वादित्र भी इंद्र से प्राप्त किया था। —महाभारत, वन-पर्व, १६५–१६६

याम्य अस्त्र से तात्पर्य अप्रतिवारण दंड से है, वारुण अस्त्र से तात्पर्य अनिवारित पाश से और कौबेर से तात्पर्य अन्तर्धान अस्त्र से है। इन्द्र को गुरु के रूप में परिगृहीत कर अर्जुन ने इन आयुधों का प्रयोग सीखा था।

आचार्यं वरयेऽहं त्वामस्त्रार्थं त्रिदशेश्वर।

—महा०, वन-पर्व, अ० १६६

इन्द्र ने अस्त्रों के प्रयोग, उपसंहार, आवृत्ति, प्रायश्चित्त तथा प्रतिघात अर्जुन को सिखाये। —वनपर्व १७०

यहाँ प्रयोग के मानी हैं—अस्त्र चलाना, उपसंहार का तात्पर्य है—पुनः वापस लेना, आवृत्ति का अर्थ है—बार-बार प्रयोग और उपसंहार करना। प्रायश्चित्त उसे कहते हैं—जिसके द्वारा अस्त्रों की अग्नि से निरापराध जले व्यक्ति को पुनः जीवित कर दिया जाय। प्रतिघात का अर्थ है—परास्त्र से स्वास्त्र जब अभिभूत हो जाय, तब उसे उद्दीप्त करना।

ऐन्द्रास्त्र के अनेक प्रकार थे। विराट् पर्व में जब द्रोण, कर्ण, भीष्म, कृपाचार्य, अश्वत्थामा प्रभृति महारथियों ने एक साथ अर्जुन पर आक्रमण किया, तब अर्जुन ने इसी अस्त्र का प्रयोग किया था। इसके प्रयोग से चारों ओर प्रकाश छा गया, सभी योद्धा मूर्च्छित और निश्चेष्ट हो गये। --विराट् पर्व, अ० ६५

इसके पश्चात् अर्जुन ने संमोहन नामक अवारणीय अस्त्र का प्रयोग किया था। सभी योद्धा गिर पड़े, उनके शस्त्र हाथों से नीचे गिर पड़े, वे मृतक-सा प्रतीत होने लगे। उसी समय 'उत्तर' ने द्रोण का शुक्ल वस्त्र, कर्ण का पीत-वस्त्र और अश्वत्थामा का नील वस्त्र उतार लिये। केवल भीष्म इस का प्रतिघात जानते थे।

महाभारत-युग में भी संरक्षणात्मक आयुधों में चर्म, वर्म, कवचादि प्रतिरक्षात्मक आयुध थे। ये लोहे, ताँबे, चाँदी और सोने के बने होते थे।

सुवर्णकार्ष्णायसवर्मनद्धा
सुवर्णलोहायसवर्मगात्रा। —महाभा०, विराट् पर्व, अ० ५८

ताम्रराजतलौहानां कवचानाम्। —विराट् पर्व, अ० ६१

प्रस्वाप भी एक महास्त्र था। इसका प्रयोग भीष्म पितामह जानते थे। इन्होंने परशुराम पर इसे छोड़ना चाहा था; पर नारद ने रोक दिया। इसके प्रयोग से विपक्षी चेतना-शून्य हो जाता था। —महाभा०, उद्योग पर्व, अ० १८५

परशुराम भीष्म के गुरु थे। जब भीष्म पितामह से वह पराजित हुए, तब शिष्य से अप्रसन्न न होकर परशुराम बोल उठे—

गम्यतां भीष्म युद्धेऽस्मिंस्तोषितोऽहं भृशं त्वया।

—महाभारत, उद्योग-पर्व, अ० १८५

भीष्म जाओ, युद्ध में तुमने मुझे बहुत संतुष्ट किया।

अस्त्रों का विशेष वर्णन उद्योग-पर्व के अध्याय १५५ में मिलता है।

(१) **कचग्रहविक्षेप**—(कचेषु गृहीत्वा येन शत्रुः विक्षिप्यते स कचग्रहविक्षेपः)। इस यंत्र से शत्रु का केश पकड़ कर दूर फेंक दिया जाता था।

(२) **तैल-गुड-वालुक-यंत्र**—इस यंत्र के द्वारा प्रतप्त तैल, गुड तथा बालू शत्रुओं पर फेंके जाते थे।

(३) **आशीविषधर यंत्र**—इसके द्वारा सर्पों से भरे कुंभ शत्रु पर उछाले जाते थे।

(४) **सर्जरसपांसु-यंत्र**—(सर्जरस-अग्न्युद्दीपक यंत्र) ऐसे राल-द्रव्य शत्रु पर ज्यों ही फेंके जाते थे, वे दीप्त हो जाते और शत्रु भुनने लगते थे।

(५) **अयोगुडजलोपल**—अयांसि–खड्ग-पट्टिशच्छुरिकप्रभृति। गुडजल–तप्त। उपल–यंत्र से क्षेप्य पत्थर। तलवार, छुरी प्रभृति शस्त्र तथा तप्त गोले इस यंत्र के द्वारा शत्रुओं पर गिराये जाते थे।

(६) **शालभिन्दिपाल**—शब्द करते हुए भिन्दिपाल फेंकने का यंत्र।

कई *अन्य शस्त्रों का उल्लेख भी प्राप्त है*—

(क) **पर्जन्यास्त्र**—इसके द्वारा पृथ्वी से जल-धारा निकाली जाती थी। शराहत भीष्म को स्वच्छ जल पिलाने के उद्देश्य से अर्जुन ने इस अस्त्र के द्वारा पृथ्वी को छेद कर स्वच्छ सलिल का स्रोत निकाला। इसका जल अमृत-सा मधुर तथा दिव्य-गंध से युक्त था।

(ख) **शक्ति**—लोहे की बनती थी। उसकी मूठ सोने की होती थी। इसके अनेक प्रकार थे। रामायण-काल में भी लक्ष्मण को शक्ति लगी थी। घटोत्कच के पास एक शक्ति थी, जिसमें आठ चक्र लगे थे। यह आठ मील लंबी और चार मील चौड़ी थी। इसमें शूल लगे थे। इसे हम युद्ध-यंत्र ही कहेंगे। इस शक्ति के द्वारा घटोत्कच ने कर्ण को विकल कर दिया, उसके रथ के घोड़ों को मार डाला, उनके कान और जीभ तक उड़ा दिये। अन्य कौरव-योद्धाओं को क्षत-विक्षत कर दिया। कौरव-सेना में मीलों तक हाहाकार मच गया। तब कर्ण ने विवश होकर वासवी शक्ति का प्रयोग घटोत्कच पर किया।

—महा०, द्रोण-पर्व, १८६

(ग) **कंकपत्र-शर**—बड़ा तेज होता था।

(घ) **नाराच-अर्द्धचंद्र**—भी बाणों के भेद थे। हाथियों के वध ये ही बाण करते थे।

(ङ) **जलौघास्त्र**—मूसलधार वृष्टि का सर्जन करता था। आदित्यास्त्र के द्वारा इसका शोषण होता था।

—महा०, द्रोण-पर्व, अ० ३०

(च) **वैष्णवास्त्र**—के आघात से कृष्ण को छोड़ कर कोई दूसरा बच नहीं सकता था, इसका प्रयोग ज्यों ही अर्जुन पर किया गया, भगवान् कृष्ण ने बीच में आकर इसे ग्रहण कर लिया।

—द्रोणपर्व, अ० ९९

रणांगण में वाण-गृह का निर्माण—जयद्रथ-वध-प्रसंग में अर्जुन के घोड़े जब थक गये, तब कृष्ण के निर्देश से अर्जुन ने भीषण रणक्षेत्र में वाण-गृह निर्मित किया। वाण-गृह के आँगन में वाणों से तालाब प्रस्तुत किया। उस जलाशय में कृष्ण ने घोड़ों को धोया, पानी पिलाया और उनकी सेवा की। दिव्यास्त्रों के सहारे शत्रुओं को अर्जुन ने रोक रखा था।

—महा०, द्रोण०, अ० १००

(ज) **नारायण-अस्त्र**—भी अमोघ था। अवध्य का भी वध करता था। इसके प्रयोग से झंझावात बहने लगता, पृथ्वी काँपने लगती, समुद्र में उत्ताल तरंगें उठने लगतीं। इस शस्त्र से उस सैनिक को कोई क्षति नहीं पहुँचती, जो शस्त्र परित्याग कर आत्म-समर्पण कर देते थे। युद्ध करना छोड़ देना ही इसका प्रतिघात था। —महा०, द्रोण-पर्व, अ० २०२

(झ) **चाक्षुषी विद्या**—गन्धर्व चित्रसेन से अर्जुन ने यह विद्या सीखी थी। इसके द्वारा विश्व की सभी छिपी वस्तु को योद्धा देख सकता था। —महा०, वन-पर्व, अ० १६६

(ञ) **सुदर्शन चक्र**—यह भगवान् कृष्ण का प्रिय अमोघ आयुध था। इसकी नाभि वज्र की बनी थी। इसमें बड़ी विशेषता यह थी कि शत्रु का वध कर कृष्ण के पास वापस चला आता था। एक बार अश्वत्थामा ने यह इच्छा कृष्ण से प्रकट की कि ब्रह्मशिरः अस्त्र लेकर सुदर्शन चक्र उन्हें दे दें। कृष्ण ने मुस्कराते हुए हुँकारी भर दी। अश्वत्थामा प्रसन्नता के मारे बायें हाथ से सुदर्शन को उठाने लगा; पर वह उठा न सका। इसके बाद दाहिने हाथ से उठाना शुरू किया, फिर भी वह हिल नहीं सका। तब उसने शरीर की सारी शक्ति चक्र को उठाने में लगाई, पर जमीन छोड़ने को कौन कहे, टस-से-मस तक नहीं हुआ। अन्त में ग्लानि तथा लज्जा के मारे पानी-पानी हो गया। —महाभा०, सौप्तिक पर्व, अ० १२

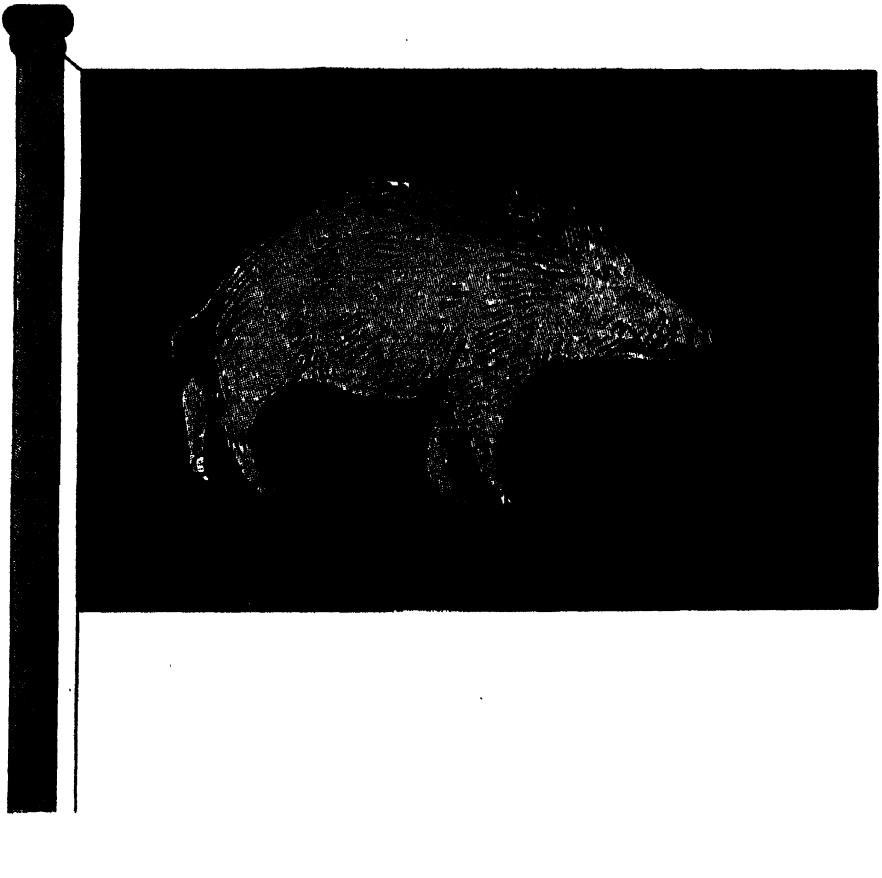
पौराणिक साक्ष्य—(१) विष्णु-पुराण में उल्लिखित शंख, चक्र, गदा आदि अस्त्र-शस्त्र भगवान् विष्णु थे, उनकी वेश-भूषा पीताम्बरी थी और उनका वाहन वैनतेय थे।

शंखचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः।
वैनतेयं समारुह्य भास्करस्तोयदं यथा॥

(२) देवी भागवत के १६ वें अध्याय में आया है कि देवी रक्त-वस्त्र धारण करती हैं। शरीर में रक्त चंदन लपेटती हैं। चार योजनों में उनकी जीभ है। अपने आठ हाथों में शंख, चक्र, गदा, कमल, परशु, चर्म, तीर-धनुष और त्रिशूल धारण करती हैं। काली के अन्य आयुधों में मुसल, वज्र, फलक (चर्म), वैष्णव, वारुण, आग्नेय, नागपाश, गान्धर्व, पर्जन्यास्त्र और पाशुपतास्त्र हैं।

(३) मार्कण्डेय पुराण के दूसरे अध्याय में शूल, चक्र, शक्ति, चाप, वाण, वज्र, घंटा, दंड, पाश, खड्ग, चर्म, हार, कुण्डल, परशु प्रभृति आयुधों के नाम मिलते हैं।

(४) विष्णुधर्मोत्तरपुराण के ५० वें अध्याय में अस्त्रों का ही वर्णन है। इन अस्त्रों में ब्रह्मास्त्र, वैष्णवास्त्र, रौद्रास्त्र, आग्नेयास्त्र, वासवास्त्र, नैर्ऋतास्त्र, याम्यास्त्र, कौवेरास्त्र, वारुणास्त्र, वायव्यास्त्र, सौम्यास्त्र, सौरास्त्र, पार्वतास्त्र, चक्रास्त्र, वज्रास्त्र, पाशास्त्र, सार्पास्त्र, गान्धर्वास्त्र भौत-अस्त्र, पाशुपत, ऐषीक, तर्जन, प्रासन, भारुण्ड, नर्त्तन, अवरोधन, रैवत, मानव, अक्षि-संतर्जन, भीम, जृंभण, सौपर्ण, पार्जन्य, राक्षस, मोहन, कालास्त्र, दानवास्त्र, ब्रह्मशिरः आदि के



सिन्धुराज जयद्रथ का झंडा

वराहः सिन्धुराजस्य राजतोऽभिराजते

(महा० द्रोण०)

नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी आयुध रामायण-काल तथा महाभारत-काल में वर्णित हो चुके हैं। परशुराम इन आयुधों में पारंगत थे। इसी पुराण के अध्याय १६ में परशुराम तथा शाल्व के भीषण युद्ध का वर्णन मिलता है।

(५) कौटिल्य-अर्थशास्त्र में हस्ति-सेना के ध्वंस के लिए शकट-गर्भयंत्र का प्रयोग बताया गया है।

कुन्त—लकड़ी की लाठी होती थी।

प्रास—२४ इंच लंबा होता था।

यष्टि—लोहे तथा बाँस की भी लाठियाँ होती थीं।

रथी-योद्धा—पत्थर, मुसल, कवच और प्रास भी रखते थे। अश्व-सैनिक भी इसका व्यवहार करते थे।
—कौटिल्य, खंड ८, अ० २

रणक्षेत्र में धन्वन्तरि-दल यंत्र, तेल तथा शल्य-शास्त्रों के साथ लड़ाकू सैन्य के पीछे रहता था। इसी तरह विश्वकर्मा-दल के साथ भी श्रमिक रहते थे। शिविर, मार्ग, पुल, कुएँ नदी आदि को ठीक करने के लिए इस दल के साथ यंत्र, आयुध, कवचादि सदा उपस्थित रहते थे।
—कौटिल्य, खंड १०, अ० ४

ऐतिहासिक साक्ष्य—ऐरियन(Arian) ने अपनी इंडिका (Indika) के अध्याय ५६ में भारतीय शस्त्रों का विवरण दिया है। प्रत्येक अश्वारोही सैनिक ढाल तथा दो बर्च्छा लिये रहते थे। पद-सैनिक तलवार और ढाल धारण करते थे। तीर-धनुष का भी प्रयोग करते थे। धनुष की माप सैनिक की लम्बाई के बराबर होती थी। वाण तीन गज का होता था। उसके वाण के आघात को रोकने में न चर्म, न वर्म और न कवच ही समर्थ थे। भिलसा के स्तूप पर धनुष, वाण, तलवार, कटार, परशु, त्रिशूल तथा वर्म की चित्रकारियाँ हैं। उदयगिरि के स्तूपों पर भी इसी प्रकार की चित्रकारियाँ हैं।

ग्रीक इतिहासवेत्ता हेरोडोटस (Herodotus) का कहना है कि जरक्सिज (Xerxus) के शासन-काल में गांधार पारसिक साम्राज्य का भाग था। हेलास (Hellas) के विरुद्ध उसने गांधार-सैनिकों को भेजा था। इन गांधार-सैनिकों के शस्त्र धनुष तथा परिघ थे। धनुष बेंत के बने थे और तीर के मुख पर लोहा जड़ा रहता था।

मोहंजोदारो और हरप्पा का साक्ष्य—मार्शल ने परशु, परिघ, कटार, धनुष, वाण, गदा, ढिकवाँस (Slings), विध्वंसकारी यंत्र (Catafults) का उल्लेख आयुधों में किया है। चर्म, वर्म, अंगुलित्राण आदि भी बचावट के शस्त्र रूप में वर्णित हैं। तलवार का उल्लेख नहीं है।[1]
—खंड १, पृ० ३५–३६

मार्शल के मतानुसार वैदिक आर्य धनुष, परिघ, कटार और परशु का प्रयोग करते थे। कवच तथा शिरस्त्राण उनके संरक्षणात्मक आयुध (Defentive Weaperns) थे। मेसोपोटेमिया तथा मिस्रनिवासियों की भाँति भारतीय मुद्गर भी प्रयुक्त करते थे।

१. ऋग्वेद के उद्धरणों से श्री मार्शल के विचारों की तुलना करें। —ले०

आठवाँ परिच्छेद

युद्ध के विविध प्रकार

रथ-युद्ध

प्राचीन भारत में युद्ध-कर्म को क्षत्रियों ने व्यवसाय के रूप में परिगृहीत किया था। अन्य वर्ग भी इसे अपनाते थे। युद्ध करने के साधारण और विशेष नियम बने थे। मनु, कौटिल्य महाभारतकार तथा अन्य स्मृतिकारों ने भी युद्ध-संबंधी नियमों का विवेचन किया है। मनु के अनुसार रथ तथा घोड़े पर आरूढ़ हो सम भूमि पर युद्ध करना उचित समझा जाता था—

—स्यन्दनाश्वे समे युद्ध्येत्।—मनु०, ७।१९५

महाभारत के मतानुसार पंक तथा गर्त्त से रहित स्थल रथ-युद्ध के लिए प्रशंसनीय समझा जाता था।

अपंका गर्त्त-रहिता रथ-भूमिः प्रशस्यते।—महाभारत, शांति-पर्व

घोड़े तथा रथ से युद्ध करने का उपयुक्त समय जाड़ा या गर्मी है।

रथाश्वबहुला सेना सुदिनेषु प्रशस्यते।—महाभारत, शांति-पर्व

लड़ने का साधारण नियम यह था कि गज गज से, रथी रथी से, घोड़े घोड़े से, तथा पदाति पदाति से लड़ते थे।

गजो गजेन समरे रथिनं च रथी ययौ।
अश्वोऽश्वं समभिप्रायात् पदातिश्च पदातिनम्॥

—महाभारत, भीष्म-पर्व, अ० ४५

साधारणतः रथ में दो घोड़े जोते जाते थे। महारथियों के रथ में चार घोड़े प्रयुक्त होते थे। कृप, द्रोण, भीष्म और अश्वत्थामा के रथों में चार घोड़े जोते जाते थे।

—महाभारत, उद्योग० ६१

ऋग्वैदिक युग में गधे भी रथ में जोते जाते थे।—ऋग्०, मं० १।३४।९

सांग्रामिक रथ को व्याघ-चर्म या हस्ति-चर्म से आच्छादित करते थे। —भीष्म-पर्व १५५

रथ की सहायता के लिए १० हाथी, १०० घोड़े तथा १००० पदाति सदा सन्नद्ध रहते थे।

—भीष्म-पर्व १५५

रथों में भिन्न-भिन्न रंग के घोड़े जोते जाते थे। ऋक्ष-वर्ण, रजत-वर्ण, सारंग-वर्ण, सौवर्ण-रंग, कृष्ण-वर्ण, तित्तिर-वर्ण और शुकपक्ष-वर्ण के घोड़े अधिकतर रथों में प्रयुक्त होते थे। घोड़ों को हेम-मालाएँ पहनाई जाती थीं। रात के समय रथ पर पाँच दीपक जलते थे। रथी के उपकरण, छत्र, ध्वज, सारथि, त्रिवेणु, चक्र, युग, तूणीर, अनुकर्ष, पताका और चक्ररक्षक थे।

—द्रोण-पर्व, अ० ३६

किसी-किसी रथी को छह अंग-रक्षक दिये जाते थे। युद्ध के पूर्व राजा सेना को अपने वाक्यों से उत्तेजित करता था—"मैं भी आपही लोगों के सदृश वेतन-ग्राही राज्य-सेवक हूँ। इस

राज्य का उपभोग आपके साथ-साथ मैं भी करता हूँ। आपका धर्म है कि मेरे शत्रु का वध करें।"

तुल्यवेतनोऽस्मि भवद्भिः सह भोग्यमिदं राज्यम्। मयाभिहतः परोभिहन्तव्यः।

—कौटिल्य अर्थशास्त्र १०

युद्धक्षेत्र में प्रस्थान करने के पूर्व रथी स्नान कर ईश्वर से प्रार्थना करता था। स्नातकों को दान देता था। कवच पहन मधुपर्क लेता था। कैरातक मधु भी पीता था। अंक में धनुष-बाण लेकर गुरुजनों का आशीर्वाद प्राप्त करता था। कुमारियाँ उसे माला पहनाती थीं। उसपर लाजा-वृष्टि होती थी। —द्रोण-पर्व, अ० ११२

दिव्यास्त्रधारी रथी किसी भी सेना से लड़ सकता था। —शांति-पर्व, अ० ६५

भग्नास्त्र, विपन्न या जिसके चाप की डोरी काट दी गई है, जिसके वाहन मार दिये गये हैं, उसके साथ रथी युद्ध नहीं करता था।

महाभारत, रामायण, ऋग्वेद आदि में रथ-युद्ध का बड़ा ही रोमांचकारी वर्णन मिलता है। रथी पर यंत्रों के द्वारा प्रस्तरादि फेंके जाते थे। पर, इन्द्रास्त्र के द्वारा वे नष्ट-भ्रष्ट कर दिये जाते थे। निवात कवचों के युद्ध में जब राक्षसों ने पर्जन्यास्त्र का प्रयोग किया तब चारों ओर मेघ छा गया और गरजने लगा, जोरों की वृष्टि होने लगी। अर्जुन ने विशोषास्त्र के द्वारा पर्जन्यास्त्र के विकारों को हवा कर दिया। आग्नेयास्त्र का निवारण सलिलास्त्र द्वारा, वायव्यास्त्र का शैलास्त्र द्वारा होता था। —महाभारत, वन-पर्व १७१

रथी को जब गुरुजनों से लड़ना पड़ता था। तब पहले बाणों के द्वारा उनके चरणों का स्पर्श करता था। पश्चात् उनके कर्ण-मूल का स्पर्श करता था। रथी के पार्श्वों में सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्र रहते थे। गदा तलवार, शक्ति को भी निवारित करने की क्षमता उसके आयुधों में थी।

कभी-कभी अनेक महारथी एक बार कुशल अतिरथ को घेरकर उसपर प्रहार करने लगते थे। उद्योग-पर्व में अर्जुन पर एक बार कौरव महारथी भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृप, अश्वत्थामा ने आक्रमण किया—पर संमोहन नाम अस्त्र से अर्जुन ने सब को चेतना-विरहित कर दिया। दिव्य बाणों में वृक्षों को काट डालने, पर्वत को छेद देने की शक्ति थी। अंगद ने त्रिशिरा पर वृक्ष-शिला की वृष्टि की; पर उसने निशित शरों से उन्हें काट गिराया।

स ववर्ष ततो वृक्षान् शिलाश्च कपिकुंजरः।
तान् प्रचिच्छेद संक्रुद्धस्त्रिशिरा निशितैः शरः॥

—रामायण, लंका०, सर्ग ७०।८

राम-रावण के रथ-युद्ध का बड़ा विस्तृत वर्णन वाल्मीकि ने लंका-कांड में किया है—

ततः प्रवृत्तं सुक्रूरं रामरावणयोस्तदा।
सुमहद्द्वैरथं युद्धं सर्वलोकभयावहम्॥

\+ + +

रामश्चिक्षेप तेजस्वी केतुमुद्दिश्य सायकम्।
जगाम स महीं भित्वा दशग्रीवध्वजं शरः॥

स निकृत्तोऽपतद्भूमौ रावणस्यन्दनध्वजः ।
ध्वजस्योन्मथनं दृष्ट्वा रावणः स महाबलः ॥

\+ + +

रामस्य तुरगान् दीप्तैः शरैर्विव्याध रावणः ।
गदाँश्च परिघाँश्चैव चक्राणि मुसलानि च ।
मायाविहितमेतत्तु शस्त्रवर्षमपातयत् ॥

\+ + +

रावणस्य हयान् रामो हयान् रामस्य रावणः ।
जघ्नतुस्तौ तदाऽन्योन्यं कृतानुकृतकारिणौ ॥

—रामा०, लंका०, अ० १०७

सर्वलोकों को भयभीत करने वाला राम-रावण का रथ-युद्ध शुरू हुआ। राम ने रावण के झंडे पर बाण छोड़ा। रावण ने ध्वजा का उन्मूलन देखकर राम के घोड़ों को दीप्त बाणों से बेधा। गदा, परिघ, चक्र, मुसल आदि शस्त्रों की वृष्टि की। राम रावण के घोड़ों को और रावण राम के घोड़ों को मारने लगे। दोनों वीरों के सारथियों ने भी नाना प्रकार की युद्ध-कुशलता प्रदर्शित की—मंडल, वीथी, गति, प्रत्यागति प्रदर्शित की। दोनों रथ एक दूसरे के समीप इस प्रकार पहुँच जाते थे कि रथ की धुरी से धुरी घोड़ों के मुख से मुख मिल जाते थे। पताका में पताका जुट जाती थी।

मंडलानि च वीथीश्च गतप्रत्यागतानि च ।
दर्शयन्तौ बहुविधां सूतौ सारथ्यजां गतिम् ॥
परस्परस्याभिमुखौ पुनरेव च तस्थतुः ।
धुरं धुरेण रथयोर्वक्त्रं वक्त्रेण वाजिनाम् ॥
पताकाश्च पताकाभिः समीयुः स्थितयोस्तदा ॥

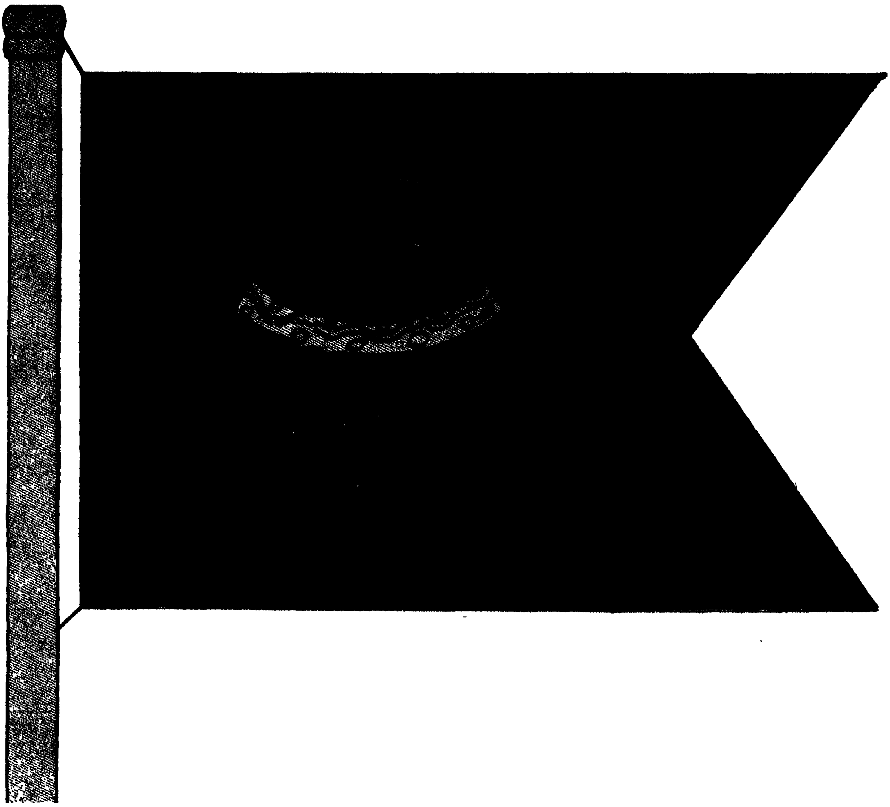
—रामा०, लंका-कांड, सर्ग १०७

कभी राम रावण को बाणों के प्रहार से व्यथित कर देते तो कभी रावण राम को। दोनों की बाण-वृष्टि से अंतरिक्ष भर गया। राम जब पसीने-पसीने हो गये तब मातलि ने कहा, 'हे वीर! अज्ञानी की भाँति तुम युद्ध क्यों कर रहे हो। ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करो।' मातलि के निर्देश से राम ने सूर्यवत् चमकते, अग्नि के तुल्य, पहाड़ों को भेदनेवाले, वज्र के सार से परिपुष्ट, गरुड के विचित्र पंखों से युक्त मर्मघाती ब्रह्मास्त्र रावण पर चलाया। उस बाण ने रावण का हृदय फाड़ डाला। रावण के हाथ से धनुष-बाण गिर पड़ा और वह वीरगति को प्राप्त हुआ।

वामन पुराण में भी रथ-युद्ध का वर्णन मिलता है। अंधकासुर का रथ सहस्र चक्रों से युक्त था। इसमें काले घोड़े जोते जाते थे। —अ० ६।२५।२०

मेरी दृष्टि में रेलवे-गाड़ी-सा यह रथ होगा, जिसमें काले इंजिन लगाये जाते हैं।

प्रह्लाद के रथ में आठ घोड़े लगते थे। —वामण पुराण, अ० ६।३३।३५



ततो गणेशः कलशध्वजस्तु
प्रासेन राहुं हृदये विवेधे ॥

—वामन पुराण, ६८, ३५ ।

पदाति-युद्ध—

पदाति-दल भारतीय-सैन्य का मेरुदंड था। किसी भी युग के राष्ट्र का स्तंभ पद-सेना ही है। गत यूरोपीय युद्ध में लेनिनग्राड पहुँचकर जर्मन-सेना का रूसी पद-सेना से इस प्रकार घोर संघर्ष छिड़ा कि जर्मनों को रूसी पद-सेना ने नाकों चने चबवाये। विकट परिस्थिति में पदाति-दल ही सेना का एकमात्र सहारा होता है। इसी कारण महाभारतकार ने लिखा है—

पदातिबहुला सेना दृढा भवति भारत। —शांति-पर्व

जिस सेना में अधिक पदाति-दल हो, वही दृढ कहलाती है। पद-सेना सभी स्थलों में लड़ने में समर्थ है।

बहुदुर्गा महाकक्षा वेणु-वेत्र-समाकुलाः।
पदातीनां क्षमा भूमिः पर्वतोपवनानि च ॥—शांति-पर्व

.. का भी यही कहना है कि पद-सेना प्रत्येक स्थल में अपना पराक्रम प्रदर्शित करने में समर्थ है।

वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले। —मनुस्मृति, अ० ७

सभी प्रकार के आयुधों का प्रयोग यह सेना कर सकती है। आयुध के अभाव में हाथ, पाँव, मुक्का, घुटना, एँड़ी, लात, नख और दंत से भी आयुध का काम निकाल लेती है। पदाति-युद्ध के वर्णनों से काव्य, साहित्य, इतिहास भरे-पड़े हैं।

रामायणवर्णित पदाति-युद्ध—अकेले राम ने अपने दृढ़ पाँवों पर खड़े हो खर-दूषण की १४००० संख्या की सेना से लोहा लिया था। तुमुल-युद्ध में दूषण ने गदा चलाई। बीच ही में राम ने वाणों से काट गिराया। राक्षस ने परिघ चलाना चाहा। राघवेन्द्र ने परिघ चलाने के पूर्व ही उसकी भुजाएँ तीर से छिन्न-भिन्न कर दीं।

खर ने साल-वृक्ष उखाड़कर राम पर फेंका। तीक्ष्ण वाण से उसे बीच ही में भगवान् ने काट गिराया। ऐन्द्रास्त्र से विद्ध होकर उसका शरीर अग्नि से दग्ध होता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा। —रामायण, अरण्य०, अ० २४

सेना-सहित खरादि के ध्वंस के बाद अकंपन रावण के समक्ष राम के शौर्य का विवरण उपस्थित किया गया है—जलप्लावित नदी के वेग को वाणों से राम रोक सकते हैं। ग्रह-नक्षत्र-सहित आकाश को खंडित कर सकते हैं। समुद्र की बेला को छिन्न-भिन्न कर लोक को डुबो सकते हैं। —रामा०, अरण्य०, ३१

पद-सैनिक निःशस्त्र रहने पर भी रथी का छक्का छुड़ा देते थे। द्रविड़ जटायु ने परों से रावण के नाराच, विकर्ण आदि वाणों को तोड़ डाला, शरीर से कवच छिन्न-भिन्न कर गिरा दिया। उसके रथ के खच्चरों को मार डाला। छत्रधारी राक्षसों को मारकर छत्र गिरा दिया। रावण के सारथि को दाँतों से काटकर क्षत-विक्षत कर दिया और रावण की पीठ पर बैठकर उसके गालों को नखों से चीरने लगा। —रामायण, अरण्य०, अध्याय ५१

बालि-दुंदुभी-युद्ध में मुष्टि, जानु, पद, नख, शिला, वृक्ष आदि का प्रयोग हुआ। आज के संघर्ष में भी मुक्का-मुक्की, घुस्सा-घुस्सी, पटका-पटकी, एँड़ा-एँड़ी खूब चलती है। दाँत-नख के भी प्रयोग होते हैं। पास में लाठी, लकड़ी पड़ी हो, तो उसका भी स्वच्छंद व्यवहार होता है।

सुग्रीव-बालि की लड़ाई, बालि-दुंदुभी की लड़ाई में आदिम संग्राम की झाँकी मिलती है। ऐसे द्वंद्व में प्रबलतर योद्धा अपने विपक्षी को उठा लेता था। उसके शरीर को घुमाता तथा पृथ्वी पर उसे इस वेग से पटकता था कि वह अधमरा हो जाता था। उसकी छाती पर चढ़कर नृशंसता से उसका सिर फोड़ देता, जीभ खींच लेता और आँखें चौपट कर देता था। वध के ढंग भयानक और बर्बर थे। इस प्रकार का युद्ध सभी देशों में प्रचलित था। आज के कोल, भील, मुंडा, उराँव तथा अन्य असभ्य देहाती भी इस विधि को यदा-कदा काम में लाते हैं।

रामायण-महाभारत-युद्ध में बाण-विद्या का इतना विकास हुआ था कि अग्नि, वायु, और पानी की सृष्टि बाणों के द्वारा रणक्षेत्र में होती थी। सपुंख-बाण से राम ने सात तालों को जड़ से गिरा दिया था। सेना के साथ वर्धकि-मंडल और चिकित्सक रहते थे। ये सभी युद्ध की विशेषताओं के जानकार थे। मृत-संजीवनी महौषधि से मृतक जी उठता था। विशल्यकरणी से टूटे शस्त्र भी शरीर से निकाल लिये जाते थे। सुवर्णकरणी रगों में बल का संचार करती थी। संधानी से टूटी हड्डी भी जुट जाती थी। ——रामायण १, लंका, सर्ग ७४·३३

एक कुशल पदाति-धनुर्धर के लिए हजारों योद्धाओं का सामना करना आसान था। परशुराम के साथ कोई संगठित सेना न थी; पर दिव्यास्त्रों का इतना परिज्ञान था कि उन्हें देखते ही दशरथ की अक्षौहिणी सेना प्रकंपित हो गई। ——रा०, बालकांड, सर्ग ७४

कृष्ण ने शिशुपाल की सेना पर, भीष्म ने काशीराज की सेना पर, परशुराम ने साल्व की वाहिनी पर, राम ने खर-दूषण की चमू पर विजय पाई थी।

ऐतिहासिक काल में अपने चुने हुए मुट्ठी-भर वीरों के साथ साइस्ता खाँ की विपुल सेना पर रात के अँधेरे में धावा बोल वीर शिवा ने सब की हेंकड़ी बंद कर दी थी।

रामायण-काल में धनुष-विद्या ध्वंसकारी शस्त्रों में परिगणित होती थी। प्रत्येक सैनिक के लिए इसका अभ्यास आवश्यक था। बाण का विक्षोभ, आदान तथा संधान इसके रहस्य थे। इस विद्या में ऐसी प्रगति हुई थी कि कूप में गिरी अंगूठी को बाण से विद्ध कर वीर अपने पास खींच लेता था।

वामन-पुराण के मतानुसार युद्ध तीन प्रकार के होते थे—

युद्धं लघु चित्रं च सुष्ठु च। —वामन-पुराण, अध्याय ८। ८

प्रारंभिक युग में वाहन पशु या मनुष्य होते थे। इस दिशा में हमें संकेत वामन-पुराण से मिलता है। इन्द्र का वाहन ऐरावत, धर्मराज का महर्षि, वरुण का शिशुमार (भेड़िया) और कुबेर का वाहन नर थे। आज भी धनी लोग नर-वाहन होते हैं। पालकी पर चढ़ते हैं और मनुष्य ही उन्हें ढोते हैं। रिक्शा की सवारी करनेवाले भी नर-वाहन ही हैं।

इसी अध्याय में चन्द्र-रथ के वाहन पाँच सौ हंस, अश्विनी के तुरंग, यक्षों के नर और किन्नरों के सर्प वर्णित हैं। एकादश रुद्रों के वाहन गन्धर्व और सर्पेन्द्र थे। वृष पर भी ये चलते थे। पुराणों में अधिकतर सांकेतिक शब्दों के प्रयोग पाये जाते हैं। अतः सर्पवाहन का तात्पर्य सर्प-पूजक द्रविड़ों से पुराणकार का आशय है। निम्नलिखित सूत्रों पर ही युद्ध-विद्या का प्राच्य विस्तृत हुआ है—

१. किसी भी युद्ध के लिए मोर्चेबन्दी करना आवश्यक है।

२. युद्ध-उद्योग की पूरी व्यवस्था पर ही सफलता अवलंबित है।

३. युद्ध की सफलता सैनिकों की अतुलनीय संख्या पर निर्भर नहीं करती, वरन् प्रत्येक सेना-विभाग के प्रत्येक व्यक्ति की मारने की शक्ति, उसकी शिक्षा, नेतृत्व, धैर्य, संकल्प तथा नैतिक बल पर।

४. शत्रु को किसी भी स्थिति में पता नहीं देना चाहिए कि कितनी संगठित सेना उससे लोहा लेनेवाली है। सैन्य-शक्ति के संबंध में शत्रु को सदा अंधकार में रखना सैनिक की निपुणता है।

५. शस्त्रों की अमोघ प्रयोगशीलता—ऐसे अस्त्र-शस्त्र का और आयुध का प्रयोग जिनकी मार अमोघ हो। शस्त्र ही शत्रु की शक्ति को कुंठित और प्रकंपित करता है।

६. वर्त्तमान-काल में पद-सैनिक भी मोटर-साइकिल का प्रयोग करता है।

७. प्राचीन भारत में नौ-युद्ध का सजीव चित्र देखने में नहीं आता। निवात-कवचों के युद्ध में कतिपय जल-पोत तथा भरत की चित्रकूट-यात्रा में शृंगवेरपुर के निषादराज के सांग्रामिक जल-पोत देखने में आते हैं।

८. प्राचीन भारत के सेनापति और सेना-नायकों की बुद्धि विलक्षण, दृष्टि पैनी और नैतिकता अगाध होती थी।

९. इन दिनों वैज्ञानिक शस्त्रों एवं यंत्रों के आविष्कार से युद्ध के रास्ते में यदि जाल बिछा दिये जायँ, दीवारें खड़ी कर दी जायँ, जिनसे शत्रु की चढ़ाई में रुकावट हो, तो उन्हें (सैपर्स) और (माइनर्स) बात-की-बात में साफ कर देते हैं। आज अनेक प्रकार के राइफल, मेशीनगन, ब्रेन-गन, औटोमेटिक गन आदि प्रस्तुत किये गये हैं। बन्दूक छूटने की स्थिति में हो और सैनिक आहत होकर गिर पड़ा हो, तो गोलियाँ चलती रहेंगी। इन दिनों शत्रुओं को हराने के अनेक साधन अख्तियार किये गये हैं। हाथ से ग्रीनेड फेंक-फेंककर शत्रु पीछे हटाये जाते हैं। आज के संग्राम में मशीनगन तथा राइफल की गड़गड़ाहट, ट्रेंच-मारटर्स की बूम-ध्वनि और ग्रीनेड का फटना, वीरों को चौंधिया देते हैं।

१०. प्राचीन काल के संग्राम में लोहे, ताँबे और सोने आयुध और कवच-निर्माण में व्यवहृत होते थे। इनकी उपादेयता आज और भी बढ़ गई है। पर ऊन, कपास वस्त्रों के लिए; चमड़े जूतों के लिए; मांस, लकड़ी, अन्न, तेल, घी भोजन के लिए—सभी युगों के सैनिकों के लिए समान रूप से आवश्यक हैं। जबतक ये सैन्य को मिलते रहेंगे, युद्ध चलता रहेगा।

११. वर्त्तमान युग में नौ-शक्ति तथा आकाश-यान-शक्ति का आशातीत विकास हुआ है। आजकल अनेक प्रकार के हवाई जहाज देखने में आते हैं—१. लड़ाकू (फाइटर), २. बमवर्षक (बम्बर), ३. अन्वेषक (जो शत्रु के जहाजों का पता लगाते हैं)।

पुरातन भारत में भी हवाई जहाजों का वर्णन मिलता है। रावण के पास पुष्पक-विमान था। विष्णु के पास गरुड-विमान था और इन्द्र को भी विमान प्राप्त था। पर, ऐतिहासिक युग में विमान का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता।

नौशक्ति पूर्णरूपेण संगठित हो गई है। आज भारत को भी युद्धपोत, क्रूज़र, एयर-क्राफ्ट, केरियर आदि प्राप्त हैं। एयरोप्लेन के द्वारा पनडुब्बी जहाजों का पता लगाया जाता है। एयरोप्लेन को देखते ही पनडुब्बी १५ सेकेण्ड में डुबकी मारता है। पुनः १५ मिनट में एयरोप्लेन एक मील का रास्ता तय करता है और बम गिराकर पनडुब्बी को नष्ट कर देता है। भारत को संभवतः पनडुब्बी जहाज प्राप्त नहीं है।

आज के जहाज चाहे हवाई हों या सामुद्रिक, पेट्रोल के सहारे चलते हैं, पर प्राचीन नावें पतवार से ही खेई जाती थीं या पाल के सहारे चलती थीं।

हस्ति-युद्ध

भारतीय चतुरंगिणी सेना का हस्ति-दल प्रधान अवयव था। ऋग्वैदिक युग में ही आर्य हाथी की सांग्रामिक उपादेयता स्वीकृत करने लगे थे। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में 'इभ' और 'वारण' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्वेद के इन्द्र का वाहन ऐरावत ही था।

—ऋग्वेद, ४.४.१, ८.३३.८, १.४०.४

साधारणतः हाथी-युद्ध हाथी से ही होता था। प्रशिक्षित घोड़े भी हाथी से लड़ते थे। पदाति को हाथी से लड़ना विवर्जित था। दिव्यास्त्रधारी योद्धा रथारूढ होकर किसी भी सेना-भाग से लोहा ले सकता था। —कौटिल्य अर्थशास्त्र, खंड ४

हाथी-संग्राम अधिकतर पावस-ऋतु में होता था। महाभारत का शांति-पर्व इस बात का पुष्टि करता है।

पदातिनागबहुला प्रावृट्काले प्रशस्यते।

... .

नीचद्रुमा महाकक्षा सोदका हस्तियोधिनाम्॥

हाथी-सेना पानी, दुर्ग तथा वृक्षों से युक्त स्थलों में बहुत उपयोगी प्रमाणित होती थी। कामन्दक-नीति-शास्त्र भी इस बात का समर्थन करता है।

उर्वरा गम्यशैला च विषमा गजमेदिनी॥

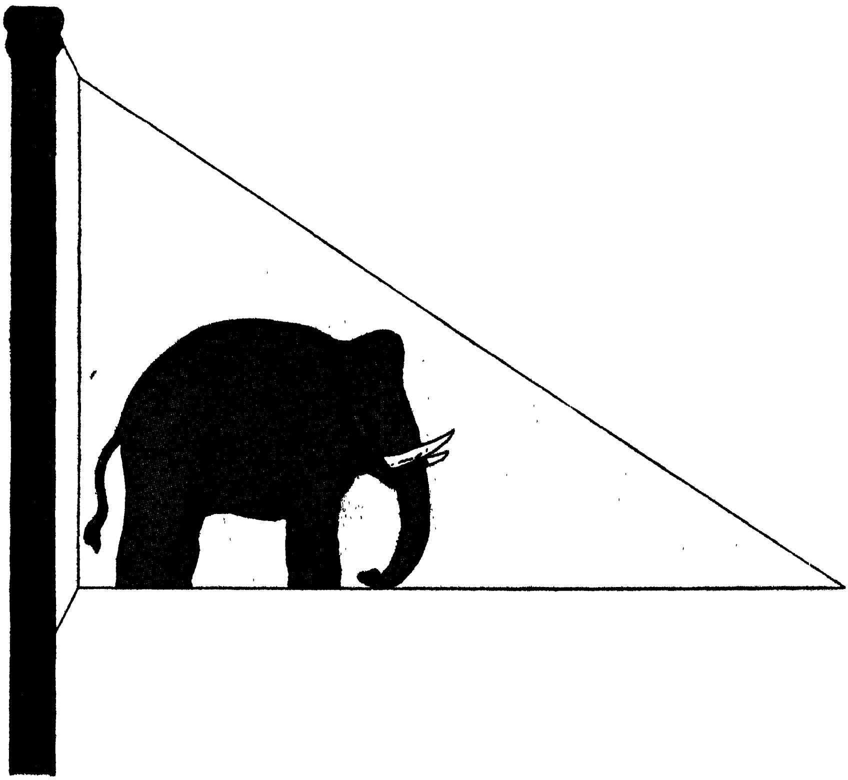
मनु का कहना है कि अथाह जल में नाव से युद्ध करना चाहिए और अल्पोदक में हाथी से।

अनूपे नौद्विपैस्तथा। —मनु०, अध्या०, ७। १९२

जल हाथी के लिए अति आवश्यक द्रव्य है। उन्हें स्नान तथा पान के लिए पर्याप्त जल न मिले, तो उनकी फुर्ती जाती रहती है।

हस्ति-युद्ध में प्राच्य (मागध), दक्षिणात्य, अंग-वंग, ताम्रलिप्तक, निषध, कालिंग बड़े निपुण होते थे। —महाभारत, कर्ण-पर्व, अ० ६०

नदी पार होने में भी हाथी बड़ा सहायक होता था। नदी पार होने में नाग, नाव और पुल ही प्रधान साधन थे। विकट परिस्थिति में हाथी-दल ही आगे चलता था। सड़कों को निरापद करता था। शिविर-निर्माण में पूरा सहायता करता था। सेना के पार्श्वों की रक्षा करता था। जल में घुसकर लड़ना, दुर्भेद्य स्थलों में प्रविष्ट होना, आग लगाना और बुझाना,



यस्य काञ्चनकक्ष्याभिर्हस्तिकक्ष्या परिष्कृतः।
ध्वजः प्रकाशते दूराद्रथे विद्युद्‌गणोपमः॥
एषः वैकर्त्तनः कर्णः।   —महाभारत

भागती सेना को इकट्ठा करना, दृढ़ सेना को भी चीर-फाड़कर छिन्न-भिन्न कर देना, इसके बायें हाथ के खेल थे। दीवार तथा दुर्ग नष्ट करने में भी इसका उपयोग होता था।

—कौटिल्य, खंड १० अ० ४

युद्ध के समय हस्ति-सैनिक के संकेत पर हाथी आदमी, घोड़ों तथा रथों को पकड़कर रौंद देते थे। उन्हें चीरकर दूर फेंक देते थे। —महा०, द्रोण-पर्व ६०

महाभारत के कर्ण-पर्व, अ० ६० में भी हाथी को रथ तोड़ते, घोड़ों को मारते, पैदल को पावों तले कुचलते, सैनिकों को चीरते और दूर फेंकते देखते हैं।

नाराच तथा अर्द्धचन्द्र बाणों से हाथी घायल कर दिये जाते थे।

रात के समय हाथी पर तीन प्रदीप जलाये जाते थे। पुरातन काल में हस्ति-सेना विदेशियों के हृदय में आतंक उत्पन्न करती थी। सेल्युकस ने अपनी पुत्री के बदले चन्द्रगुप्त से ५०० हाथी ले संतोष बाँधा था। तैमूर ने तुर्की-सुलतान पर हाथी-सेना के द्वारा ही विजय पाई थी। आज युद्ध में हाथी का कोई महत्त्व न रहा। वैज्ञानिक शस्त्रों ने उनके कार्यों को अपना लिया और उनकी चोटों के सामने हाथी एक क्षण भी रणक्षेत्र में स्थिर नहीं रह सकते। (वामन-पुराण अ० ६ में) विरोचन का वाहन हाथी ही था।

अश्व-युद्ध—

घोड़े अति प्राचीनकाल से संग्राम में प्रयुक्त होते थे। लादने, चढ़ने, हल जोतने, और रथ खींचने के कार्य में तो आते ही थे। मशीनों के आविष्कार से मोटर, बस, लॉरी, रेल-गाड़ी आदि ने घोड़े का स्थान ग्रहण कर लिया है और यातायात को आसान कर दिया है। मशीनों के युग में घोड़े का महत्त्व बहुत कम हो गया है, तथापि घोड़े बहुत काम के जन्तु हैं।

प्राचीनकाल में तो घोड़े की उपयोगिता अपरिमेय थी। इसी तेजस्वी जन्तु पर अश्वारोही सैनिक का जीवन और संरक्षण निर्भर करता था। सांग्रामिक घोड़े का इतिहास उसके सवार का इतिहास है। घोड़े के संबंध में दो सौ वर्ष पूर्व फेड्रिक महान् कहा करते थे—'संग्राम में विजय प्राप्त करना अश्वारोही सेना की श्रेष्ठता पर अवलंबित है।' कम्बोज, बाह्लीक और सिन्धु के घोड़े रामायण-युग में प्रशंसनीय समझे जाते थे।

काम्भोजविषये जातैर्बाह्लीकैश्च हयोत्तमैः।
वनायुजैर्नदीजैश्च पूर्णा हरिहयोत्तमैः॥ — राम०, बाल०, सर्ग ६

अकर्दमामनुदकाममर्यादामलोष्टकाम्।
अश्वभूमिं प्रशंसन्ति ये युद्धकुशला जनाः। —महाभारत, शांति-पर्व

कीचड़, जल तथा ढेले-पत्थर से रहित स्थान अश्वारोही के लिए प्रशंसनीय समझा जाता है। सांग्रामिक घोड़े सोने तथा लोहे के कवच से आच्छादित किये जाते थे।

जीते हुए स्थलों पर, शिविर तथा जंगल में सर्वत्र अश्वारोही सैनिक ही पहरा देते थे। शत्रुओं के दल में जो पदार्थ या निक सैसहायतार्थ आते थे, उन्हें हय-दल ही नष्ट कर देता था। सेना पर अनुशासन अश्वारोही सैनिक ही रखते थे। हय-दल सेना की पंक्ति बात-की-बात में आगे बढ़ा देता था। सेना के पार्श्वों की रक्षा भी यही करता था।

प्रथम आक्रमण अश्व-दल ही करता था। शत्रु-दल को छिन्न-भिन्न कर देना, उन्हें रौंदना, उनके कोष को हटा लेना, राजकुमारों को गायब कर देना, शत्रु के पीछे धावा करना और खदेड़ मारना, कायरों को दूर भगाकर खेत को साफ कर देना हय-दल के ही काम थे।

युद्ध में भाग लेने के लिए सैनिक गोह के चमड़े के बने अंगुलित्राण, लोहे के बने शिरस्त्राण और कांचन कवच धारण करते थे। सधनुष वीर कंधे पर तूणीर बाँधे, कमर से तलवार लटकाते, घोड़े पर सवार होते थे। सैनिक भाले का भी प्रयोग करते थे।

अश्वमेध राज्य का बड़ा यज्ञ-कर्म था। इसके द्वारा राजा मंडलेश्वर प्रख्यापित होता था। साम्राज्य-संस्थापन का यह प्रथम सोपान था। ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक युगों में इसका प्रचलन था। राम, युधिष्ठिर, प्रागैतिहासिक काल के अश्वमेधकर्त्ता थे। ऐतिहासिक युगों में पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त-युग से लेकर पृथ्वीराज-युग तक इसका प्रचलन देखने में आता है। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि अश्वमेध का वर्णन ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर हुआ है। —ऋग्वेद-मंडल १०। ६१। १४

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनये चारुमग्नये॥

यज्ञाग्नि में घोड़ों, बली वृषों और दुर्बल मेषों की अश्वमेघ-यज्ञ में बलि दी जाती है। ऋग्वैदिक युग में घोड़ियाँ भी सांग्रामिक रथ में जोती जाती थीं। —ऋग्०, मं० ६।८६।३७

राजतरंगिणी-युग तक तुमुल-तुरंग-युद्ध का उल्लेख मिलता है। प्रथम आक्रमण घोड़े या हाथी से ही होता था।

आज भी अश्वारूढ़ सैनिकों के रूप में पृथ्वीराज, राणा प्रताप, शिवाजी, रणजीत सिंह, झाँसी की रानी हमारे हृदय-पटल पर अमिट रूप से अंकित हैं।

ऋग्वेद, मं० १, सूक्त १६२ के २२ मंत्र घोड़े पर ही प्रणीत हुए हैं। ऋषि कहता है—हम यज्ञ में देवजात और द्रुतगति अश्व के वीर-कर्म का कीर्त्तन करते हैं। इसलिए मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, वायु हमारी निंदा न करें।

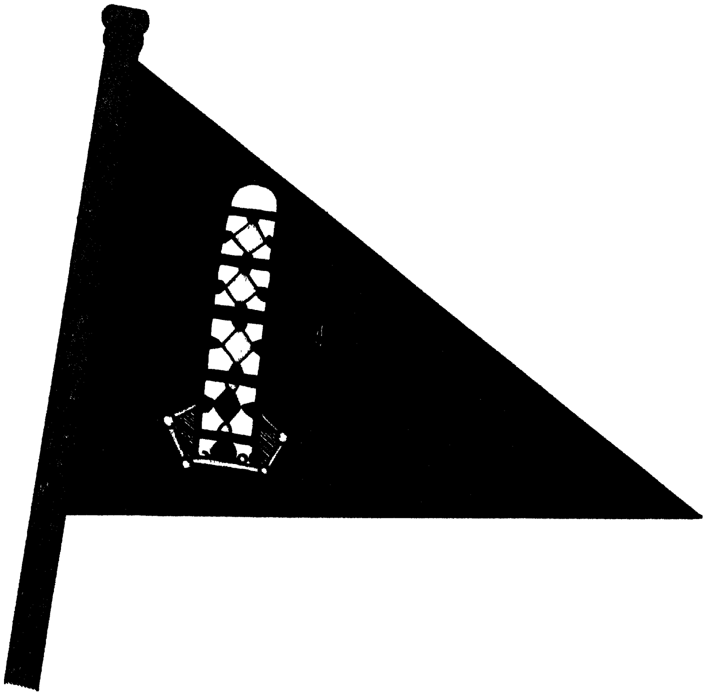
मानो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्रः ऋभुक्षा मरुतः परिख्यन्।
यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि॥

जहाँ अश्व गया था, जहाँ बैठा था, जहाँ लेटा था, जिससे उसके पैर बाँधे गये थे, जो उसने पिया था, जो घास उसने खाई थी, सभी देवों के पास जायँ।

निक्रमणं निषदनं विवर्तनं यच्च पड्बीशमर्वतः।
यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु॥१४॥

मल्ल-युद्ध—

मल्ल-युद्ध बाहु-युद्ध भी कहलाता है। अति पुरातन काल से इस विद्या का अभ्यास आर्य-जाति करती आ रही है। आज भी भारतीय मल्ल अपना स्थान विश्व के मल्लों में रखते हैं। हनुमान, कुंभकर्ण, जरासंध, भीम, दुर्योधन, बलराम, शल्य, काका कान्ह अपने-अपने युगों के विश्व-विश्रुत पहलवान थे। राज-दरबारों में मल्लों को रखने की बलवती प्रथा थी।



स यूपः काञ्चनो राजन् सौमदत्ते विराजते।
—(महा० द्रोण०)

यूप-यज्ञीय स्तंभ (*Sacrificial Post*)

गिरिव्रज (गिरियक) में जरासंध का अखाड़ा आज भी शताब्दियों का इतिहास लिए खड़ा है। मत्स्यराज विराट् (आधुनिक अलवर) के यहाँ भी अनेक मल्ल थे जिनमें कीचक सर्वश्रेष्ठ था। शरीर के अंग-प्रत्यंग के विकास के लिए मल्लविद्या बड़ी उपयोगी है।

हमारे मल्ल ऐसे वीर होते थे जो हाथियों के पछाड़ने में भी संकोच नहीं करते थे। भागवत-पुराण, दशम-स्कंध, अध्याय ४३ और ४४ में मल्ल-युद्ध का रोमांचकारी वर्णन मिलता है। मल्ल-युद्ध प्रारंभ होने के पूर्व दुंदुभि बजती थी। उसके निर्घोष सुनकर रंगशाला दर्शकों से भर जाती थी। मथुरा में कंस ने रंग-द्वार पर कुवलयाश्व गज को राम-कृष्ण को रोकने के लिए अम्बष्ठ महावत के अधीन खड़ा कर दिया था। वह कृष्ण और बलराम को रंगशाला में आने नहीं देता था। कृष्ण ने हाथी की पूँछ पकड़कर २५ धनुष पीछे हटा दिया और दोनों भाइयों ने उसे मार डाला। पहले उसकी सूँड उखाड़ ली, पूँछ छिन्न-भिन्न कर दी और दाँत उखाड़ लिये। हाथी के दाँतों से महावत का वध कर दिया। हाथी का वध कर दोनों भाई जब रंग-शाला में गये, तब चाणूर और मुष्टिक पहलवानों ने मल्ल-युद्ध के लिए दोनों भाइयों को चुनौती दी। कृष्ण तथा चाणूर और बलराम तथा मुष्टिक के बीच के मल्ल-युद्ध बड़े ही लोमहर्षक थे।

कृष्ण ने चाणूर के दोनों हाथों को अपने हाथों से बाँध दिया और उसके पाँवों को अपने पाँवों से, घुटनों को घुटनों से, सिर को सिर से, छाती को छाती से बजराने लगे। कभी एक-दूसरे को ऊपर उठाकर घुमाने लगता, कभी दूर फेंक देता, कभी परिभ्रामण करता तो कभी अवपातन। उत्सर्पण तथा अपसर्पण के द्वारा एक दूसरे की गति को अवरुद्ध कर देता था। उत्थापन, उन्नयन, चालन, आदि स्थापन प्रयोगों द्वारा एक दूसरे को मात कर देता था। कभी-कभी वज्रवत् निष्ठुर मुक्कों के द्वारा श्येन-वेग से एक दूसरे की खबर लेता; पर वीर-मुष्टि के वज्रवत् प्रहार से भी विचलित नहीं होता था।

अन्त में भगवान् कृष्ण ने चाणूर की दोनों भुजाओं को पकड़कर खूब घुमाया और पृथ्वी पर इस वेग से पटका कि उसके प्राण-पखेरू सदा के लिए उड़ गये।

हस्ताभ्यां हस्तयोर्बध्वा पद्भ्यामेव च पादयोः।
विचकर्षतुरन्योन्यं प्रसह्य विजिगीषया॥
अरत्नी द्वे अरत्निभ्यां जानुभ्यां चैव जानुनी।
शिरः शीर्ष्णोरसोरस्तावन्योन्यमभिजघ्नतुः॥
परिभ्रामण विक्षेपपरिरम्भावपातनैः
उत्सर्पणापसर्पणैश्चान्योन्यं प्रत्यसन्धताम्॥
उत्थापनैरुन्नयनैश्चालनैः स्थापनैरपि।
परस्परं जिगीषन्तावपचक्रतुरात्मनः॥

—भागवत, स्कन्ध १०, अ० ४४

सिकन्दर के इतिहास-लेखकों का साक्ष्य है कि आकार तथा पराक्रम में सभी एशियाइयों से भारतीय वीर श्रेष्ठतम थे।[१]

"Of all the Asiatics the Indians were Superior in strength and stature."
—Arrian in Alexander by Macrindle T. P. 85

इसका प्रधान कारण यही था कि भारतीय वीर शरीर का विकास बाल्यावस्था से ही करते थे। भारत-भूमि में दूध, अन्न और फल की प्रचुरता थी।

मल्ल-युद्ध में आयुध-प्रयोग—मल्ल-युद्ध में पहले तो शरीर के अवयव ही आयुध का काम करते थे; पर पीछे गदा का भी प्रयोग होने लगा था। दुर्योधन-भीम तथा भीम-जरासंध के मल्ल-युद्धों में गदा का प्रयोग पूर्णरूपेण हुआ था। गदा-युद्ध में दोनों प्रकार के शस्त्र प्रयुक्त होने लगे थे—आक्रमणकारी आयुध और संरक्षक आयुध।

भीम-दुर्योधन के गदा-युद्ध में सैनिकों के सिर पर शिरस्त्राण और शरीर पर सौवर्ण कवच रहते थे। —महाभा०, शल्य-पर्व, अ० ५६। १४

गदा-युद्ध में नाभि के नीचे चोट पहुँचाना विवर्जित था, पर व्यवहार में यह नियम पूर्णतः अनुसृत नहीं होता था। जरासंध तथा दुर्योधन के वध में इस नियम का उल्लंघन पाया गया।

मल्ल-युद्ध को द्वंद्व-युद्ध भी कहते थे। काल की प्रगति के साथ इस मल्ल-युद्ध-विद्या में युद्ध-कौशल का भी समावेश हुआ। विचित्र मंडल लेना, विविध स्थान ग्रहण करना, गोमूत्रक चित्र की भाँति आगे बढ़ना और हटना, तिरश्चीनगति, वक्रगति, प्रहारों का वर्जन तथा मोक्ष, परिधावन, अभिद्रवन, परावृत, अपावृत, अपद्रुत, अवप्लुत, उपन्यस्त, अपन्यस्त प्रभृति युद्ध-संबंधी कौशल थे। —रामा०, लंकाकांड, सर्ग ४१,

मल्ल-युद्ध में प्रवीण 'महायोद्धा' कहलाते थे। वे हाथी को पटक देते थे, वृक्षों को उखाड़ लेते थे, घोड़े जोते हुए रथ को उठाकर पृथ्वी पर इस श्येन-वेग से पटकते थे कि वह चूर-चूर हो जाता था। महाभारत, द्रोण-पर्व, अध्याय १२८ में भीम कैरातक मधुपान कर तथा मधुपर्क लेकर अर्जुन की टोह लेने चले। सेनापति द्रोण ने बाणों से इन्हें व्यथित कर व्यूह में घुसने से रोका। इसपर क्रुद्ध होकर भीम रथ से उछल पड़े और द्रोण के रथ को उठाकर घोड़ों-सहित इस प्रकार पृथ्वी पर पटका कि वह चूर-चूर हो गया। द्रोण जान बचाने के लिए रथ से उछल पड़े।

नवाँ परिच्छेद

संग्राम-समिति और व्यूह-रचना

पुरातन भारतवर्ष में किसी भी संगठित राज्य के संचालन के लिए अनेक विभाग होते थे। महाभारत में विभाग को टीकाकार नीलकण्ठ ने तीर्थ कहा है। सभापर्व में इन १८ विभागों का उल्लेख मिलता है—(१) मंत्री, (२) पुरोहित, (३) युवराज, (४) चमूपति, (५) द्वारपाल, (६) अन्तर्वेशिक, (७) काराध्यक्ष, (८) कोषाध्यक्ष, (९) सन्निधाता, (१०) प्रदेष्टा (जिसके हाथों में दीवानी और फौजदारी दोनों विभाग थे), (११) नगराध्यक्ष, (१२) कार्य-निर्माणकृत्, (१३) धर्माध्यक्ष (लार्ड-चीफ जस्टिस), (१४) सभाध्यक्ष, (१५) दण्डपाल, (१६) दुर्गपाल, (१७) राष्ट्रान्तपाल, (१८) अटवीपाल।

राजतरंगिणी, तरंग १, श्लोक ११६ में राज्य के सात प्रधान अंगों का उल्लेख है—

(१) धर्माध्यक्ष, (२) बलाध्यक्ष, (३) कोषाध्यक्ष, (४) चारपति, (५) दूत, (६) पुरोधा और (७) दैवज्ञ।

अन्यत्र भी स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और बल ये राज्य के सप्ताङ्ग कहे गये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सेना राज्य का प्रधान अंग थी। युद्ध के समय संग्राम-समिति कायम होती थी। देवी-भागवत में संग्राम-समिति का स्पष्ट विवरण देख पड़ता है। इस समिति में यम, वायु, वरुण, कुबेर, बृहस्पति तथा अन्य देव उपस्थित थे। इन्द्र ने समिति के सामने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि दानवों से संधि की जाय या संग्राम ठाना जाय। दुर्बल शत्रु की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। विशेषतः वह शत्रु तो किसी भी स्थिति में उपेक्षणीय नहीं है, जो सदा प्रयत्नशील और स्वावलंबी है। दानव छल तथा कपट से भरे हैं, अतः उनसे संधि करने में विचारना आवश्यक है। शत्रु की शक्ति का पूरा पता पाने पर ही संधि या संग्राम की बातें करना उचित होगा। इसलिए, शत्रु-सेना में साधु, द्रुतवेग, निःस्पृहचर भेजे जायँ, जो शत्रु की शक्ति निर्णीत करने में समर्थ हों। वे निम्नस्थ बातों का पता लगाकर शीघ्र आवें—

(१) शत्रु-सेना की शक्ति, (२) सेनापति और सेना-नायकों की विशेषताएँ, (३) सैन्य-विन्यास तथा प्रगति। इन सभी बातों का पता लगते ही हम निर्णय करें कि दानवों से लोहा लिया जाय या दुर्ग के भीतर अपनी रक्षा की हम तैयारी करें। कार्य करने के पूर्व उसके फलाफल पर पूर्णतः विचार करना आवश्यक है।

इन्द्र की बात सुन सेनापति कार्त्तिकेय बोले कि गुप्तचरों के द्वारा सारी बातों का पता लग चुका है और उन्होंने समिति के समक्ष चर-विवरण उपस्थित किया। सेनापति का चर-विवरण सुन बृहस्पति बोले कि मनुष्य को कर्त्तव्य करने का अधिकार है। जीवन में सुख-दुःख आते ही हैं, पर विपदाओं से भिड़ना पौरुष है और भीत होकर भागना कापुरुषता है। जो धीर हैं, वे सुख-दुःख की परवा नहीं करते। अधीर ही सुख-दुःख के फन्दे में पड़ते हैं। अतः हम राक्षसों

से लड़ने के लिए तैयार हो जायँ। हार-जीत अनिवार्य है। यदि हम जीतें भी तो आनन्द की कोई बात नहीं और हारें भी तो अनुताप की कोई गुंजाइश नहीं। निश्चित कर्त्तव्यों के पालन में ही आनन्द निहित है। —देवी-भागवत, सर्ग ५, खण्ड ५

संग्राम-समिति का कार्यक्षेत्र—संग्राम-समिति में संधि, विग्रह (लड़ाई), यान (चढ़ाई), आसन (तरह देना), द्वैधीभाव (शत्रु-सेना में फूट पैदा करना), संशय (अपने को कमजोर बताकर या पीछे हटकर शत्रु को धोखे में डालना)—इन छह बातों पर विचार करना होता था।

भगवान् मनु ने (अध्याय ७, श्लोक १४७–१५१) कहा है कि मंत्रणा पर्वत-स्थित राज-भवन की छत पर करनी चाहिए या किसी निभृत स्थान में। मंत्रणा करने का समय भोजनोपरान्त मध्याह्नकाल या मध्यरात्रि है। इस समय चित्त स्थिर रहता है।

यान—चढ़ाई दो प्रकार की होती थी—शत्रु को संकट में पड़ा देखकर तत्काल उसपर आक्रमण करना चाहिए। यदि अपना पक्ष निर्बल हो, तो अन्य राज्यों से मैत्री कर उनके सैनिकों के साथ शत्रु पर धावा बोलना चाहिए।

आसन भी दो प्रकार का होता था—जो शासक अपने कुत्सित कर्मों के कारण लोकप्रिय नहीं है और न वह लड़ने के साधन ही रखता है, वह शत्रु से न भिड़े। जब किसी राज्य के मित्र-शासक उसे युद्ध न करने की राय दें, तब वह न लड़े।

द्वैधीभाव के भी दो प्रकार हैं—सेनापति के आदेशानुसार अपने कार्य की सिद्धि के लिए किसी एक जगह में सेना इकट्ठी करना और अपने किसी अन्य दुर्ग में सेना लेकर स्वयं उपस्थित रहना।

संशय भी दो प्रकार का होता है—शत्रु जब कष्ट देने लगे तब उसे दिखाने के लिए किसी बलवान् राजा का सहारा लेना प्रथम प्रकार का संशय है। शत्रु से दंड पाने के डर से किसी प्रतापी राजा के आश्रय लेने की प्रसिद्धि करना दूसरे प्रकार का संशय है।

संधि भी दो प्रकार की होती है—दूसरे राजा के संग मिलकर जो युद्ध तत्काल या भविष्य की फलाशा से किया जाता है, उसे समानकर्मा संधि कहते हैं। पुनः जो परस्पर की मंत्रणापूर्वक अलग-अलग लड़ाई की जाती है, वह असमानकर्मा संधि है।

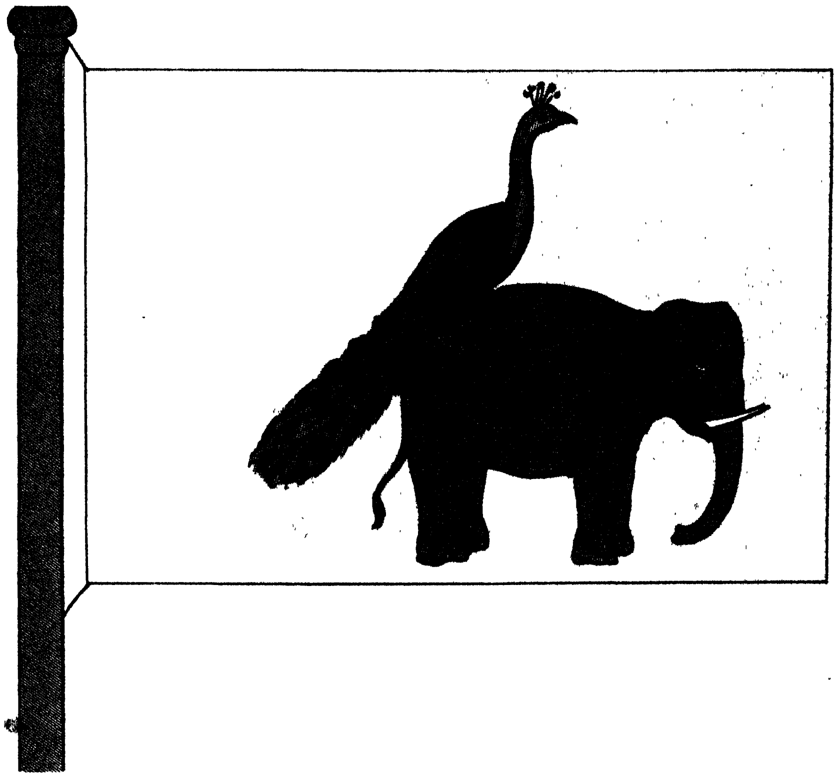
विग्रह भी दो प्रकार का होता है—शत्रु को असावधान या क्षीणबल जानकर उसपर आक्रमण करना प्रथम प्रकार का विग्रह है। अपने सहायक अथवा मित्र का अपमान सुनकर उसका प्रतिरोध करने के लिए आक्रमण करना दूसरे प्रकार का विग्रह है।

— मनु० ७। १६०–१६७

युद्ध-परिषद् की कार्यवाही के संबंध में महाभारत, शांति-पर्व, अध्याय १३८ में भी पूरा निर्देश है—

१. देश तथा काल पर विचार कर कार्य-अकार्य को ध्यान में रखते हुए प्राणों की रक्षा के लिए शत्रु से संधि करनी चाहिए।

२. प्राण संकट में आ पड़ने पर भलाई चाहनेवाले राजा को चाहिए संधि कर ले।



शल्यस्य तु महाराज राजते द्विरदो महान् ।
केतुः काञ्चञ्चित्राङ्गैर्मयूरैं रूपशोभितः ॥
—(महा० द्रोण०)

३. जो शत्रु से भी संधि करता है तथा मित्र से कभी नहीं झगड़ता, वही सफलता प्राप्त करता है।

यस्त्वमित्रेण संधत्ते मित्रेण च विरुध्यते।
अर्थयुक्तिं समालोक्य सुमहद्विन्दते फलम् ॥

राजनीति में न कोई किसी का मित्र है, न कोई किसी का शत्रु। मित्र तथा शत्रु सभी अर्थ की दृष्टि से आबद्ध हैं। —महाभारत, शांति-पर्व १३८

प्राचीन भारत में सभी प्रकार से छानबीन कर युद्ध छेड़ा जाता था। युद्ध करने के पूर्व शासक को देखना चाहिए कि प्रजा का रुख कैसा है। यदि प्रजा प्रसन्न है और शासक के लिए मर मिटने के लिए तैयार है, तो शासक को युद्ध के लिए कमर कसना चाहिए। मंत्री, सेना तथा सेना के पदाधिकारियों के विश्वास को भी प्राप्त करना उसका प्रथम कर्त्तव्य है। एक सेनानायक के मारे जाने पर जब दूसरा निर्वाचित होता था, तब वह विधिवत् पूजित होकर रणक्षेत्र में भेजा जाता था।

१. रेशमी वस्त्र से विभूषित होकर उदुम्बर (गूलर, डूमर) के आसन पर बिठाया जाता था।
२. सोने के कलश में रखे सुगन्धित तथा औषध-युक्त जल से अभिषिक्त होता था।
३. राजा स्वयं स्नान कराता था। अन्य सभी सरदार उसकी प्रशंसा करते थे।
४. वह ब्राह्मणों को दान देता था।
५. सूत (मागध), वन्दीगण विजय-गान करते थे और ब्राह्मण सामगान।
६. रणवाद्य बजते थे।
७. अन्त में समिति के सभी सदस्य समवेत स्वर में—'सेनापति विजयी हों' का घोष करते थे। —महा० कर्ण-पर्व, अ० ७। ४६-५३

महाभारत के द्रोण-पर्व में संग्राम-समिति के अनेक रूप देखने में आते हैं—गुरु द्रोण की मृत्यु पर पाण्डवों के शिविर में संग्राम-समिति बैठी। अर्जुन ने गुरुवध के लिए धृष्टद्युम्न को दोषी ठहराया, कारण अस्त्र-त्याग करने पर भी निराहार द्रोण को उसने मारा था। समिति में भीमादि धृष्टद्युम्न के पक्ष का समर्थन कर रहे थे और सात्यकि आदि अर्जुन का। विवाद इतना बढ़ा कि सात्यकि गदा लेकर धृष्टद्युम्न पर टूट पड़े। कहने का तात्पर्य यह कि संग्राम-समिति में न्याय-अन्याय और धर्म-अधर्म तथा संगत घटनाओं पर भी विचार होता था।

संग्राम-समिति में कभी-कभी व्यंग्योक्ति भी होती थी। कृप ने कर्ण की गर्वोक्ति पर कहा था—धनुषा फल्गुनः शूरः कर्णः शूरो मनोरथैः। क्षत्रिय बाहु-शूर होते हैं। ब्राह्मण वचन-शूर। अर्जुन गाण्डीव के कारण शूर हैं, पर कर्ण मनोरथ-शूर हैं।

—द्रोण-पर्व १५६।१२३

सेना के सभी साधनों को पर्याप्त परिमाण में जुटाना भी परमावश्यक है। विजयेप्सु दल को चाहिए कि उसके शत्रु अधिक न हों और अपने सहायक मित्रों की संख्या अधिक हो।

चढ़ाई करने का समय—प्राचीन भारत में अगहन, चैत तथा फागुन के महीने संग्राम के लिए अधिकतर उपयुक्त समझे जाते थे। इन महीनों में घोड़े, हाथी आदि के लिए पर्याप्त

खाद्य-सामग्री मिल सकती थी। यदि शत्रु संकटापन्न हो तो किसी भी मास में धावा बोल देना चाहिए। —मनु० ७। १८१-१८३

युद्ध छिड़ने पर भी युद्ध-समिति के निर्देशानुसार दुर्गों तथा राज्य की रक्षा के लिए सेना की एक टुकड़ी योग्य सरदार के अधीन रखी जाती थी। सैन्य-व्यूह का भार नासीर में स्थित सैन्य-नायक पर युद्ध-परिषद् रख छोड़ती थी। रण-क्षेत्र में आवश्यकतानुसार व्यूहों की रचना होती थी। व्यूहों में सेना धावा बोलती थी और व्यूह ही में लड़ती थी।

सैनिकों की रक्षा तथा संग्राम में सफलता-प्राप्ति के लिए व्यूह-रचना होती थी। सेना जब कूच करने लगती थी, नदी तथा अरण्य पार होती थी, पर्वत और दुर्ग पर चढ़ाई करती थी, शत्रु से नदी-तट पर भिड़ती थी, तब व्यूह-रचना की नितान्त आवश्यकता महसूस होती थी। भयंकर युद्ध छेड़ने के पूर्व भी कुशल सेना-नायक व्यूह रचते थे। प्रबल विरोधी दल से लड़ने के समय तो व्यूह-रचना परमावश्यक था।

युद्ध के लिए सैन्य-रचना का नाम व्यूह है। स्थानविशेष में सैनिक आवश्यकता के अनुसार व्यूह की स्थापना होती है। सेना को व्यूह रूप में स्थापित करने से शत्रु-पक्ष को शीघ्र भेद नहीं मिल सकता।

व्यूह के भेद—

व्यूह के यथार्थतः चार भेद हैं—दण्ड, भोग, मण्डल और असंहत। इन चारों के भी अनेक भेदोपभेद हैं। वक्र-भाव में सैन्य-रचना का नाम दण्ड-व्यूह है। पश्चात्-पश्चात् करके जो सैन्य-विन्यास किया जाता है, उसे भोग-व्यूह और चारों ओर घेरे की तरह सैन्य-स्थापन करने को मण्डल-व्यूह कहते हैं। सैनिकों को पृथक्-पृथक् भाव में रखने को असंहत-व्यूह कहते हैं। —अमर टीका भारत

मनु में दण्ड, शकट, वराह, सूची, गरुड़, पद्म, वज्र, मकर आदि व्यूहों का उल्लेख है। —मनु० अ० ७। १८७-१९१

युद्ध-यात्रा के समय चारों ओर से शत्रु के आक्रमण का भय हो तो सेना को चक्र-व्यूह में संचालित करना चाहिए। पीछे से भय की शंका हो तो शकट-व्यूह रचना चाहिए। दो ओर से भय हो—तो वराह या मकर-व्यूह। आगे और पीछे भय का कारण हो तो गरुड-व्यूह और केवल सामने में भय रहे तो सूची-व्यूह की रचना कर कूच करना चाहिए। जिस ओर भय की शंका हो, उसी ओर सैन्य का विस्तार करना चाहिए। राजा को पद्म-व्यूह रचकर बीच में रहना चाहिए।

स्मरण रखना होगा कि प्रत्येक संग्राम में राजा सम्मिलित होता था। अभियान के समय सेना के अग्रभाग में चुने हुए योद्धाओं के साथ सेना-नायक रहता था, केन्द्र में स्वामी, कुलाल और कोष, दोनों पार्श्वों में अश्व-दल, घोड़ों के पार्श्व में रथ, रथ के दोनों ओर हाथी, हाथी के दोनों ओर आटविक सैन्य। बुद्धिमान् सेनाध्यक्ष सबसे पीछे रहते थे। यथा—

आटविक सैनिक	आटविक सैनिक
हाथी	हाथी
रथ	रथ
अश्व	अश्व

सेनाध्यक्ष	केन्द्र-स्वामी-कोष	सेनानायक चुने हुए वीरों के साथ
अश्व		अश्व
रथ		रथ
हाथी		हाथी
आटविक सैनिक		आटविक सैनिक

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल तथा शूरसेन के निवासी सैनिक बड़े वीर होते थे। व्यूह के अग्रभाग में वे ही रखे जाते थे।

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पांचालान् शूरसेनकान्।
दीर्घाल्लघूंश्चैव नरानग्रनीकेषु योजयेत्॥ —मनु० ७। १६३

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल एवं मथुरा के सैनिकों को सदा व्यूह के आगे रखें, चाहे वे नाटे हों या लम्बे।

'नीति-मयूख' में व्यूह के छह भेद बताये गये हैं—मकर, श्येन, सूची, शकट, वज्र और सर्वतोभद्र।

'अग्नि-पुराण' में दस प्रधान व्यूहों का वर्णन मिलता है। गरुड़, मकर, श्येन, अर्द्धचन्द्र, वज्र, मण्डल, सर्वतोभद्र सूची इत्यादि। हाथी, घोड़ा, रथ, और पदाति सेनाओं की विशेष प्रणाली के अनुसार जो स्थापना होती है, वही व्यूह है। व्यूह के वस्तुतः दो भेद हैं—१. प्राण्यंगरूप, २. द्रव्य-रूप। किसी प्राणी की आकृति के अनुसार जो व्यूह रचा जाता है, वही प्राण्यंग है। द्रव्य की आकृति के अनुसार जो व्यूह रचा जाता है, वह द्रव्य-रूप कहलाता है। किसी-किसी के मत से भोग और मण्डल-व्यूह के दो भेद हैं। दण्ड-शकट, मकर आदि भोग-व्यूह हैं और वज्र, पद्म आदि मण्डल-व्यूह।

सेना को पाँच भागों में विभक्त कर केवल एक या दो भाग से युद्ध करना चाहिए। शेष तीन भागों से व्यूह की रक्षा करनी चाहिए। व्यूह के मध्यस्थल में स्त्री, कोष, धनागार, राजा, खाद्य-द्रव्य तथा उसके रक्षक रहें। व्यूह के दोनों पार्श्वों में अश्वारोही, अश्वारोही के पार्श्व में रथारोही और रथ के पार्श्व में पदाति सैन्य को सजाना चाहिए। यहाँ हाथी का परिहार करता है। व्यूह-रचना के लिए विशेष वाद्य और संकेत-वाक्य का प्रयोग होता था। इन विशेष वाक्यों तथा संकेत-वाद्यों का ज्ञान केवल सेनापति और सैनिकों को मालूम था।

सेनापति के संकेत से सभी सेना पूर्व-शिक्षानुसार कार्य करने के लिए प्रस्तुत हो जाती थी। एक क्षण भी कोई विलम्ब नहीं करता था। संकेत-वाक्यों के अनुसार सैनिक सम्मेलन, प्रसरण, प्रभ्रमण, आकुंचन, यान, प्रयाण, अपयान, पर्याय रूप में साम्मुख्य, समुत्थान, लुंठन, अष्टदलाकार में अवस्थान, चक्राकार में वेष्टन, सूचीतुल्य, शकटाकार, अर्द्धचक्राकार, परस्पर पृथक् होना, थोड़ा-थोड़ा करके या पर्याय-क्रम से पंक्ति-प्रवेश, भिन्न-भिन्न रूपों में अस्त्र-शस्त्र का धारण, संधान, लक्ष्य-भेद, अस्त्र-शस्त्र-निपात, शीघ्र-संधान, और आत्म-रक्षा, शीघ्र अपने को छिपा रखना और शत्रु के प्रति अस्त्र-निक्षेप, एक-एक दो-दो रूप से एक साथ जाना, पीछे की ओर हटना या सामने जाना—ये सभी काम संकेत-वाद्य और ध्वनि द्वारा किये जाते थे। —विश्व-कोष

व्यूह की किसी भी प्रणाली में सेना खड़ी होकर विपत्तियों से लोहा लेती थी।

दो-चार व्यूहों की रचना पर प्रकाश डालना उचित होगा। क्रौंच-व्यूह—क्रौंच बगला को कहते हैं। जिस प्रकार बगला पंक्ति बाँधकर उड़ते हैं, सेनापति अपनी सेना को बगलाकार पद्धति में सजाता है। सैन्य-संख्या के परिमाणानुसार सेना सजाई जाती थी।

महाभारत में अनेक युद्ध-कौशल व्यूह-रचना के रूप में प्रदर्शित किये गये थे—

क्रौंच-व्यूह— अर्जुन क्रौंच-व्यूह के रक्षक थे।
द्रुपद—क्रौंच का सिर।
कुन्तिभोज और चैद्य—नेत्र
दाशार्णक, किरात—ग्रीवा
युधिष्ठिर, निषादादि—पक्षी की पीठ
भीम तथा धृष्टद्युम्न—पाँख
द्रौपदेय, अभिमन्यु, सात्यकि—पक्षी का दक्षिण डैना।
अग्निवेश, नकुल, सहदेव आदि—पक्षी का वाम डैना।
हाथी—प्रपक्ष (फेदर्स)
कैकयों के साथ विराट्—जघन।

श्येन-व्यूह—श्येन बाज को कहते हैं। इस व्यूह का अग्रभाग सूक्ष्म, मध्य न लम्बा न चौड़ा और पार्श्व-भाग चौड़ा होता था। विराट् राज्य में त्रिगर्त्तों से लड़ने के लिए युधिष्ठिर ने श्येन-व्यूह रचा था।

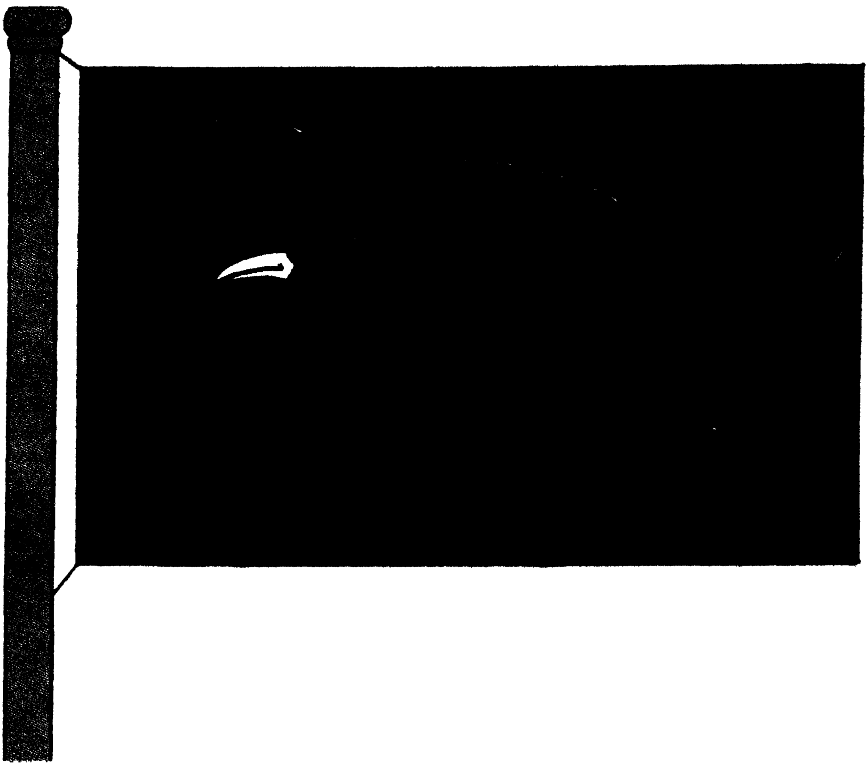
युधिष्ठिर—तुंड।
वृकोदर—पुच्छ।
नकुल-सहदेव—पक्ष।

आत्मानं श्येनवत् कृत्वा तुण्डमासीद् युधिष्ठिरः।
पक्षौ यमौ च भवतः पुच्छमासीद् वृकोदरः॥ —महाभारत, विराट्-पर्व

चक्र-व्यूह—गोल होता था। चक्र का आकार ही गोल है। चक्र के आकार में ही सैन्य-रचना होती थी। प्रवेश्य पथ केवल एक होता था। यह आठ कुण्डलाकार सेना-पंक्तियों द्वारा वेष्टित रहता था।

गरुड-व्यूह— निर्माणकर्त्ता—भीष्म।
भीष्म पितामह—तुण्ड
द्रोण तथा कृतवर्मा—सिर
त्रैगर्त्त, शल्य, भगदत्त—ग्रीवा
दुर्योधन भाइयों के साथ—पीठ।
कांभोज शकों के साथ—पुच्छ।
मगध-कलिंग—दक्षिण पक्ष।
बृहद्बल प्रभृति—वाम पक्ष।

मकर-व्यूह—यह भी क्रौंच-व्यूह की तरह होता था। इसमें भी सिर, नेत्र, ग्रीवा, पुच्छ, सव्य-पक्ष, दक्षिण-पक्ष, पाँव, पूँछ आदि के स्थान सैनिक ग्रहण करते थे।



गरुडकेतुः

गरुड़ध्वज का उल्लेख भागवतपुराण, विष्णुपुराण तथा महाभारत और फ्लीट (Fleet) के गुप्त-शिलालेख खंड २, सं० १, प्लेट १, पंक्ति २४, प्रयाग-अशोकस्तम्भ में हुआ है।

सर्वतोभद्र-व्यूह—चक्र-व्यूहवत्। भेद इतना ही था कि सर्वतोभद्र में आठ चक्राकार में आठ भागों में सेना परिवेष्टित रहती थी। प्रवेश-द्वार एक भी नहीं रहता था।

पद्म-व्यूह—कमल के आकार का होता था। यह अभेद्य था। द्रोण ने इसकी रचना की थी। पद्म-व्यूह में सभी राजा पद्म बनाये जाते थे। राजकुमार—केसर, सम्राट्—कर्णिका। सभी लाल वस्त्र, लाल भूषण, लालध्वजा धारण करते थे। जयद्रथ के वध के दिन शकट-व्यूह निर्मित हुआ था। उसके पीछे पद्म-व्यूह, पद्म-व्यूह में गर्भ-व्यूह और गर्भ-व्यूह के भीतर सूची-व्यूह रचा गया था। वहीं जयद्रथ रखा गया था।—द्रोण-पर्व, अ० ८७।२३-३१

वाल्मीकि-रामायण के लंका काण्ड, सर्ग २४ में सैन्य-विन्यास की ओर संकेत है—

व्यूह के मध्य में—अंगद-सहित नील।

दक्षिण पार्श्व में—वानर-समूह ऋषभ के अधीन।

वाम पार्श्व में—गन्धमादन।

शिरःस्थान पर—राम, लक्ष्मण, जामवन्त, तथा सुषेण।

कुक्षि के रक्षक—ऋक्षमुख।

जघन के रक्षक—सुग्रीव।

राम-रावण-युद्ध में दुर्ग पर ही विशेष रूप से आक्रमण हुआ था। विशेष सैन्य-विन्यास की वहाँ आवश्यकता न थी। महाभारत-युग-सी युद्ध-कला भी विकसित प्रतीत नहीं होती। वानरों की युद्ध-प्रणाली भी आदिकालीन थी। महाभारत के वन-पर्व, अध्याय २८६।६ में यह उल्लेख है कि रावण ने औशनस-व्यूह का निर्माण किया था और राम ने बार्हस्पत्य विधि से व्यूह रचा था। शुक्र और बृहस्पति क्रमशः आसुरी और दैवी अस्त्र-शस्त्र-शास्त्र के व्याख्याता थे।

व्यूहों में दण्ड, मकर, वराह, सूची बड़े काम में आते थे। दण्ड-व्यूह लाठी की शक्ल का होता था। दंड लम्बा होता है और उसकी चौड़ाई हर जगह बराबर होती है। सेना भी इसी रूप में लम्बी पंक्ति में रहती थी। हर जगह उसकी संख्या बराबर रहती थी। इस व्यूह की रचना की आवश्यकता वहाँ पड़ती थी, जहाँ सेना पर आक्रमण की शंका सभी ओर से होती थी।

शकट-व्यूह में सेना सामने में अल्प संख्या में रहती थी; पर पीछे अधिक संख्या में। शकट सामने पतला होता है और पीछे चौड़ा।

वराह-व्यूह सामने पतला होता है; पर बीच में चौड़ा। गरुड-व्यूह भी प्रायः ऐसा ही होता है। पर वराह-व्यूह से भी गरुड-व्यूह की मध्यस्थ चौड़ाई अधिक होती है। वराह तथा गरुड-व्यूह उस समय रचे जाते थे, जिस समय दोनों पार्श्वों पर आक्रमण का भय रहता था। मकर-व्यूह, वराह-व्यूह का ठीक उलटा है। मध्य में पतला, पर पीछे और आगे चौड़ा तथा मोटा। जब सेना के पीछे और आगे से आक्रमण की शंका होती थी तब मकर-व्यूह रचा जाता था।

राघवानन्द का मत है कि मकर तथा वराह-व्यूहों में अधिक भिन्नता है। मध्य में मकर-व्यूह अपेक्षाकृत अधिक चौड़ा होता है।

सूची-व्यूह बहुत पतला होता है। यह चींटियों के अभियान के समकक्ष है। सूची-व्यूह में सैनिक एक के पीछे उसी प्रकार चलते हैं जैसे चींटियाँ एक के पीछे एक चलती हैं। पुरोवर्त्ती सैनिक फुर्तीले तथा पूरे वीर होते हैं। 'अग्नि-पुराण' में व्यूह के सात अंग बताये गये हैं—उर, दो कक्ष, दो पक्ष, मध्य, पृष्ठ, प्रतिग्रह और कोटि।

उरः कक्षौ च पक्षौ च मध्यं पृष्ठं प्रतिग्रहः।
कोटी च व्यूह-शास्त्रज्ञैः सप्तांगो व्यूह उच्यते॥

——अग्निपुराण, २४२

नायकः पुरतो यायात् प्रवीरः पुरुषावृतः।
मध्ये कलत्रं स्वामी च कोषः फल्गु च यद्बलम्॥
पार्श्वयोः समयोरश्वा वाजिनां पार्श्वगाः रथाः।
रथानां पार्श्वयोर्नागा नागानां चाटवीबलम्॥
पश्चात् सेनापतिः सर्वं पुरस्कृत्य कृती स्वयम्।
यायात् सन्नद्धः सैन्यौघः खिन्नानाश्वासयञ्जनैः॥
यायात् व्यूहेन महता मकरेण पुरोभये।
श्येनेनोद्धृतपक्षेन सूच्या वा वीरवक्त्रया॥
पश्चाद्भये तु शकटं पार्श्वयोर्वज्रसंज्ञकम्।
सर्वतः सर्वतोभद्रं भये व्यूहं प्रकल्पयेत्॥

व्यूह के संबंध में शुक्राचार्य का मत शुक्रनीति के अध्याय ४ में उपलब्ध होता है। वहाँ भी प्रायः उपर्युक्त विचारों की पुनरावृत्ति है। दंड-व्यूह की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

अग्रे सेनानायकः, मध्ये राजा। पश्चात् सेनापतिः, पार्श्वयोः हस्तिनः, तत् समीपे अश्वाः, रथाः, तदा पदातय——एवं कृतरचनो दीर्घः सर्वतः सम-विन्यासो दंड-व्यूहः।

ह. अ. र. प.

सेनापति राजा, कोष सेनानायक

पदाति

रथ

अश्व

हाथी

मेधा-तिथि लिखते हैं—'अग्रत पृष्ठतश्च त्रिधा व्यवस्थितबलो वज्र-व्यूहः'——भय जब चारों ओर से हो तो वज्र-व्यूह से काम लेना चाहिए। मनुस्मृति के टीकाकार 'नारायण' का कहना है कि सूची-व्यूह बनाकर अल्पसंख्यक सैनिकों को लड़ाना चाहिए। वज्र-व्यूह रच कर अनेक योद्धाओं को लड़ाना चाहिए—

सूच्या अल्पान् वज्रेण बहून् योधयेदिति नारायणः।

नारायण के विचार युधिष्ठिर के विचार से मेल खाते हैं—

संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद्बहून्।
सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां बहुभिः सह॥ —महाभारत, भीष्म-पर्व १६।४

कुरुक्षेत्र में जब पाण्डवी तथा कौरवी सेनाओं में मुठभेड़ होने लगी, तब युधिष्ठिर ने सूची-व्यूह रचने का परामर्श दिया, कारण पाण्डवी सेना अपेक्षाकृत अल्प थी। पर, अर्जुन ने वज्र-व्यूह रचा। सूची और वज्र-व्यूह आक्रमणकारी दल ही रचते हैं।

व्यूह के भीतर प्रतिगृहीत (रिजर्व) सेना रहा करती थी। प्रतिगृहीत सेना २०० धनुष की दूरी पर राजा के साथ रहती थी।

> द्वे शते धनुषां गत्वा राजा तिष्ठेत् परिग्रहः।
> भिन्नसंघातनार्थं तु न युध्येताप्रतिग्रहः॥

राजा को प्रतिगृहीत सेना के विना युद्ध नहीं करना चाहिए।

संग्राम-समिति सेना-संबंधी नियम भी बनाती थी और उन नियमों का पालन सेना के लिए अनिवार्य था। कतिपय सेना-धर्म-संबंधी बातों की चर्चा करना असंगत न होगा।

१. राजा को चाहिए कि वह सेना को गाँव के बाहर, पर इसके समीप ही स्थापित करे। सेना तथा ग्रामीणों के बीच लेन-देन का संबंध न रहे।

२. राज्य-कार्यों में सेना चंडत्व, ईर्ष्या तथा विलंब करने का भाव रखे।

३. विना राजाज्ञा के सेना गाँव में कभी नहीं प्रवेश करे।

४. अपने अधिकारियों के दोषों को बताना सेना का कर्त्तव्य नहीं है। सेना को अधिकारियों के साथ मित्रभाव रखना चाहिए।

५. व्यक्तिगत आयुध, परिच्छद, भोजन-सामग्री तथा पकाने के बर्तनों के उत्तरदायित्व सेना पर ही रहते हैं।

६. यदि सैनिक शत्रु से मिलकर कपट रचे, तो सैनिक धर्म के अनुसार वध्य है।

७. प्रत्येक सेनाधिकारी को शपथ लेनी चाहिए—सेना-धर्म का जो पालन नहीं करेंगे, मैं उनका वध करूँगा।

> ग्रामाद्बहिः समीपे तु सैनिकान् धारयेत् सदा।
> ग्रामसैनिकयोर्न स्यादुत्तमर्णाधमर्णता॥
> चण्डत्वमाततायित्वं राज्यकार्ये विलंबनम्।
> अनिष्टोपेक्षणं राज्ञः स्वधर्मपरिवर्जनम्॥
> त्यजन्तु सैनिकाः नित्यं संल्लापमपि वा परैः।
> नृपाज्ञया विना ग्रामं न विशेयुः कदाचन॥
> स्वाधिकारिगणस्यापि ह्यपराधं दिशन्तु न।
> मित्रभावेन वर्त्तध्वं स्वामिकार्ये सदाखिलैः॥
> सूज्ज्वलानि च रक्षन्तु शस्त्रास्त्रवसनानि च।
> अन्नं जलं प्रस्थमात्रं तथा बह्वन्नसाधकम्॥
> शासनादन्यथाचारान् विनेष्यामि यमालयम्॥ —शुक्रनीति

साधारण सैनिक-धर्म के पालन के अतिरिक्त देश-धर्म का पालन भी भारत के सभी राज्यों में होता था।

प्राचीन भारत में अन्तरराष्ट्रों से बरतने के लिए विशेष विधान का ग्रंथ न था। किन्तु, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में कतिपय नियम ऐसे थे, जिनकी मान्यता अन्य राज्यों में भी होती थी। ऐसे ही नियम देश-धर्म कहलाते थे।

शुक्राचार्य का कहना है कि देश-धर्म का मूल श्रुति में भले ही न हो, पर ये नियम देश-विदेश के जन-समूह द्वारा परिपालित होते थे।

कल्पितश्रुतिमूलो वा मूलो लोकैर्धृतः सदा।
देशाधिधर्मः स ज्ञेयो देशे देशे कुले कुले॥

देश-धर्म का पालन भारत के प्रायः सभी राज्यों में होता था। लारेंस के मतानुसार मण्डलेश्वर राज्य की कतिपय विशेषताएँ थीं—

१. मंडलेश्वर राज्य-सरकार की आज्ञा सभी आश्रित राज्यों के लिए पालनीय थी।

२. यह सरकार अपने में स्वतंत्र थी।

३. इसके अधीन अनेक निश्चित राज्य थे।

४. अनेक राज्य-परिवारों के प्रधान होने की क्षमता इसमें थी।

५. इस राज्य को अपनी संस्कृति और सभ्यता का दर्प था।

६. मंडलेश्वर राज्य का राजा राज्य का सबसे बड़ा सेवक था।

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥

—महाभारत, शांति-पर्व, ८०

प्रजा का सुख राजा का सुख, प्रजा का हित राजा का हित और प्रजा का कल्याण ही राजा का एकमात्र अभीष्ट होता था।

मगध, कोसल और कुरु एक समय मण्डलेश्वर राज्य थे। पीछे चलकर मौर्यों, गुप्तों तथा हर्षवर्द्धन के युगों में ये मण्डलेश्वर राज्य-साम्राज्य कहलाये। सभी प्रकार के राज्यों में देश-धर्म की नितान्त अपेक्षा थी। ये अन्तरराष्ट्रीय धर्म थे। देश-धर्म का पालन विदेशी राज्यों में भी होता था। जब हनुमान् की टेढी-मेढ़ी-अटपटी बात सुनकर रावण क्रोध से भर गया और उनके वध के लिए आज्ञा प्रदान करने लगा, तब विभीषण ने उसे इसी देश-धर्म की ओर संकेत किया था।

दूता न वध्याः समयेषु राजन् सर्वेषु सर्वत्र वदन्ति सन्तः।

....

न दूतवध्यां प्रवदन्ति सन्तो दूतस्य दृष्टा बहवो हि दण्डाः।
वैरूप्यमंगेषु कशाभिघातो मौण्ड्यं तथा लक्षणसन्निपातः॥

—रामा॰, सुन्दरकांड, सर्ग ५२

देश-धर्म के अनुसार ही दूत अवध्य होते थे। पुरातन काल में दूत पर ही सन्धि और विग्रह अधिकतर निर्भर करते थे। आज भी राजदूत की बड़ी प्रतिष्ठा है। मनु दूत की बड़ी प्रशंसा करते हैं—

दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्।
दूतस्तत् कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥ —मनु० ७ । १०६

धनुर्धर से प्रक्षिप्त तीर शत्रु को मार भी सकता है और नहीं भी मार सकता है, पर बुद्धिमान् दूत की नीति गर्भगत शिशु का भी हनन कर सकती है। ऋग्वैदिक काल से ही दूत का महत्त्व भारत स्वीकृत करता है। अग्नि राजदूत से भी अधिक काम करती थी—

अग्निदूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेधसं अस्य यज्ञस्य सुक्रतम्। —ऋग्वेद

दसवाँ परिच्छेद

प्राचीन भारतीय संग्राम का सामान्य परिचय

संग्राम की भावना प्राणिमात्र में जन्म-जात है।

> क्षत्रियः क्षत्रियं हन्ति मत्स्यो मत्स्येन जीवति।
> श्वा श्वानं हन्ति दाशार्ह पश्य धर्मो यथागतः॥
>
> —महाभारत, उद्योग-पर्व, ५६

क्षत्रिय क्षत्रिय को मारता है। मछली मछली पर जीती है। कुत्ते का वध कुत्ता करता है एवं बड़ा पौधा छोटे को दबा देता है।

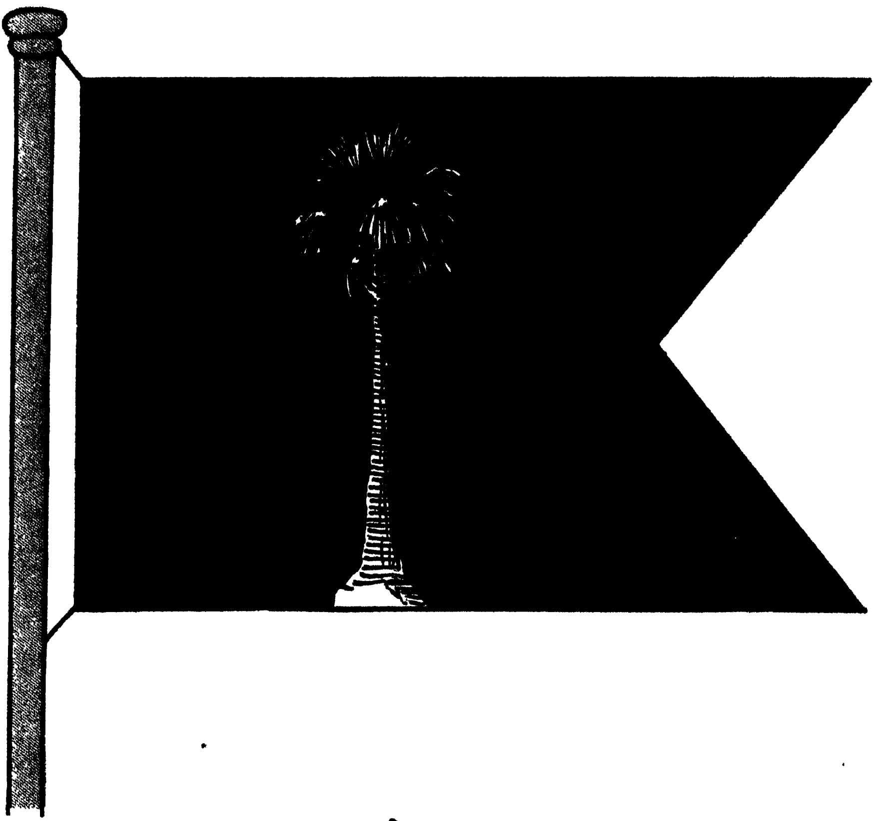
किसी प्राणी में बल न हो, तो वह कुछ कर नहीं सकता। जाति, देश या राष्ट्र का अस्तित्व भी बल पर ही स्थित है। बलवान् व्यक्तियों के अभाव में राष्ट्र क्षण-मात्र भी ठहर नहीं सकता। दुर्बलों के लिए यह संसार नहीं है। मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों में स्वरक्षा तथा स्वविकास के भाव सर्वोपरि हैं। सैनिक-संगठन इसी अन्तर्वृत्ति का ज्वलन्त निदर्शन है। सामूहिक बल का परिचय देने के लिए ही सेना-संगठन की आवश्यकता अनुभूत होती है। संगठन के लिए उत्साह चाहिए। राष्ट्र की नैतिक तथा शारीरिक शक्तियों के प्रदर्शन का उत्साह ही इतिहास का निर्माण करता है।

'भीदीन शाव वाचा' ने अपने एक लेख में संग्राम की विविध परिभाषाएँ दी हैं। युद्ध मानवी प्रतिहिंसात्मक वृत्ति की व्यंजना है। जबतक मानव भूतल पर रहेगा, उसकी अन्तर्वृत्तियाँ काम करती रहेंगी। ज्वालामुखी, झंझावात, पविपात, विद्युत्विलसन, जलप्लावन आदि प्राकृत शक्तियों के विकार हैं। सर्जन के अन्तराल में विनाश है और जन्म की तह में मृत्यु। पर्वत के स्थान को समुद्र और समुद्र के स्थान को पर्वत ग्रहण करता है। संग्राम के अन्तराल में निर्माण और निर्माण के अन्तराल में ध्वंस है। संग्राम का अन्त तभी संभव है, जब मानव की सात्त्विकी वृत्ति राजसी तथा तामसी वृत्तियों पर अपना अखण्ड सिक्का जमा ले।

हमारी सभी स्मृतियों में युद्ध धर्म समझा गया है। मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णुस्मृति, महाभारत, कौटिल्य तथा अनेक पुराण राजधर्म के रूप में युद्ध का वर्णन करते हैं।

> नैष शूरैः स्मृतो धर्मः क्षत्रियस्य पलायनम्।
> श्रेयो हि मरणं युद्धे न भीतस्य पलायनम्॥
> देशकालेन संयुक्तं युद्धं विजयदं भवेत्।
> हीनकालं तदेवेह अनर्थायोपकल्पते॥
>
> —महाभारत, विराट्-पर्व ४१

शुक्राचार्य की दृष्टि में युद्ध धर्म है। आप कूट-नीति के परम प्रशंसक थे। आपने लिखा है कि राम, कृष्ण, इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने भी कूट-युद्ध किया है। बुद्धिमान्



ततस्तालध्वजो रामस्तयोर्युद्ध उपस्थिते ।
श्रुत्वा तच्छिष्ययो राजन्नाजगाम हलायुधः ॥—महा० शल्य, ३४-२

मनुष्य वही है जो अपना काम साधने के लिए अपमान की परवाह नहीं करता। शुक्र भारत के (मोकिवेली) थे। उनकी नीति भारत को अधिक नहीं भाती थी। आसुरी सभ्यता अधिकतर उनकी नीति का अनुसरण करती थी। अतः वे उनके आचार्य समझे जाते हैं।

कौटिल्य ने भी युद्ध की पूरी चर्चा की है। वह भी कूट-युद्ध के पक्षपाती थे। निर्बल शासक को सबल शत्रु के प्रति सदा कूटनीति का ही प्रयोग करना चाहिए। सोये शत्रु का भी वध करना उनकी दृष्टि में न्यायसंगत था।

युद्ध-क्षेत्र से पीठ दिखाना भारतीय नीति-शास्त्र में अपमानजनक समझा जाता है।

संग्रामेष्वनिवर्त्तित्वं प्रजानां चैव पालनम्।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम्॥
... ...

युद्धयमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपरांमुखाः॥

—मनु०, अ० ७, ८८-८९

युद्ध में पीठ नहीं दिखाना, पुत्रवत् प्रजा का पालन करना तथा ज्ञानियों की तन, मन, एवं वचन से श्रद्धापूर्वक सेवा करना शासकों का परम धर्म तथा कर्त्तव्य है।

....

सारी शक्ति लगाकर लड़ता हुआ युद्ध-अपरांमुख शासक स्वर्गगामी होता है।

जो मातृभूमि के लिए प्राणों का विसर्जन करते हैं और विषाक्त शस्त्रों का प्रयोग नहीं करते, वे योगी की भाँति स्वर्ग उपलब्ध करते हैं। —याज्ञवल्क्य

दो ही व्यक्ति सूर्यलोक से परे स्वर्गलोक प्राप्त करते हैं—एक योगी दूसरा सैनिक।

—शुक्रनीति

युद्धक्षेत्र से मित्रों को धोखा देकर नौ-दो-ग्यारह होनेवाले सैनिक नरक प्राप्त करते हैं।

—शुक्रनीति

क्षत्रियों के लिए लड़ने से बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है। युद्ध स्वर्ग का द्वार है। भगवद्गीता

केवल पाशविक शक्ति के प्रदर्शन के लिए युद्ध छेड़ना पाप है। 'यतोधर्मस्ततो जयः' की मंजुल घोषणा महाभारत बार-बार करता है।

शुक्राचार्य को छोड़कर प्रायः सभी हमारे आचार्य यही सम्मति देते हैं कि खूब सोच-समझकर युद्ध छेड़ना चाहिए।

रूसो (Rousseau) के मत से युद्ध मनुष्य-मनुष्य के बीच नहीं, वरन् राष्ट्र-राष्ट्र के बीच संबंध है। अतः शत्रु के राज्य के प्रत्येक व्यक्ति और उसकी सम्पत्ति पर आघात नहीं करना चाहिए। पर, यह सिद्धांत कदाचित् ही पश्चिमीय देशों में मान्य समझा गया है।

प्राचीन भारत में जो युद्ध होते थे, उनमें सर्वसाधारण को कष्ट कम पहुँचाया जाता था। महाभारत पाण्डु-पुत्रों के हक की प्राप्ति के लिए हुआ था। कुरुक्षेत्र के विस्तृत मैदान में—जो जनवर्ग के आवास से बहुत दूर था—भारत की बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हुईं। सार्वजनिक क्षति नहीं पहुँचाना ही संभवतः उद्देश्य रहा होगा। कौरव-पांडवों की सेनाओं में ४० लाख

सैनिक थे। पर, किसी भी नगर को ध्वस्त करने की बात नहीं सुनी जाती। जरासंध ने मथुरा पर १७ बार आक्रमण किया, पर दूसरे राज्य की प्रजाओं को कष्ट पहुँचाये, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता।

शत्रु को असमर्थ बना देना, युद्ध का उद्देश्य मनु महाराज स्वीकृत करते हैं। शत्रु को चारों ओर से घेरकर उसे हर तरह पीड़ित करे। उस जग का तृण, धान्य, जलाशय एवं लकड़ी को नष्ट कर दे जिससे शत्रु भूखों मरने लगे। शत्रु के जलाशयों को नष्ट कर दे, दुर्ग की दीवारों को गिरा दे और किले की खाई पाट दे। इस प्रकार शत्रु को क्षीण-बल कर दे। —मनु०, अ० ७, ९५-९६

हमारे यहाँ जलाशय विषाक्त नहीं किये जाते थे। ताडका तथा बालि के वध रामायण में अशोभन घटनाएँ हैं। महाभारत में धर्म-युद्ध के नियमों का अधिक अतिक्रमण हुआ है, पर यह अतिक्रमण दोनों पक्षों से हुआ है।

त्रुटियों के रहते हुए भी प्राचीन भारत के युद्ध-संबंधी नियम अधिकतर लोकदर्शी थे।

पश्चिमी देशों में या साभिभाषी देशों में युद्ध-धर्म का पालन केवल सिद्धान्तों में होता आया है—अभ्यास या लोक-व्यवहार में बहुत कम।

जो राष्ट्र युद्ध में सम्मिलित नहीं होते, वे तटस्थ राष्ट्र कहलाते हैं। इन उदासीन राष्ट्रों को युद्ध में सम्मिलित राष्ट्रों के प्रति युद्ध-संबंधी किसी भी नियम का पालन नहीं करना पड़ता। पर, इन दिनों एक राष्ट्र दूसरे से अन्तरराष्ट्रीय आवश्यकताओं से आबद्ध है। अतः युद्ध प्रारंभ होने के पूर्व तटस्थ राज्य को युद्धेप्सु राज्यों को सूचित कर देना आवश्यक हो जाता है। इन दिनों पश्चिमी देशों में मशीनों के द्वारा सस्ता माल तैयार किया जाता है। यह अनुन्नत देश के व्यापार को चौपट कर देता है एवं व्यापार-मंडल में भी नाश और निर्माण की भावना काम कर रही है। व्यापारिक होड़ में अनेक जातियाँ नष्ट हो गईं। पूर्व-विकसित मशीन अणुबम और हाइड्रोजन बम से भी अधिक ध्वंसकारी है। आज अमेरिका विश्व के सभी राष्ट्रों पर अपना दबदबा व्यापारिक उन्नति के द्वारा रख रहा है। युद्ध का उद्देश्य भी प्रायः एक को हराकर अपने को प्रबलतर प्रमाणित करना है। व्यापार में एक का नफा दूसरे का घाटा है। संग्राम में एक की विजय दूसरे की हार है।

जे० डब्ल्यू० फर्टेस्कू (J.W. Firtescue) अपने सैनिक इतिहास (मिलिटरी हिष्ट्री) में लिखते हैं कि सैनिक-इतिहास युद्ध और योद्धाओं का इतिहास है। युद्ध राजनीतिक साधन है। उसमें सैनिक बल से एक राज्य अपनी इच्छा का पालन-भार दूसरे राज्य पर लाद देता है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि सैनिक बल से ही एक देश अपनी इच्छा की पूर्ति दूसरे देश से करावे। सन् १८०५ ई० में जब इंगलैंड की नाविक शक्ति ने फ्रांसीसी जहाजी सेना को नष्ट कर दिया, तब वीर नेपोलियन के हाथ में इंगलैंड को नीचा दिखाने का कोई शस्त्र न रहा। अतः उसने यह आज्ञा दी कि फ्रांस-अधिकृत देशों में ब्रिटेन की कोई वस्तु न खरीदी जाय। क्योंकि आर्थिक युद्ध के द्वारा वह इंगलैंड को वश में करना चाहता था।

सन् १९२१ ई० में गाँधी जी ने भी असहयोग-आन्दोलन के द्वारा इंगलैंड को आर्थिक क्षति पहुँचाई थी। चर्खा-संग्राम ने मैनचेष्टर तथा लिवरपुल की मिलों को नष्ट कर दिया था। ऐसे संग्राम में आयुधों का प्रयोग नहीं होता, तो भी विरोधी पक्ष को क्षति पहुँचाई जाती है।

संग्राम का चक्र प्रतिक्षण चलता रहता है। संगठित सरकार चाहती है कि विशुद्ध तेल, घी, आटे बिकें। पर व्यापारी कभी नहीं बेचते। कुछ वर्ष कांँगरेसी सरकार चाहती थी कि निश्चित दर पर कपड़े बेचे जायँ, पर बजाज चोरबाजार जारी ही रखते थे। सरकार तथा चोरबाजारों में संग्राम सदा जारी रहा।

सरकार देश की रक्षा तथा समाज के कार्यों को सम्यक् रूप से चलाने के लिए कानून बनाती है, पर इन कानूनों को तोड़नेवाले सहस्रों की संख्या में हैं। कानून के संरक्षकों तथा कानून के भंग करनेवालों में सदा संग्राम चालू है। पुलिस तथा डाकुओं का लड़ना-भिड़ना तो साधारण बात है।

इन्हीं तुमुल संघर्षों के परिणाम फौजदारी तथा दीवानी अदालतें हैं, जहाँ करोड़ों की तायदाद में जनसमूह पीसे जा रहे हैं। यह भी निरंतर चलनेवाले संग्राम का ही एक फल है।

तब क्या इन सभी संघर्षों को हम सैनिक इतिहास में सम्मिलित कर सकते हैं? विद्वान् लेखक ने बड़ी बुद्धिमत्ता से इस प्रश्न का समाधान कराया है। तीन शराबियों तथा पुलिस के बीच के संघर्ष को हम झगड़ा कहते हैं। तीन सौ मनुष्यों के तथा कुछ पुलिस सिपाहियों के के बीच जो संघर्ष होता है, वह विद्रोह या बलवा कहलाता है। तीस हजार मनुष्यों तथा सशस्त्र पुलिस की लड़ाई को हम गृह-युद्ध कहते हैं, पर क्या आप इन्हें सैनिक इतिहास की परिधि से पृथक कर सकते हैं?

अतः सैनिक-इतिहास को युद्धों और योद्धाओं का इतिहास कहना अनुचित जान पड़ता है। सैनिक-इतिहास का क्षितिज बहुत बड़ा है। युद्ध अनेक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए हुआ करता है। स्त्रियों, धर्मों, नैतिक तथा राजनीतिक कारणों के लिए ही युद्ध नहीं होता, वरन् प्रकृति की शक्ति ही युद्ध का कारण है। अतः सैनिक-इतिहास की रूप-रेखा खड़ा करना अति कठिन मालूम पड़ता है। सैनिक इतिहास जाति या राष्ट्र के संघर्ष का इतिहास है, जिसकी अभिव्यक्ति संगठित सेना के सहारे होती है। युद्ध की प्रचंडता लोमहर्षक है। इसका लक्ष्य ही किसी जाति या राष्ट्र को उस काम को करने के लिए बाध्य करना है, जिसे वे करना नहीं चाहते। पराजित जाति का जीवन भारभूत हो जाता है। युद्ध किसी भी राष्ट्र की नैतिक तथा पाशविक शक्तियों की खरी कसौटी है। किसी जाति की मानसिक शक्ति का पता उसके साहित्य, कला, विज्ञान तथा दर्शन के अध्ययन से पा सकते हैं। राजनीतिक संस्थाएँ उस जाति की मेधा तथा नीति की परिचायिका हैं। नागरिकों के स्वास्थ्य तथा आकृत्यादि से उस जाति की शारीरिक क्षमता का पता लगता है। पर एक संग्राम ही है, जिसमें किसी भी जाति की मानसिक, नैतिक तथा शारीरिक शक्तियों की विशेषताओं की परीक्षा होती है। संग्राम-काल में ही राष्ट्र के नेताओं की कार्य-क्षमता, अनुयायियों की भक्ति, नागरिकों की प्रसन्नता से क्लेश झेलने की सहिष्णुता, असफलता पर असफलता पाने पर भी अपने ध्येय से विचलित नहीं होने का दृढ़ संकल्प प्रकट होते हैं। सैनिक-इतिहास इन्हीं मानवी शक्तियों की परीक्षा का इतिहास है।

प्रत्येक सरकार को, चाहे प्रजासत्तात्मक हो, चाहे गणतंत्र, चाहे साम्यवादी या समाजवादी, उसे सेना राज्यवादी सरकार की भाँति रखनी पड़ेगी। राष्ट्र में जभी सभी मनुष्य काम,

क्रोध, लोभ, मोह, मद से विरहित हो जायँ या 'सर्वं भूतेहिते रताः' हो जायँ, तभी सेना की जरूरत नहीं पड़ेगी। पर, प्रकृति के नियम के विरुद्ध ऐसी कल्पना संभव नहीं है।

युधिष्ठिर अजात-शत्रु कहे जाते थे और 'अयुद्धं वै तात युद्धाद्गरीयः' का राग अलापा करते थे, पर तोभी शस्त्र-ग्रहण करना पड़ा। युद्ध को यथासाध्य रोकने का प्रयास प्रत्येक राष्ट्र को करना चाहिए, पर विदुर की नीति को सदा स्मरण रख लोक से व्यवहार जारी रखना श्रेयस्कर है।

यस्य कृत्यं न जानन्ति मंत्रं वा मन्त्रितं परे।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित जायते॥ —विदुर-नीति, उद्योग-पर्व ३३।२४

—'जिसके कार्य, मंत्रणा, मंत्रित (प्लान) को शत्रु नहीं जानते, पर जिसके कर्म कृत होने पर ही जाने जाते हैं, वही पंडित है।'

परिशिष्ट—१

सैन्य-शिविर

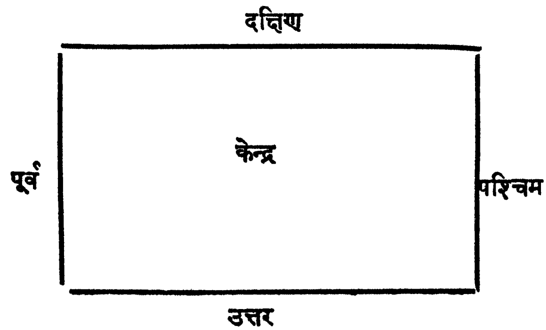
सैन्य-शिविर का निर्माण राजधानी के सदृश होता था। कौटिल्य के अनुसार शिविर वृत्ताकार, आयताकार या चतुर्भुजाकार होता था। वृत्त, आयत और चतुर्भुज इनमें से किसी एक का आकार ग्रहण करना इसके लिए आवश्यक था।

सेनानायक, वर्द्धकि (बढ़ई) तथा मौहूर्त्तिक मिलकर शिविर का स्थान निश्चित करते थे। —कौटिल्य ६।१

शिविर के चारों ओर प्राकार होते थे। प्राकार के चारों ओर खाइयाँ होती थीं। जो शिविर रणाजिर में स्थापित होता था, उस रणांगण की परिधि अंकित होती थी। चिह्नित सीमा के बीच युद्ध होता था। रणांगण का विस्तार पाँच योजन (बीस कोस) से अधिक नहीं होता था। —महाभारत, भीष्म-पर्व, अ० १५२

श्मशान, देवमंदिर, महर्षियों के आश्रम तथा तीर्थ-स्थानों में सेना-शिविर नहीं स्थापित होते थे। सेना की संख्या के अनुपात से रणस्थल के भाग को मापकर शिविर जलाशय के समीप स्थापित होता था। —महाभारत, उद्योग-पर्व, अ० १५२

शिविर के चारों ओर जो प्राकार होते थे, उनमें द्वार भी रहते थे। शत्रुओं की गति-विधि की देख-रेख के लिए प्राकार पर छोटी-छोटी कोठरियाँ बनी रहती थीं। कौटिल्य के अनुसार शिविर नौ भागों में बँटा रहता था। केन्द्र से उत्तर राजा का शिविर रहता था।



राज-शिविर एक हजार धनुष लम्बा तथा ५०० धनुष चौड़ा होता था। राजा के शिविर से पश्चिम अन्तःपुर रहता था। अन्तःपुर के पश्चिम प्रहरी रहता था और नृप-शिविर के सामने देवमंदिर। इसके दक्षिण ओर अर्थ-विभाग और कोष तथा बाईं ओर हस्ति-शिविर और अश्व-शिविर होते थे।

नृप-शिविर के बाहर एक सौ धनुष की दूरी पर प्रधानामात्य, पुरोहित आदि के आवास होते थे और इन आवासों के दक्षिण ओर भांडार तथा पाक-गृह और बाईं ओर आयुधों तथा कच्ची वस्तुओं का भांडार होता था।

इसी प्रकार इसके द्वितीय विभाग में मौल सेना, हयदल तथा रथदल के शिविर रहते थे। इसके बाहर शिकारी तथा शिकारी कुत्ते तुरही-वादकों के साथ रहते थे। तीसरे भाग में चारों का आवास था। —कौटिल्य, शिविर-प्रकरण ४

शिविर के बाहर कूप थे और बाहर टीले खड़े किये जाते थे, जिन पर त्रिशूल और काँटे बिछा दिये जाते थे। राजा के संरक्षण के लिए सैनिकों के अट्ठारह गुल्म नियुक्त रहते थे। बारी-बारी से वे पहरा देते थे। शिविर में मद्यपान, द्यूत तथा अन्य प्रकार के विलास-संबंधी विषयों का निषेध था। मुद्रा के द्वारा आना-जाना (निर्गम-प्रवेश) निश्चित था। सेना के एक पदाधिकारी ही शिविर-पति नियुक्त होता था। सभी बातों का खबर लेना उसका काम था। शिविर में इंजिनियरिंग दल का सरदार रहता था। उसके अनेक सहायक मजदूर और बढ़ई के रूप में थे। —कौटिल्य ६

महाभारत के भीष्म-पर्व के अनुसार शिविर के एक भाग में यंत्रायुध, वैद्य और परिचारक रहते थे। दूसरे भाग में ज्या, धनुष, वर्म-कवच, अस्त्र-शस्त्र, महायंत्र, नाराच, तोमर, परशु आदि ढेर-के-ढेर जमा रहते थे।

'राजतरंगिणी' के अनुसार शिविर में दूकानें, कोष, और बहुमूल्य पदार्थ तथा आयुध आदि रहते थे। उपर्युक्त बातों की ही पुनरावृत्ति है—

मुक्तापणः शीर्णकोषः त्यक्तश्रीकश्च्युतायुधः।
कटकः सर्व एवाभूत् पलायनपरायणः॥

सैन्य-शिविर वस्तुतः एक प्रकार का दुर्ग था। मोर्चे की दृष्टि से शिविर या दुर्ग का निर्माण होता था। पुरातन भारतवर्ष में किसी भी राज्य की राजधानी के लिए दुर्ग की आवश्यकता होती थी। इसलिए ६–६ प्रकार के दुर्ग राज्य में स्थित थे।

१. धन्व-दुर्ग—मरुत्-स्थल में स्थित दुर्ग।
२. गिरि-दुर्ग—पर्वत पर स्थित दुर्ग।
३. मही-दुर्ग—भूतल पर स्थित दुर्ग।
४. मृद्दुर्ग—मृण्मय दुर्ग।
५. मनुष्य-दुर्ग—मानव-दुर्ग।
६. वन-दुर्ग—कानन में स्थित दुर्ग।

सैन्य-शिविर को ही मानव-दुर्ग कह सकते हैं। असुरक्षित नगर जिस प्रकार अपनी रक्षा के लिए नागरिकों पर निर्भर करता है, उसी प्रकार शिविर अपनी रक्षा के लिए सैनिकों पर। मराठा इतिहास बताता है कि नाना साहिब पेशवा पूना को चहारदीवारी से घेरना चाहते थे। शाहू ने उन्हें रोका और कहा—"पूना की जनता ही अपनी शक्ति से इसे सुरक्षित रखेगी।"

पुरातन भारत में पर्वतस्थ और भूतलस्थ दुर्गों की प्रचुरता थी। सिकन्दर जब भारत पर चढ़ आया था, तब उसे प्रत्येक राज्य की राजधानी में प्राकार और खात देखने में आये। मेगास्थनीज ने पाटलिपुत्र का वृत्तांत भी दुर्ग के रूप में ही दिया है। प्रत्येक दुर्ग शस्त्रों से सुसज्जित तथा पर्याप्त खाद्य पदार्थों से युक्त और अक्षय जलाशयों से भरपूर रहता था। दुर्ग में कोषागार, आयुधागार (अस्त्र-शस्त्र बनाने के कारखाने) रहते थे। विनाशकारी यंत्र दुर्ग-द्वार पर सदा स्थित रहते थे। —महाभारत, शान्ति-पर्व, अ० ८६

महाभारत के शान्ति-पर्व अध्याय ८६ में जो राजधानी का वर्णन है--दुर्ग या शिविर के वर्णन से पूरा सादृश्य रखता है—

१. राजधानी के चारों ओर खाइयाँ रहती थीं और खाइयों के बाद प्राकार होते थे।

२. राजधानी को चतुरंगिणी सेना और नौ-शक्ति प्राप्त थी।

३. राजधानी में सड़कें और वीथियाँ बनी रहती थीं। सड़कों के दोनों ओर दूकानें होती थीं।

४. राजधानी में योद्धा, ज्यौतिषी, चिकित्सक, ज्ञानी, विज्ञानी और व्यवसायी का रहना आवश्यक था।

५. राजधानी में संगठित चर-विभाग स्थित था, जिसके द्वारा प्रजाओं की गति-विधि का पता लगता था। चर-विभाग का काम अरि, मित्र तथा उदासीन की गति पर नजर रखना था।

६. राजधानी से ही आश्रमों को चैल, वस्त्र, भाजन और भोजन ठीक समय पर दिये जाते थे।

७. राजधानी में सर्वार्थत्यागी और बहुश्रुत की प्रतिष्ठा की जाती थी। उन्हें शयन, आसन और भोजन दिये जाते थे।

८. राजा सीमान्त प्रदेशों, जंगलों तथा सीमान्त राजाओं के नगरों में सैन्य-शिविर रखता था।

—महाभारत, शान्ति-पर्व, अ० ८६

परिशिष्ट—२

विजय-समारोह

विजय मनाने के अनेक ढंग थे। विजय प्राप्त होने पर कुछ सैनिक धनुष फेंक देते थे और कुछ ज्या। कोई शंख फूँकने लगते थे और कोई दुंदुभी बजाने। कुछ हँसते थे तो कुछ खेल-कूद करने लगते थे। कतिपय विजयी सैनिकों को घेर कर प्रशंसा करने लगते थे। अनेक अपनी चादर फेंक देते थे। भेरी, पणव, आनक, गोमुख बजने लगते थे।

—महाभारत, कर्ण-पर्व, अ० ६२

संध्या समय जब युद्ध-विराम होता, तब योद्धा शिविर में लौट आते और युद्ध-परिषद् की बैठक होती और विजयी वीर को बधाई दी जाती थी। बधाई के बाद मधुपर्क लिया जाता था।

विजयी वीर के सम्मानार्थ मत्तकुंजर सज्जित किया जाता था। उस पर चढ़ कर घंटा और पणवक के निनाद से घोषित किया जाता कि अमुक तिथि को विजय सामूहिक रूप में मनाई जायगी। विजयी वीर राजधानी से बाहर शिविर में ठहराया जाता था। राजमार्ग ध्वजा, तोरणादि से सुसज्जित किये जाते थे। देव-मंदिर सजाये जाते और देवताओं को पुष्पोपहार अर्पित होते थे। नौ-जवान वीर राजकुमार तथा गणिका पूर्ण रूप से विभूषित होकर सम्मान प्रदान करने के लिए तैयार किये जाते थे।

निश्चित तिथि को तुरही, शंख, पणवक तथा अन्य सांग्रामिक यंत्र बजने लगते थे। सभी नागरिक स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, पंडित-मूर्ख, शुक्ल वस्त्र पहन कर राजमार्ग के दोनों ओर खड़े

होते थे। चारण-मागध, बन्दी के साथ महिलाएँ विजय-गान करती हुई निकलती थीं। वेदज्ञ ब्राह्मण सामगान करते थे। व्यूह के रूप में जुलूस निकलता था। विजयी वीर को माला पहनाई जाती और उसकी आरती उतारी जाती थी। कुमारियाँ घर की छतों से पुष्प और लाजा की वृष्टि करती थीं।

समारोह के साथ वीर सिंहद्वार पर आता और वहाँ सारथी के साथ राजसंसद् में प्रविष्ट होता था। यहाँ उसका अभिनन्दन होता था। —महाभारत, विराट्-पर्व, अ० ६५

'देवी-भागवत' में राक्षसों के विजयोल्लाप की ओर संकेत है—

१. देवों को मार कर पारिजात की माला हम सभी राक्षस धारण करेंगे।

२. नन्दन वन में अमरों की स्त्रियों का सहवास प्राप्त करेंगे।

३. अमृत का पान करेंगे।

४. कामधेनु का दूध पीयेंगे।

५. गंधर्वों का नृत्य देखेंगे।

६. उर्वशी, मेनका, रम्भा, तिलोत्तमा तथा केशी के हाथों से मद्य-सेवन करेंगे।

परिशिष्ट—३

गृहीत सैनिक के प्रति उपचार

गृहीत सैनिक के प्रति अनेक प्रकार के उपचार प्रचलित थे। जो शत्रु शस्त्र त्यागकर आत्म-समर्पण करते थे, उनका राज्य वापस कर दिया जाता था और मित्र की भाँति वे बरते जाते थे। जरासंध के वध के पश्चात् पाण्डवों ने सहदेव को मगध-राज्य वापस दे दिया। विदेशी राज्य भी ऐसा ही व्यवहार करते थे। सिकन्दर ने पोरस का राज्य लौटाकर उनके प्रति मित्रवत् व्यवहार किया था।

छँटे हुए दुष्ट वीर सैनिक जब पकड़े जाते थे, तब उनके प्रति भयानक उपचार होता था। उनके केश, अर्द्धचन्द्र तीर से, पाँच जगहों से मूड़ लिये जाते थे। यत्र-तत्र केश छोड़ दिया जाता था। जन-संसद् या अन्य सभाओं में उन्हें घोषित करना पड़ता था कि वे दास हैं। वे जंजीर में बाँधे जाते थे। द्रौपदी के साथ शून्य वन में कदाचार करनेवाले जयद्रथ तथा कृष्ण के साथ युद्ध करनेवाले रुक्म को उपर्युक्त प्रकार के दंड दिये गये थे।

—महाभारत, वन-पर्व, २७२·१२

भार्याभिहर्त्ता वैरी यो यस्य राज्यहरो रिपुः।
याचमानोपि संग्रामे न मोक्तव्यः कथंचन॥

—भागवतपुराण, दशम स्कंध, अध्याय ५४

'राजतरंगिणी-युग में संग्राम-बन्दी शून्य-गृह में रखे जाते थे। उन्हें किसी प्रकार का समाचार नहीं मिलता था। —राजतरंगिणी, तरंग ८, २६७०

'राजतरंगिणी'-युग में गर्दन में पाग बाँध दिया जाता था और सिर पर जूते रख दिये जाते थे। इस प्रकार का अपमानजनक उपचार गृहीत सैनिक के प्रति किया जाता था।

—राजतरंगिणी, तरंग ८, २२७३

मुँह में तिनका लेना भी एक प्रकार का दण्ड था। अफगानिस्तान में यह दण्ड की प्रथा अभी तक प्रचलित है। —राजतरंगिणी, तरंग ८, २४३६

परिशिष्ट–४

रण-वाद्य

कोई भी बाजा हृदय को उत्तेजित कर देता है। बाजे का मनुष्य के साथ बड़ा घना संबंध है। किसी भी शुभ कर्म के अवसर पर आज भी हिन्दू जाति के घर पर बाजे बजते हैं। प्रातःकाल पक्षियों के कलकल स्वर कानों में प्रविष्ट होते ही मन को प्रसन्न कर देते हैं। कोयल की काकली, मयूर की केका तथा अन्य पक्षियों के मधुर निःस्वन से हृदय के सोये भाव भी जग उठते हैं। सिंह के गर्जन, व्याघ्र की हुंकार, मेघ की गंभीर ध्वनि से सभी के रोंगटे खड़े हो जाते हैं और वीरता के भाव उद्दीप्त हो जाते हैं। रणक्षेत्र में इसी कारण जुझाऊ बाजे का उपयोग होता है।

वीर आर्य-जाति ऋग्वैदिक युग से ही रणवाद्य का प्रयोग करती आ रही है—

अवस्वराति गर्गरो गोधा परिसनिष्वणत्।
पिंगा परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम्॥ —ऋग्०, मंडल ८, ५८, ६

जुझाऊ बाजा भयंकर रीति से घहरा रहा है। गोधा चारों ओर शब्द करता है। पिंगल-वर्ण की ज्या शब्द कर रही है।

राम-रावण युद्ध में रणवाद्य भेरी तथा शंख थे—

तेन शंख-विमिश्रेण भेरिशब्देन नादिना। —रामायण, लंका०, ३५ सर्ग

युद्ध के लिए सेना भेरी-निनाद तथा कोणाघात से सूचित की जाती थी—

शीघ्रं भेरी-निनादेन स्फुटं कोणाहतेन च।
समानयध्वं सैन्यानि वक्तव्यं च न कारणम्॥
ततश्चासन् महानादास्तूर्याणां च ततस्ततः।
मृदंगैः पटहैः शंखैः कलहैः सह रक्षसाम्॥ —रामा०, लंका, अ० ६६, ३५

मृदंग, पटह, कलह, कोणा आदि भी रण-वाद्य के रूप में प्रयुक्त होते थे। कोणाघात की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

ढक्का शत-सहस्राणि भेरी शतशतानि च।
एकदा यत्र हन्यन्ते कोणाघातः स उच्यते॥

एक ही समय सहस्रों ढाक और भेरी के बजाने से जो शब्द होता है, उसे 'कोणाघात' कहते हैं।

गीता के प्रथम अध्याय के अध्ययन से यह पता चलता है कि युद्ध प्रारंभ होने के पूर्व शंखध्वनि होती थी। शंखध्वनि के बाद अन्य रण-भेरियाँ बज उठती थीं। इनके बजते ही सशस्त्र सैनिक अपने-अपने झंडे के नीचे सन्नद्ध हो जाते थे।

महाभारत में अनेक रण-वाद्यों का उल्लेख मिलता है। उनमें झर्झर, पणवानक, गोमुख, भेरी, मृदंग, आडम्बर, क्षुद्र, पटह, दुन्दुभि, कोणाघात, पेश्य, द्वेड, क्रकच (जयमंगल) मुरज प्रभृति प्रमुख थे।

ये रण-वाद्य प्रशिक्षित अधिकारी के अधीन रखे जाते थे। शंख आधुनिक विसिल का काम करता था। शंख के अनेक भेद-उपभेद थे। इन सभी रण-वाद्यों के बजानेवाले सैनिक ही होते थे। राजतरंगिणी में काहला, कांस्यताल, तूर्य रण-वाद्य के रूप में उल्लिखित हैं।

—राजतरंगिणी, ८, २५६३

परिशिष्ट—५

शकुन

भारतीय योद्धा शुभ तथा अशुभ निमित्तों पर अधिक विश्वास करते थे। यात्रा के समय किसी वस्तु को बार-बार देखने पर यदि मनुष्य को सुन्दर फल मिलता है, तो वह वस्तु उसके फल प्राप्त करने का निमित्त या कारण उसकी दृष्टि में बन जाती है। ऐसे तो किसी भी कर्मफल की प्राप्ति के अनेक कारण होते हैं; पर यात्रा या कार्य के प्रारंभ में अनेक ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनके दर्शन-मात्र से दर्शकों को अनेक अवसरों पर सफलता मिली है। पुनः ऐसी भी चीजें हैं, जिनके देखने से असफलताएँ हाथ आई हैं। यात्रा के अनेक अवसरों पर जिन-जिन लोगों ने मछली देखी या जल-भरे कलश देखे, उन्हें कार्यों में सफलता मिली। अतः पर्यवेक्षण के आधार पर ऐसे लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला कि कार्य के आरंभ में मछली देखना, जल-भरे घड़े देखना, गर्भिणी स्त्री को देखना, धोये कपड़ों की गठरी के साथ धोबी को देखना शुभावह है। उसी प्रकार वीर सैनिकों को भी घोड़े, हाथियों अस्त्रों तथा अनेक निमित्तों के बार-बार पर्यवेक्षण से उनके शुभ और अशुभ रूपों का अनुभव हुआ था। युद्ध में विजय और हार का पता उन्हें प्रारंभ में ही निमित्तों को देखते ही लग जाता था। भारतीय वाङ्मय में इन निमित्तों के संबंध में बहुत कुछ देखने में आता है। आज तो पश्चिमी देशों में स्वप्न भी वैज्ञानिक अध्ययन का जबरदस्त विषय हो गया है। अतः मेरी दृष्टि में सांग्रामिक निमित्तों का विवरण मनोवैज्ञानिक तत्त्व ही नहीं रखता, वरन् बड़ा ही मनोरम प्रमाणित होगा।

— महाभारत, उद्योग पर्व, अ० १५१

रामायण, अरण्य काण्ड, सर्ग २३, तथा सर्ग ३५ और विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इन निमित्तों पर बड़ा विचार किया गया है। रणांगण में उपस्थित जिस दल के योद्धाओं का आयुध यदि चम-चम करते नजर न आवें, उनके घोड़े और हाथी रणक्षेत्र में पहुँचने पर भी उत्तेजित न हों, घोड़े बार-बार मूत्र और लीद का उत्सर्ग करें, युद्ध के बाजे से भयंकर निःस्वन न निकले या बजाई जाने पर भी रणभेरी से भयंकर ध्वनि न निकले, कौवे झंडे पर बैठ जायँ, तब समझना चाहिए कि उस दल पर ईश्वर का प्रकोप है। ये सभी अशुभ लक्षण समझे जाते हैं। इन लक्षणों को देखकर अनुभवी योद्धा भी हतोत्साह हो जाते हैं। गीध, बक, कंक, बाज तथा मधुमक्खियाँ यदि किसी दल के सैनिक का पीछा करें, तो भी परिणाम अशुभ ही होगा। सियार का प्रातः तथा संध्या समय चीत्कार भी अशुभावह है। यदि कोई योद्धा स्वप्न में

रक्त पाग बाँधे देखा जाय, तो उसकी मृत्यु ध्रुव है। जिन योद्धाओं के सिर पर श्वेत उष्णीष देखे जायँ, वे निश्चय जीवित रहेंगे। कृप, कृतवर्मा तथा अश्वत्थामा को छोड़कर कर्ण ने सभी कौरव वीरों के सिर पर लाल पगड़ियाँ देखी थीं और सभी मारे गये। ऊँट पर चढ़कर योद्धा को दक्षिण की ओर जाते देखना भी अशुभ है। —महा०, उद्योग-पर्व, अ० १५१

सेना-यात्रा के समय आकाश में धूसर वर्ण मेघ का छा जाना, रथ के घोड़े को अपने-आप गिर पड़ना, सूर्य के चारों ओर एक श्याम घेरा बन जाना, गीध का रथ की ध्वजा पर बैठना, मांसाहारी पक्षियों का भयंकर शब्द करना, गीदड़ का पूर्व दिशा में फेंकरना, कंक, गोमायु तथा गीध का रोने लगना, प्रचण्ड वायु का बहना, विना रात के जुगुनू का चमकना, उल्कापात होना, पृथ्वी का काँपना, योद्धा की वाम भुजा का स्पन्दन आदि प्राकृतिक उपद्रव हैं और वे हार की सूचना देते हैं। —रामायण, अरण्य, सर्ग २३

दक्षिण बाहु का बार-बार फड़कना, सैनिकों का मुख प्रसन्न दीखना, शस्त्रों का चम-चम करना, हाथी-घोड़ों का उत्तेजित होना आदि शुभलक्षण हैं। स्वप्न में पीले दाँतवाली स्त्रियों का गृह-स्थित वस्तुओं से हँस-हँस कर बातें करना, घरों की बलि-सामग्री को कुत्तों का खाना, लाल चरणवाले पीले कबूतर का गृह में घुसना, गृह में रहनेवाली सारिका का अन्य पक्षियों से लड़ाई में हार कर गिरना, मृग तथा पक्षी का सूरज की ओर मुँह कर रोना, दुर्निमित्त हैं। राक्षसों को ये देख पड़े थे। —रामायण, लंका, सर्ग ३५

शाल्व जब परशुराम से लड़ने जा रहे थे, तब उन्हें निम्नस्थ पराजय-सूचक दुर्निमित्त हुए थे। हृदय की धड़कन, वामबाहुनेत्र तथा पीठ का स्पन्दन, हाथी का बायें पाँव से दाहिने को चोट पहुँचना और बायें दाँत को सूँड़ से लपेटना, घोड़े का थोथुन से बायें पाँव का छूना, वृक, शृगाल, शार्दूल, बिडाल, गर्दभ, शशक का बाईं ओर से दाहिनी ओर जाना, वराह और हरिण का दाहिनी ओर से बाईं ओर जाना आदि। शकुन में विश्वास ऋग् वैदिक आर्यों को भी था। इसके अंकुर वहाँ भी देख पड़ते हैं। ऋग्, मंडल २, सूक्त ४२ तथा ४३ में कुछ ऐसे मंत्र हैं, जो प्रकृति के मंगल-विधायक रूप की ओर संकेत करते हैं—

सुमंगलश्च शकुने गवासि मा त्वा काचिदभिभा विश्व्या विदत्।
पित्र्या मनु प्रदिशं कनिकद्रत् सुमंगलो भद्रवादी वदेत्॥
अवक्रन्दो दक्षिणतो गृहाणां सुमंगलो भद्रवादी शकुन्ते।
मानः स्तेन ईशते माद्यशंसो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥

शकुनि! तुम कल्याणसूचक हो और दक्षिण दिशा में बार-बार शब्द करके और सुमंगलाशंसी होकर हमारे लिए प्रियवादी बनो। घर के दक्षिण ओर बोलो, जिससे चोर और दुष्ट हमारे ऊपर प्रभुत्व न करें।

घर के दक्षिण ओर पक्षी का बार-बार बोल शुभावह है। किसी अनिष्ट की संभावना नहीं होती। घर के बाईं ओर बोलने से चोरी होती है और आपदाएँ आती हैं। प्रकृति के एक रूप पक्षी की बोली का अध्ययन कर संभवतः ऋषि इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे। उपर्युक्त सभी विवरण भी प्रकृति-पर्यवेक्षण के परिणामस्वरूप हैं।

परिशिष्ट–६

जितवस्तु-विभाग

संग्राम में जो वस्तु, जीती जाती है, उसका विभाजन किस प्रकार होता था, इसका भी उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। ऋग्वैदिक युग में जीत में प्राप्त धन वीरों के सामने रखे जाते थे। संभवतः उनके बीच वितरित होते थे—

यदुदीरत आजेयो धृष्णवे धीयते धना। —ऋग्वेद

ऐतरेय ब्राह्मण ३. २१ में यह उल्लेख है कि वृत्र के निधन के पश्चात् देवों ने जय में लब्ध वस्तुओं का विभाजन किया था। इन्द्र को चुनी हुई वस्तुएँ दी गई थीं।

मनु लिखते हैं कि रथ, अश्व, हाथी, छत्र, धन, धान्य, पशु, स्त्री सभी द्रव्य और ताम्रादि धन जो जीतता था, उसी के हो जाते थे। इन वस्तुओं का ग्रहण राजा को नहीं करना चाहिए।

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत्॥ — मनु, अ० ७।९६

आगे चलकर मनु यह भी कहते हैं कि सैनिकों का कर्त्तव्य है कि संग्राम में जीत कर लाये हाथी, घोड़े रथादि अन्य पदार्थों को अपने राजा को समर्पित करें। जो वस्तुएँ सब सैनिकों ने एक साथ मिलकर जीती हों, उन्हें राजा उन्हीं लोगों के बीच बाँट दे।—मनु, अ० ७।९७

जयलब्ध वस्तुओं की हर प्रकार से रक्षा करनी चाहिए।

लब्ध-प्रशमन—जीते हुए देश की व्यवस्था या जीते हुए राज्य के निवासियों का प्रशमन किस प्रकार करना चाहिए, इस पर मनु का इस प्रकार कथन है—

विजयी राजा को चाहिए कि वह देव-मंदिर, धर्म तथा ब्राह्मण का समादर करे। जीते हुए देश के धर्म, पुरोहित, धर्मालय और धर्माधिकारी का निरादर न करे। अभय-दान की घोषणा करे। मंदिर के संचालन के लिए जमीन दे। पराजित राज्य को आश्वासन दे और क्षुब्ध भाव को उपशांत करे। यदि प्रजा न चाहे, तो उस राज्य को अपने राज्य में न मिला कर प्रजाओं की इच्छा के अनुसार उसी राज्य के वंश के व्यक्तियों को शासक बना दे। उस देश के आचार-व्यवहार और संस्कृति पर चोट न पहुँचावे। विजयी राजा बुद्धिमत्ता की नीति से जीते हुए राज्य के हृदय को वशीभूत कर सकता है। अधिक लाभ की आशा से अल्प क्षति का सहन बुद्धिमान् विजयी शासक का काम है। —मनु०, अ० ७, २०१–२०३

अनुक्रमणिका

क

ख

ग

क्ष

सहायक ग्रन्थों की सूची

१.	अथर्ववेद	(in four Volumes) S. P. Pandit, Bombay, 1895,1895—1898,1898
२.	"	(in two Vols.) Ralph T. H. Griffith. Banaras, 1894,1896.
३.	द्राह्यायणगृह्यसूत्र	with the commentary of रुद्रस्कन्द and Hindi Translation by T. U. Singha Muzaffarpur, 1934.
४.	जैमिनिगृह्यसूत्र	with Introduction and Translation into English by Dr. W. Caland. Lahore, 1922.
५.	खदिरगृह्यसूत्र	with the commentary of रुद्रस्कन्द Edited by Mahadeo Shastri and L. Shrinivasacharya. Mysore 1913
६.	तैत्तिरीयसंहिता	with सायणभाष्य (in nine Vols.) Poona, Saka 1822,22,23,23,23,25, 26,27,30.
७.	महाभारत	(in six Vols.) with commentary of नीलकण्ठ, Bombay, 1901.
८.	महाभारत	Edited by T.R. Krishnacharya and T. R. Vyasacharya, Kumbhakonam. Bombay, 1906.
९.	अग्निपुराण	वेङ्कटेश्वर प्रेस, Bombay
१०.	कालिकापुराण	" "
११.	वामनपुराण	" "
१२.	विष्णुधर्मोत्तरपुराण	" Sake 1834
१३.	विष्णुपुराण	"
१४.	विष्णुपुराण	वेङ्कटेश्वर प्रेस (in six Vols.) Translated into English by H. H. Wilson and Edited by Fitzedward Hall, London, 1864

१५. वाचस्पत्याभिधान — (in four Vols.) Calcutta 1873,73,79,81

१६ राजतरङ्गिणी — with an Introduction, Annotations, Appendices etc. by R. S. Pandit, Allahabad, 1935.

१७. शुक्रनीति — with notes by Mihirachandra Bombay, Sake 1829

१८. शुक्रनीति — Translated into English by Prof. V. K. Sarkar Allahabad (Panini Office), 1914.

१९ कामन्दकीयनीतिसार — with the commentary of जयमंगला of Sankaraya, Edited by T. Ganapati Shastri, Trivandrum, 1912.

२०. कौटिल्य-अर्थशास्त्र — Revised & Edited by R. Shastri, Mysore, 1919.

२१. कौटिल्य अर्थशास्त्र — Edited by Dr. J. Jolly and Dr. R. Schmidt (in two volumes) Lahore, 1923-24.

२२. Gupta Inscriptions — by John Faithful Fleet, Calcutta, 1888.

२३. पारस्करगृह्यसूत्र हरिहरभाष्य-सहित — Bombay, Samvat 1968.

२४. Encyclopaedia Britannica — (The University of Chicago), Year of publication—First recension 1768; Latest recension 1947.

परिषद्-प्रकाशनों पर कुछ सम्मतियाँ

थोड़े-से ही समय में 'परिषद्' ने आशातीत सफलता प्राप्त की है। विशेष महत्त्व की बात यह है कि परिषद् के उद्देश्य उसकी उदार वृत्ति और व्यापक दृष्टि के द्योतक हैं। इसके द्वारा हिन्दी-साहित्य सर्वाङ्गपूर्ण होगा और सच्चे साहित्य को प्रोत्साहन मिलता रहेगा।

—आचार्य नरेन्द्रदेव

◎

आपकी पुस्तकों को देखकर प्रसन्नता होती है और गर्व भी होता है। आप हिंदी के भांडार को सर्वाङ्गसंपन्न बनाने का काम जिस सफलता से कर रहे हैं, उसको देखकर यह विश्वास होता है कि शीघ्र ही हमारा वाङ्मय ऐसे स्तर पर पहुँच जायगा कि किसी को उसपर आक्षेप करने का साहस न हो सकेगा।

—डाक्टर सम्पूर्णानन्द

◎

परिषद् ने ग्रन्थ-प्रकाशन के जिस आयोजन का श्रीगणेश किया है, वह देश भर में निस्संदेह अनूठा है। देश की ज्ञानगरिमा और उच्च शिक्षा की आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए, यह ज्ञानदान की शास्त्रीय विवेचनात्मक परंपरा का—टोटे का—धंधा कोई अन्य प्रकाशक कर भी तो नहीं सकता। इन पुस्तकों के प्रकाशन से 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' एक विद्यापीठ बनती चली जा रही है। प्रभु करे, बिहार की ज्ञान-साधना तथा आपका सम्मिलित यज्ञ उत्तरोत्तर उन्नत, विस्तृत तथा सफल हो।

—('कर्मवीर'-संपादक) माखनलाल चतुर्वेदी

◎

आजकल कुछ विरोधियों के द्वारा यह बात कही जाती है कि हिंदी में ऊँचे साहित्य की न्यूनता है। ऐसी बातों का उत्तर हमें विवाद करके नहीं, विनय-पूर्वक ऐसे कार्य करके ही देना है, जैसा कार्य 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' कर रही है। ऐसे प्रकाशनों से कोई भी साहित्य गौरवान्वित हो सकता है।

—राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त

◎

हिंदी के प्रत्येक पुस्तकालय, शिक्षालय और अध्येता के पास परिषद् के प्रामाणिक, ठोस और उपयोगी सद्ग्रंथों का रहना अति आवश्यक है।

—मासिक 'नया समाज' (कलकत्ता)

◎

आशा है कि परिषद् अपने प्रकाशनों से भारतीय वाङ्मय की प्रतिष्ठा बढ़ायगी।

—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

परिषद् की ग्रंथ-निधि देखकर चित्त गद्गद हो गया।

—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

महत्त्वपूर्ण ग्रंथों को प्रकाशित करके परिषद् ने हिंदी के पाठकों और अनुसंधान-विद्यार्थियों के प्रति बड़ा उपकार किया है। इस समय हिंदी की जो सेवा 'परिषद्' से हो रही है, वह अद्वितीय और मुक्तकंठ से सराहनीय है।

—डा० त्रिलोकीनाथ दीक्षित

बिहार राष्ट्रभाषा की ठोस सेवा कर रहा है।

—पं० रामनरेश त्रिपाठी

'परिषद्' राष्ट्रभाषा की जो सेवा कर रही है, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए हर्ष होता है।

—डा० अमरनाथ झा

'परिषद्' निश्चय ही देश की एक प्रधान संस्था बनेगी और उसके द्वारा उपयोगी कार्य होंगे। जहाँ हिंदी की अन्य संस्थाएँ आपसी मतभेद से खिन्न हो रही हैं, वहाँ 'परिषद्' ने नया आदर्श और नया संदेश दिया है।

—डा० रामकुमार वर्मा

'परिषद्' के प्रकाशन अभूतपूर्व हैं। बिहार वर्तमान में राष्ट्रभारती की जो श्रीवृद्धि कर रहा है, वह औरों के लिए अनुकरणीय है।

—जैनाचार्य मुनि कान्तिसागर

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.